42

Ananda Varta

श्री श्री आनन्दमयी संघ

ॐ मा

मातृ शरणं

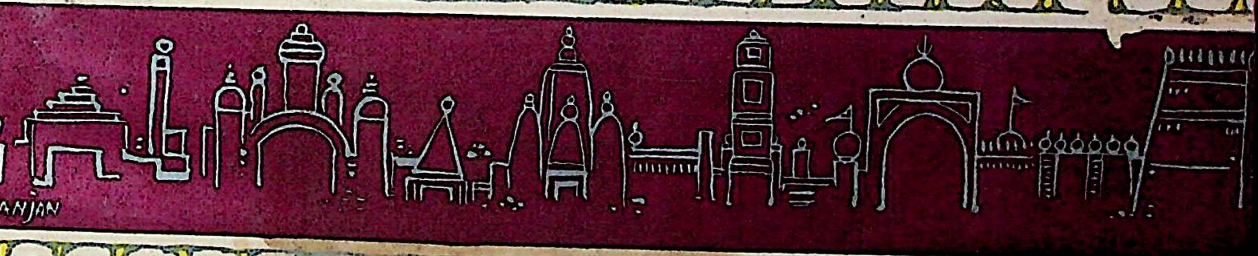

MOTHERS' BIRTHDAY NUMBER

MAY 1957

VOL. V. NO. 1

HINDI & ENGLISH

CONTENTS

HINDI SECTION

Page No.

1 मातृ-वाणी 1
2 श्री श्री मां की अमरवाणी—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज कृत व्याख्या सहित 3
3 हम कौन हूं—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज 8
4 मातृ-सतसङ्ग—श्री रघुनाथ दास गोस्वामी 26
5 मां को खोकर मा को पाया—गोपाल 33
6 अनुकम्पा धारा—श्री चरणकमलाश्रिता 40(a)
7 बनारस के एक डाक्टर के कुछ अनुभव 40(c)

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 41
2. Mataji's Amar Vani 45
3. From the life of Sri Sri Ma Anandamayee—Dr. Bithika Mukerji M. A. PH. D. 50
4. The Fundamental Principles of Buddhism—Shri Akshay Kumar Datta Gupta 54
5. Srijut Ramdas' Letter to Dr. Wenitrob 60
6. Mother Comes, Ever Comes—Sri Upendra Chandra Dutta 61
7. Christmas Poem for Dear Ma—Elwood Decker 66
8. Ananda Varta—Dr. Roma Chaudhuri 67
9. Mother Anandamayee—M. M. V. 71
10. Diary Leaves 73
11. Shri Mata—Miss Monika Schlatholter 77
12. Matri Lila 78
13. Notes & Comments .... 80 (d)

Price : Rs. 1/8/-
Annual subscription (for four issues) India Rs. 4/-, Foreign Rs. 5/-

---

Published by—Brahmachary Kamal Bhattacharjee
for Shree Shree Anandamayee Sangh, Banaras.
Printed by—Sri B. Dutta at the Eureka Printing Works Private Ltd., Banaras.

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा — अमरपन्थी स्वयम् — अपने आप

Vol. V BIRTHDAY NUMBER MAY—1957 No. 1

— मातृ-वाणी —

(विभिन्न लोगों के पत्रों के उत्तर में श्री श्री माँ ने जो उत्तर दिये हैं उनका संक्षिप्त संकलन)

(१३९)

मनुष्य कहे जाते हो। मन को हवस होनी चाहिये। धरती पर पछाड़ खाकर गिर पड़ने पर भी फिर उसी धरती के सहारे उठ कर खड़ा होना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है क्या? बार बार तो गिरा नहीं जाता। प्रयत्नशील होना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। मन में हवस नहीं हुई तो फिर हुआ क्या? मन की हवस हुए विना जीवन व्यर्थ है। व्यर्थ जीवन में कितने युग-युगान्तरों तक आना जाना लगा रहता है। मन में यह विचार आना चाहिये कि मैं कौन हूं? आना जाना क्या है? क्यों है और कहां है? अन्तर की अपनी यात्रा से व्यवधान हट जाता है। सैकड़ों विघ्न-बाधाओं को कुचल कर भी उस अमृत की ओर यात्रा करनी ही चाहिये। इस पुरुषकार की जागृति आवश्यक है। लकवे की तरह अवसन्न हो कर क्यों पड़े रहना। केवल मैं नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, ऐसी रट क्यों? क्यों? क्यों?

(१४०)

सब रूपों में वे (भगवान्) ही स्वयं हैं। यद्यपि उनके शरीर के लिए दुःख होता है, फिर भी उनके उद्देश्य से भगवान् को पुकारना चाहिये। भगवान् की दिशा मङ्गलमय है। पिताजी का इतना ही समय था। माताजी से कह दो कि संसार का यही रूप है। धैर्य का सहारा लेना ही होगा। भगवान् की इच्छा से ही थोड़ी वहुत सेवा कर वे आज भगवान् के विधान से भगवान् के पास चले गये हैं। शोक में अधीरता होना स्वाभाविक है। किन्तु शत्रु के समान प्रतीत होने पर भी वही प्रिय प्राण हैं। उनकी देन सहनी ही होगी। माँजी, छोटी बच्ची का अनुरोध यह है कि अधीरता के समय भगवान् को पुकार पुकार कर रोना चाहिये। वे ही सब के निकट भाई के रूप में, पतिके रूप में हैं। उनको पुकारने से शान्ति प्राप्त होती है।

(१४१)

वन्धु* के सुन्दर भावयुक्त आकार प्रकार से चिट्ठी भरी हुई है। वन्धु वन्धु के निकट सदा है। सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवत्कर्म-सम्पादन के लिए ही शरीर है। इसलिए शरीर, प्राण और मन द्वारा भगवान् को धरे रहने की सर्वदा चेष्टा करनी चाहिये।

(१४२)

इच्छामय की इच्छा पूर्ण होकर रहती है। उनकी इच्छा के साथ अपने को मिलाकर उनके अधीन होकर उसका अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिये।

---

* माँ छोटे बच्चों को 'वन्धु' कह कर पुकारती हैं।

(१४३)

स्पिरिट का आह्वान ठीक नहीं है। वहुधा अन्यान्य आत्माएँ आती हैं। साधारण लोग उन्हें पहिचान नहीं पाते। इससे हानि होती है। एक आदमी तो पागल हो गया ? माँ ने मना किया था फिर भी उसने किया था। जिसका आह्वान किया जाता है ठीक उसी को प्रकट करना साधारण लोगों के लिए कठिन है। इन सव ओर मन नहीं लगाना चाहिये। आत्मा के रूप में उमा स्वयं ही हैं। संसार ही सुखदुःखमय है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मा के रूप में वह मेरे निकट हैं—मुझमें हैं। सच वात तो यह है कि मन को लुभाना नहीं चाहिये। भगवान् के कार्यसम्पादन में उसकी गतागति है। सव रूपों में वे ही हैं।

(१४४)

आभ्यन्तर संन्यास ही तो संन्यास है। संन्यासी होना भी भाग्य की वात है, आनंद की वात है। क्या कभी मन में यह भाव आया कि अव समय हो गया है। सर्वत्याग, संन्यास यानी सर्वनाश। नाशभाव का भी नाश हो जाना।

(१४५)

यदि शांत भाव न आवे तो अङ्गों की विकलता नस-नस में हलचल मचा कर उन्हें अकर्मण्य वना देती है। शक्ति का धारण हुए विना शक्ति की सुन्दर क्रिया शांत रूप से प्रकट नहीं होती। परमार्थ रूप से सत्य की खोज का काम स्वभावतः शांत कर देता है। शक्ति-धारण आवश्यक है। यदि कीर्तन के समय ऐसा हो तो उस समय चुपचाप रहने की चेष्टा करें, एकासन से स्थिरतापूर्वक। विकार अनुकूल नहीं होता।

(१४६)

भगवत्-शक्ति का अनुभव, वह जिस तरह से इच्छा हो, कर सकता है। दीक्षा के हिसाव से इच्छा करे तो कर सकता है। उनका स्पर्श उस दिशा से भी वह पा सकता है। भगवद्भाव की शक्ति का ग्रहण जिस तरह से इच्छा हो किया जा सकता है। भगवद्भाव लेकर सदा उसमें संलग्न रहना, आनंद—आनंद की वात है।

(१४७)

इस जगत् का जो दिखाई देता है, यह भी स्वप्न है, फिर स्वप्न में जो देखा जाता है। दोनों में थोड़ा अंतर है—जाग्रत् और निद्रित। मैं तो मां के निकट ही रहती हूं।

(१४८)

स्वप्न में वहुत कुछ दिखाई देता है। मन में जिसका चिंतन होता है वह भी दिखाई देता है और मन में चिंतन न करने पर भी जो वीता है और जो होता है वह भी दिखाई देता है। सभी स्वप्न-राज्य का व्यापार तो है।

श्री श्री मां की अमरवाणी

(महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम. ए., डी-लिट्., कृत व्याख्या सहित)

इक्कीस

स्वयं ही—ग्रहण और त्याग का प्रश्न ही नह हैं ! क्या कभी जन्म हुआ था जो ग्रहण होगा या त्याग होगा ? जन्म ही नहीं हुआ। जिस दृष्टि से लो यह हुआ नहीं है यह जैसे सत्य है नामरूप छोड़ देना यह जैसे सत्य है, फिर नामरूप है अक्षर—जिसका क्षरण (नाश) नहीं होता (यह जैसे सत्य है)। मूल में किन्तु वही सत्य है। भूलस्वरूप जो है भूल की निवृत्ति भी वही है। फिर भूल के परिशोधन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जगह तो एक ही है। उसे लक्ष्य में रखकर ही भूल की भूल निवृत्त कर देनी चाहिये—समझने के लिए इस ढंग से बातें होती हैं।

सद्ग्रन्थ आदि से यदि वह व्यसन में परिणत न हो तो उस ओर आकर्षित होने में सहायता मिलती है। जव तक पढ़ने में अपने अन्तरात्मा के साथ अर्थात् स्वयं के साथ न मिलेगा तव तक नहीं होगा। इसलिए वीज को केवल हाथ में लेने से ही काम नहीं वनता, वृक्ष फल देखना—अर्थात् पूर्ण प्रकाश चाहिये। फिर, जहां प्रकाश अप्रकाश की वात नहीं है—देखना, होना, पहले से ही रहना भी है। किसी जगह थोड़ी देर के लिए जैसे एक झांकी दिखाई देती है, जैसे चिनगारी ऐसी एक अवस्था है। समझ में नहीं आता। फिर भी वह स्वरूप है न इसी लिए न जाने क्या है। स्थान तो अनन्त हैं न। दाहिका शक्ति तो पूर्ण एक ही है। किन्तु झांकी रूप जो विशेष प्रकाश है उसमें सम्पूर्णत्व कहां है ? जहां है वहां तो वही वात है।

वास्तविक जागरण का प्रश्न है। किन्तु जिसकी प्राप्ति के वाद फिर पाना वाकी नहीं रहता। जैसे प्राकृत जगत् दिखाई देता है वह अलग है—फिर अलग का प्रश्न तो नहीं ऐसी स्थिति भी तो है।

जो कुछ किया जाता है, मृत्युरूप से जो परिवर्तन होता है। वाद को छोड़ नहीं सकोगे। मृत्युरूप में तुम हो—चाहने के रूप में तुम हो, गतिरूप में तुम हो, स्थितिरूप में तुम हो, विशेषरूप में, निर्विशेषरूप में तुम्हीं हो। (फिर) अनन्त अन्तहीन हो।

प्राकृतरूप लेकर तुम्हीं विचर रहे हो।

जहाँ रहकर वात होती है—उसका मैं अपलाप नहीं करती। स्वयं ही स्वयं में हो। रूप में अरूप में एक हो। तुम्हारा जो चमत्कारी रूप है वह इस वर्तमान स्थितिमें रहने पर होगा नहीं। छत पीटने के समय एक नियम है। जो छत पीटते हैं छत पर वैठते हैं। इस प्रकार छत पीटनी चाहिए जैसे कि छत दव जाय। जिस काम में तुम्हारा अनुभव है (उपमा सर्वांगपूर्ण नहीं होती जितनी होती है समझ लेना) तुम यह मान वैठे हो कि यह तुम्हारा रूप है। ठीक है, परन्तु सम्पूर्णरूप अरूप कहां है ? इसलिए विचारपूर्वक देखो किसे पाना चाहिये। तुम्हारा जो सम्पूर्ण रूप है उसे अनुभव में लाना होगा। अनुभव में

लाने पर भी काम नहीं चलेगा। बोध अवोध के पार जाना होगा। जो है सो। प्रकाश चाहिये। इसलिए विचार करते हुए बार बार मन को समझाना होगा कि तुम्हारे जागरण के लिए ही इस तरह का सव कुछ जप, ध्यान आदि है। यात्रा में शिथिलता में मैं पैर न रक्खूं ऐसा न होना चाहिये अर्थात् चेष्टा करनी चाहिये। और क्या ? इसी लिए उसके भीतर सटकर रहने की चेष्टा करनी चाहिये। ओतप्रोतरूप से रहना होगा- अपने साथ हो स्वयं मिलकर रहना। अनुपायरूप से जैसे हाहाकार में हो उपाय रूप से भी तुम्हीं रहते हो उस प्रकाश के लिए तरोताजगी के साथ मस्तिष्क में विचार रखने की आवश्यकता है।

वृक्ष की जड़ में (पैर में) जल सींचना—यही पैर ही तो माथा है जिस मस्तक में तुम्हारे विचार बुद्धि सदा खेलती हैं। जप, ध्यान, पाठ इन सबको लेकर आगे बढ़ना चाहिये—फिर एक है बँधा होना अर्थात् वद्ध होना उसी ओर देखकर चलना चाहिये। वद्ध होकर बंधन अर्थात् गतिरोध जो करता है उसी दिशा को लक्ष्य में रखकर चलना चाहिए, अपनी ओर अपनी अवाध गति से चलना चाहिये। चाहे "तुम" लो चाहे "मैं" लो। तुम लो तो तुम्हीं तुम और मैं लो तो मैं ही मैं जिसे लो सिर्फ वही वह रहे। क्यों देखकर चलना ? दर्शन के रूप में तुम हो, क्यों रूपमें तुम हो, क्यों तुम्हीं हो जिस ओर जो प्रकाश या अप्रकाश है जो कुछ है वह तुम हो, 'मैं ही' है। ना हाँ के रूप में भी तुम्हीं हो-वही हैं। पूर्णांगीण रूप का प्रकाश होगा तुम में जहां अर्थात् जिस स्थान में स्वयं ही स्वयं में है—उसके लिए ही देखने और चलने की वात है। जहां सीमावद्ध देखते हो वहां भी सीमा भी असीम का ही प्रकाश है। उसकी मूल सत्ता तुम्हीं हो। वैसा प्रकाश न होने पर परिपूर्ण कहां है, पूर्ण, परिपूर्ण सम्पूर्ण जो भी कहो। पूर्ण अपूर्ण का प्रश्न वहां फिर कहाँ ?

व्याख्या

१—स्वयं ही—

मनुष्य कालराज्य में सदा और सर्वत्र एक परिवर्तन का अनुभव करता है। कालराज्य कहने से माया-जगत् समझना चाहिये। किन्तु मायातीत और कालातीत जो निष्क्रिय सत्ता है वहाँ परिवर्तन अथवा परिणाम बिलकुल ही नहीं है। एक स्वभावतः परिणामशील है और दूसरा स्वभाव से ही अपरिणामी है। दार्शनिक विचार से इन दोनों परस्पर विरुद्ध सत्ताओं का समन्वय अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। किन्तु इस समन्वय के ऊपर ही पूर्ण सत्य का स्वरूपज्ञान निर्भर है। विचार-क्षेत्र में कोई निष्क्रिय अक्षर सत्ता की प्रधानता स्वीकार करते हैं एवं दूसरे कोई, विशेषतः आधुनिक वैज्ञानिक, क्रियात्मक क्षर सत्ता का प्राधान्य स्वीकार करते हैं। कुछ लोग अक्षरसत्ता को ही 'सत्य' मानते हैं एवं परिणाम या विवर्त को माया का खेल अथवा भ्रम मानते हैं। दूसरे पक्ष में कोई कोई लोग इस परिणाम को ही एक-

मात्र 'सत्य' मानते हैं एवं अपरिणामी अथवा कूटस्थ सत्ता का अस्तित्व ही नहीं मानते। वर्तमान विज्ञान के समान प्राचीन बौद्धसम्प्रदाय का दृष्टिकोण कई अंशों में इसी तरह का है। किन्तु वास्तविक पक्ष में ये दोनों ही दृष्टियां परस्पर सापेक्ष होने से पूर्ण सत्य का निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं। और एक बात है। वह यह कि एक सत्य ही यदि एकमात्र सत्य होता—वह चाहे कोई भी क्यों न हो—तो दूसरी ओर के सत्य का आभास तक ज्ञानगोचर होने की संभावना नहीं रहती। अविद्या की दुहाई देकर समन्वय की चेष्टा दोनों ही पक्षों में हो सकती है। किन्तु वास्तव में यथार्थ समन्वय का मार्ग इससे खुलता नहीं है, इसलिए क्षर और अक्षर के सन्धिस्थल में पूर्ण सत्य की स्थापना करना आवश्यक है। ीता में भी पुरुष और अक्षर पुरुष के परे परम पुरुष या पुरुषोत्तम के नाम से तृतीय पुरुष को स्वीकार करने का यही कारण है। क्षर और अक्षर इन दोनों के अतीत और दोनों के स्वभावात्मक एक परम वस्तु का ता लगाये बिना हम लोगों को सत्यान्वेषण में सफलता ाप्त नहीं हो सकती।

यह जो क्षर-अक्षर के अतीत पर क्षराक्षरमय पूर्ण स्तु है यही स्वयं आत्मा है। मां ने अनेक प्रसङ्गों में सी स्वयं स्व या आत्मस्वरूप का वर्णन किया है। इस संग में भी 'निज' शब्द द्वारा उस स्वयंप्रकाश आत्मा ी ओर ही उन्होंने इंगित किया है। इसका अगर ाम द्वारा निर्देश करना हो तो जिस किसी नाम से र्देश किया जा सकता है, उससे कुछ होने जाने का हीं। क्योंकि यह अन्यनिरपेक्ष स्वतन्त्र है। ब्रह्म, आत्मा ईश्वर, भगवान् जिस किसी नाम का क्यों न व्यवहार या जाय मूल में सभी नाम इस स्वयंप्रकाश परम स्तु को ही लक्ष्य करते हैं। इस वस्तु का जन्म नहीं है, इसलिए इसकी मृत्यु भी नहीं है। इस वस्तु की अनवच्छिन्न प्रकाशमानता कभी खण्डित नहीं होती। इसी लिए स्वरूप में वस्तु की भूल कभी नहीं होती। अतएव जहाँ भूल नहीं होती वहाँ भूल निवृत्त करने का भी अवसर कहाँ! और जिसे भूल कहा जाता है उसकी भी सत्ता न हो सो बात नहीं है। एवं वह सत्ता यदि स्वीकार्य हो तो भूलनिवृत्तिसत्ता भी अस्वीकार्य नहीं हो सकती। फिर यह भूल होना और इस भूल की निवृत्ति दोनों परस्पर विरुद्ध होने पर भी अखण्ड प्रकाश में नित्य प्रकाशमान है। खण्डभाव में जिस किसी दृष्टिकोण से चाहे जिस किसी भाव की दर्शनप्राप्ति हो एवं ये सब दर्शन परस्पर जितने ही विरुद्ध हों भूल में तो सब उस महाप्रकाश से भिन्न कुछ नहीं हैं। व्यावहारिक भूमि में यह समझाना अत्यन्त कठिन है। समझना भी कठिन है, क्योंकि दोनों ही बुद्धि के व्यापार हैं। किन्तु परमार्थ सत्य बुद्धि के अतीत है। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि बुद्धि तथा बुद्धिस्थित प्रतिबिम्ब उस परमार्थ प्रकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

२—*झांकी दर्शन*—

ऐसा एक स्थान है जिसमें प्रकाश और अप्रकाश के बीच कोई विरोध नहीं है, यहाँ तक कि विरोध का प्रश्न भी नहीं हो सकता। वस्तुतः जागतिक दृष्टि से यदि कहा जाय तो वही वास्तविक प्रकाश है। क्योंकि प्रकाश के प्रतियोगी के रूप में यदि अप्रकाश रहता है तो ऐसी स्थिति में उस प्रकाश को अखण्ड प्रकाश कहना नहीं बनता। इसलिए वास्तविक प्रकाश जब फूट उठता है तब फिर उसका अप्रकाश होने की संभावना नहीं रहती, एवं उस संभावना के न रहने के कारण वह प्रकाश अखण्ड प्रकाशरूपी है उसे तब फिर परम प्रकाशरूप

में पहिचाना नहीं जा सकता। जिसे झांकी दर्शन कहा जाता है, वह क्रम के विना एक मुहूर्त में प्रकाश के रूप में फूट उठता है। किन्तु विजली की कौंध के समान दूसरे ही क्षण में वह विलीन हो जाता है। जब प्रकाश खुलता है तब वह पूर्ण प्रकाश ही प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में वह पूर्ण नहीं है। उस प्रकाश की सत्ता में प्रकाश के समय भी गुप्तरूप से अप्रकाश घुसा रहता है। यदि न रहता तो दूसरे क्षण में वह प्रकाश अप्रकाश के रूप में कैसे परिणत होता? वह चिरस्थायी क्यों नहीं होता। अप्रकाश के बीज प्रकाश में रहते हैं, इसीलिए प्रकाश के अन्त में अप्रकाश का आविर्भाव होता है। इसी को माँ ने स्फुलिंग कहकर अस्थायी झाँकी दर्शन के नाम से वर्णन किया है। किन्तु इसके सिवा जो वास्तविक प्रकाश है वही पूर्ण है। इस खण्ड प्रकाश में अखण्ड प्रकाश की महिमा पाई नहीं जा सकती। पर इसका भी एक स्थान है। दाहिका शक्ति पूर्ण होने पर भी उसके प्रभाव से सब अप्रकाश सदा के लिए जल जाते हैं। वे बीज रूप से प्रकाश में रहकर भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करते। इसी लिए मां ने कहा है, "स्थान तो अनन्त हैं न। दाहिका शक्ति भी पूर्ण है, किन्तु झाँकी रूप विशेष प्रकार के स्फुलिंग में पूर्णता कहाँ? जहाँ है भी वहाँ नहीं है।"

३—प्राकृत और अप्राकृत—

विचार की एक अवस्था में प्राकृत से अप्राकृत को पृथक् करके दिखाने की चेष्टा की जाती है। इस दृष्टि में प्राकृत अलग है एवं अप्राकृत अलग है। किन्तु प्राकृत से अप्राकृत में प्रविष्ट होने पर प्राकृत न रहकर भी रहता है, प्राकृत केवल दब जाता है। किन्तु प्राकृत का रूपान्तर अथवा लोप नहीं होता। किन्तु ऐसी भी स्थिति है जहाँ प्राकृत और तथाकथित अप्राकृत दो
को एक ही दृष्टि से एक ही प्रकार देखा जाता है। इ
सिद्ध हुआ कि प्राकृत अप्राकृत विभाग पूर्ण सत्य
दृष्टि के अनुसार नहीं है।

४—कर्तव्यनिर्देश—

मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक स्थि
को अपना रूप मान बैठता है। किन्तु उसका यह
पूर्णरूप नहीं है। क्योंकि पूर्णरूप में रूप-अरूप
परस्पर विरोध मिट जाता है। रूप और अरूप एक
वस्तु हैं यह अनुभव में न आने पर सम्पूर्ण रूप अनुभ
विषय नहीं हो सकता। पहले खण्डरूप से सम्पूर्ण
की उपलब्धि आवश्यक है। इस उपलब्धि में रूप-अ
का चिर समन्वय हो जाता है। इसके अनन्तर के
संपूर्ण रूप के बोध में स्थिति ग्रहण करना चले
नहीं। क्योंकि यह भी परम स्थिति नहीं है। बोध
अबोध के अतीत जो स्थिति है वही प्राप्त होनी चाहि
अतएव पूर्ण बोध प्राप्त करके ही बोध में विश्राम
का अवसर कहाँ? क्योंकि बोध के रहने पर ही उस
आवृत कर अबोध रहेगा। क्योंकि बोध और अ
परस्पर सापेक्ष सत्ता है। इसलिए बोधप्राप्ति के अन
ऐसी एक स्थिति प्राप्त होना आवश्यक है जहाँ
और अबोध का द्वन्द्व सदा के लिए मिट जाता
यही यथार्थ प्रकाश की महिमा है—केवल बोध
प्रकाश ही मुख्य प्रकाश नहीं है।

५—दर्शन का कौशल—

माँ कहती हैं, एकमात्र स्वयं ही सदा सर्वत्र वि
मान है। दूसरा न कोई है, न था और न रहेगा
एवं यह एकमात्र वस्तु 'तुम' है अथवा यही 'मैं'

क्योंकि यहाँ पर तुम और मैं एक ही वस्तु हैं। इसलिए यथार्थ दृष्टि वही है जो सर्वदा इस एक का निरीक्षण करती है। यहाँ तक कि जब परिधि या सीमा का दर्शन होता है तब यह सीमाबद्ध दर्शन भी असीम के दर्शन के रूप में गृहीत होता है, क्योंकि जो कुछ भी जहाँ प्रकाशमान है सभी तो उस अनन्त का ही प्रकाश है। इसलिए सीमा के रूप में खण्ड के रूप में जो प्रकाश है वह भी उस अखण्ड प्रकाश का ही अङ्ग है। यही दृष्टि समीचीन दृष्टि है,—वास्तव में खण्ड कुछ भी नहीं है।—

मैं कौन हूं

मनुष्य-जीवन की अभिव्यक्ति और परम आदर्श

महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम॰ ए॰, डी-लिट्॰

एक

विचारशील मनुष्यों के जीवन में ही अन्तर्दृष्टि के उन्मेष की पृष्ठभूमिका रूप में अपने को जानने के लिए आकांक्षा जागृत होती है। मैं कौन हूँ ? मैं कहां से आया हूँ और कहां जाऊँगा ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस दृश्यमान प्रपञ्च के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है ? ये सब प्रश्न उस मूल आकांक्षा के ही अन्तर्गत हैं। यहीं आत्म-जिज्ञासा है एवं इसी के समाधान के ऊपर मनुष्य के जीवन की सार्थकता निर्भर है। स्त्री, पुरुष, धनी, दरिद्र, बुद्धिमान्, अज्ञानी समान रूप से सब के मन में इस सरल होने पर भी गंभीर प्रश्न का उदय होता है—मैं कौन हूँ—'कोऽहम्' ? देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि मैं नहीं हूँ यह विश्वास अनेकों को है। किन्तु मैं वास्तव में क्या हूं यह धारणा अनेकों को नहीं है। इसी लिए देह आदि से पृथक् रूप में अपने को जानने पर भी उसी को अपना यथार्थ परिचय मान लेना नहीं बनता।

गुणी ज्ञानी के मुख से सुना जाता है कि मैं ही वह हूँ, 'सोऽहम्',। यही मेरा यथार्थ परिचय है। किन्तु फिर प्रश्न उठता है, वही कौन है ? उसी का क्या स्वरूप है ? उसे पहचानने का क्या उपाय है ? उसको पहचानना ही क्या अपने को पहचानना है ? उसको पाना ही क्या अपने को पाना है ? क्या पराया कभी निज होता है ?

तब क्या समझना होगा कि स्वयं दूसरा हुआ है, इसी लिए फिर उसे निज कर लेना होगा ? वास्तव में जो निज है वह पर क्यों होता है ? इसके मूल में क्या भ्रम है ? यह लीलामात्र है अथवा स्वभाव की प्रेरणा है ? अथवा इसका ऐसा कोई हेतु है जिसे जानने का उ नहीं है, जिसे वास्तव में 'हेतु' भी नहीं कहा जा सकत

किन्तु मूल में निज पर ही कहां हैं ? वहाँ बहुत हैं, दो नहीं हैं, युगल नहीं हैं, एकमात्र स्वयं या आ स्वरूप नित्य विद्यमान है। वह रूप होकर भी अरूप अरूप होकर भी रूप है। वही एकमेवाद्वितीयम्—एकमात्र है। किन्तु 'एक' ऐसा बोध वहां नहीं है। चरम और परम सत्य है। वहां द्वैत नहीं है, अद्वैत भी है, सत्, असत् आदि कोई भी विकल्प नहीं है। विश्वातीत, अथच विश्वात्मक, एक साथ दोनों अ दोनों से रहित है। वही सब है, उसी में सब है, अ उसमें कुछ नहीं है। फिर कुछ न रहने पर भी सभी यह निगूढ़तम अव्यक्त स्थिति योगियों के समाज में साम्यरूप में, ज्ञानियों के समाज में पूर्ण ब्रह्मरू तथा रसिकमण्डल में रसरूप में वर्णित है। यही र दानन्द की स्वरूपस्थिति और स्वरूपलीला दोनों ही

दो

इस महासत्ता में सहसा एक स्पन्द-सा उठता किन्तु इस स्पन्दन का उदय होने पर भी महासत् निःस्पन्दता ज्यों की त्यों ही रहती है। यह स्पन्दन एक ही बार उठता है, अथवा निरन्तर उठता है मनुष्यों की सीमाबद्ध भाषा द्वारा निर्देश करना कठि वास्तव में यह एक बार ही उठता है यह जैसे सत्य निरन्तर उठता है यह भी वैसे ही सत्य है। सामान्यरूप से जो एक है, विशेषरूप से वह ना काल की तरङ्गों में विविध प्रकार का दर्शन होना

विक है, किन्तु काल के ऊपर महाकाल के वक्षःस्थल में नाना स्पन्दन दिखाई नहीं देते--महाकाल का एक ही स्पन्दन काल के राज्य में अनन्त स्पन्दनों के रूप में फूट उठता है। यह निःस्पन्द-स्पन्दरूप युगल-अवस्था ही विश्वातीत स्थिति है। इसके भी जो अतीत अवस्था है वही चरम परम अवस्था है। यह अतीत की अतीत सत्ता यद्यपि निर्विकल्प अद्वैतस्थितिरूप से स्वीकृत है, फिर भी इसका उस रूप से निर्देश करना नहीं बनता। कुछ लोग इसका पूर्ण ब्रह्म की स्वरूप-स्थिति अथवा आनन्दमयी निष्ठा के रूप में उल्लेख करते हैं।

यह स्पन्द का उदय वास्तव में प्रणव का ही उल्लास है, अर्थात् परब्रह्म-सत्ता में शब्दब्रह्म का आविर्भाव है। वस्तुतः यह विशुद्ध सत्त्वमय महामाया का उन्मेष है, जिसके प्रभाव से परब्रह्म के स्वरूप का सन्धान, ज्ञान और साक्षात्कार होता है। एक तरह से यह नित्य-सिद्ध अवस्था है, पर बुद्धिक्षेत्र में यह चरम-परम दशा के परक्षणवर्ती के रूप में प्रतिभासमान होती है। चरम स्थिति स्वयंप्रकाश बोधरूप है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसमें अस्तिविश्लेषणरूपी स्व-स्वरूप का अवधान या अनवधान कुछ भी नहीं रहता। वह इतर-निरपेक्ष स्व-स्वरूप में स्वतन्त्र स्थिति है। वह 'केवल' ब्रह्मभावमात्र है। किन्तु महामाया की दशा या माया की दशा 'शबल' ब्रह्मभाव के रूप में वर्णनीय है।

पूर्णानन्दमयी निष्ठा या स्वरूप में स्थिति चित् और सत् की अविभक्त प्रतिष्ठा है। किन्तु महामाया और माया की स्थिति में चित् से सत् का और सत् से चित् का विभाग-सा होता है। सच्चिदानन्दमय पूर्ण अद्वय स्थिति के ऊपर स्पन्दन के उदय या प्रणव के प्रकाश से एक ओर चित् और दूसरी ओर सत् दोनों मानो अनादि सिद्धरूप से ही फूट उठते हैं। यही विरुद्ध भाव के पहले-पहल स्फुरण की पृष्ठभूमि है। चित् की ओर सदा जाग्रद्भाव और सत् की ओर एक तरह की सदा सुषुप्ति का भाव विद्यमान रहता है। अविभक्त स्वरूप मात्रातीत, गुणातीत और निःस्पन्द है। किन्तु विभक्त ऐसे सत्-चित् स्वरूप की एक ओर (चित् की ओर) बाहरी भाग में विशुद्ध सत्त्वमय शुद्धा प्रकृति और दूसरी ओर (सत् की ओर) त्रिगुणमयी मलिन प्रकृति या माया स्थित है, यह जानना होगा। मात्रातीत के ऊपर भाव एक प्रकार का आवरण-सा है। चाहे वह स्वच्छ ज्ञानमय आलोक का आवरण हो अथवा चाहे गाढ़ अज्ञानरूप अन्धकार का आवरण हो, दोनों ही मात्रातीत नग्न-स्वरूप के स्वेच्छा से गृहीत आवरण हैं, यह मानना ही होगा। इसके मूल में रहता है प्रणव का उन्मेष। अवधूत-मत में महामाया प्रणवपुरुष की अर्द्धमात्रा है और माया उसकी तृतीय मात्रा या 'मकार' है। जल जमकर हिम-शिला बन जाता है एवं वह हिमशिला जल पर ही भासती है और जल को आवृत करती है। वस्तुतः जल का स्वरूप आवृत नहीं होता, हो भी नहीं सकता। अथच एक आवरण का तथा आवरणभङ्ग का अभिनय भी हो जाता है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिनय जो करते हैं, वे ही फिर साक्षी बनकर निर्लिप्तरूप से अभिनय देखते हैं। अथच अभिनय करते भी नहीं और देखते भी नहीं। दूसरे पक्ष में वह अभिनय देख कर साक्षिभाव को खो डालते हैं और आत्मविस्मृत-से और मुग्ध-से होकर तथा कर्त्ता का स्वांग बना कर सुखदुःखरूप सांसारिकता का वहन करते हैं। सब कुछ एक साथ।

यह जो विशुद्ध सत्त्व की बात हमने कही है, वह परब्रह्म की स्वाभिन्न परा शक्ति के प्रथम उन्मेष का

क परिणाम है, जो परब्रह्म के महाकारण या हामाया शरीर के उपादान और उनके स्वरूप के ानरूप से प्रसिद्ध स्वरूप का नित्यसिद्ध प्रकाश होकर ी उसका आवरणमात्र है। वस्तुतः स्वयंप्रकाश स्वरूप इसकी भी अपेक्षा नहीं करता। महामाया-शरीर प्रणव के बीजपदवाच्य और पर नाद द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त और नित्यशुद्ध अवस्था की दिशा है। और एक दूसरी दिशा की बात भी कही गई है, जहाँ स्व-स्वरूप का बोध ही नहीं रहता, यह भी साथ ही साथ है। किन्तु बुद्धिक्षेत्र में इसे शुद्ध सत्त्व की परवर्ती मानकर क्रम में गणना की जाती है। वास्तव में दोनों ही स्थितियां एक साथ सिद्ध और क्रमहीन हैं। परब्रह्म अपने को स्वयं जानते हैं यह अनादि सिद्ध है, अपने को नहीं जानते हैं यह भी अनादिसिद्ध है। पर बुद्धि के प्रतिभास से दोनों में एक कल्पित क्रम मान लिया जाता है। ज्ञान और अज्ञान से अतीत सत्ता के ऊपर ज्ञान और अज्ञान की ये दोनों अवस्थाएँ आरोपित हैं, यह भी सत्य है।

'अहं ब्रह्मास्मि' या 'ब्रह्मैवाहम्' यह ज्ञान ही परमेश्वर का अपने स्वरूप का ज्ञान या महामाया है। जिस स्थिति में इस ज्ञान का तिरोधान होता है, उसमें स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र का प्रकाश रहता है, जो तत्त्वातीत परम तत्त्व है। जिस स्थिति में इस ज्ञानका भी तिरोधान होता है और स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र भी भासता नहीं, वह अज्ञान अथवा माया है। वह प्रलयरूप स्थिति है।

शरीर रहने पर ही अभिमान रहता है। चरम-परम अवस्था के सिवा सभी अवस्थाओं में शरीर रहता है तथा उसका अभिमानी पुरुष भी रहता है। महाकारण और महामाया शरीर के अभिमानी परब्रह्म की ईश्वर या सदाशिव मूर्ति है। उसी प्रकार उनके कारणरूप मायाशरीर की अभिमानी उनकी रुद्रमूर्ति है।

तीन

प्रश्न हो सकता है कि भावातीत स्थिति से आदि-भावमय और महाभावस्वरूपभूत महामाया का या विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव किस तरह होता है? यह अत्यन्त गंभीर प्रश्न है। मानव-बुद्धि इसका युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे सकती, इसलिए परब्रह्म की नित्य ज्ञानमय बुद्ध-अवस्था और नित्य अज्ञानमय जड़-अवस्था अर्थात् उनका अनादि जागरण और अनादि निद्रा दोनों को नित्यरूप मान लेना पड़ता है। महामाया और माया के क्षोभ के परे प्रवाह-नित्य-अवस्था भी नित्य मानी गई है, यद्यपि इन दोनों नित्यताओं में अन्तर दिखलाई देता है। चरम-परम स्थिति क्षोभ से अतीत स्पन्दातीत होने से नित्य और अनित्य दोनों से अतीत है। किन्तु वास्तव में रहस्यज्ञाता योगी जानते हैं कि पर्दे के भीतर महाशक्ति की निर्माणशाला में स्पन्दन का खेल नित्य चलने के कारण रचना का कार्य सदा गुप्त रूप से चल रहा है। वस्तुतः प्रणव की अर्द्धमात्रा ही कहाँ से आई? श्रुति और महात्माओं के वचनों से ज्ञात होता है कि प्रणव का ऐसा एक स्वरूप है जिसमें मात्रा न रहने पर भी ('अमात्र' होने पर भी) अनन्त मात्राएँ हैं और अनन्त मात्रा ('अनन्त मात्र') होने पर भी मात्रा नहीं है। दोनों ही पूर्ववर्णित भावातीत के अन्तर्गत हैं। किन्तु सृष्टि-संकल्प के समय जिस परमपुरुष का उत्थान होता है उसमें 'एक'-भाव की स्फूर्ति होकर उसीसे नाना भावों का विस्तार होता है। इस 'एक' भाव के स्फुरण की पृष्ठभूमि में शुद्ध मनोमय सत्ता में खण्ड खण्ड अनन्त भावों का आभास जाग जाता है। यह योगमाया-राज्य का व्यापार है।

अवयवों की समष्टि से जैसे अवयवी सिद्ध होता है, वैसे ही अवयवी का स्वरूप स्वतःसिद्धरूप में भी स्वीकार करना चाहिये। द्रव्य गुणों की समष्टिमात्र है अथवा गुणों से अतिरिक्त है, शिव शक्ति का संघातरूप है अथवा शक्ति से भिन्न है, प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्थामात्र है अथवा उनसे विलक्षण है; इन सब विषयों में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार सत्य के विभिन्न रूप समान रूप से प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं है। प्रस्थानभेद से सभी मत उपादेय हैं।

अतीत अवस्था से जब 'एक' का आविर्भाव होता है, तब क्षणमात्र में ही होता है और अखण्डभाव से ही होता है, उसमें क्रम नहीं रहता। सब समष्टियां एक साथ प्रकट होती हैं। यह नित्यसिद्ध परमात्मा की अवस्था है। किन्तु बीच का रहस्यजाल काट सकने पर जो दिखाई देता है, उससे वैज्ञानिक स्तब्ध हो पड़ते हैं। इसी लिए "आश्चर्यवत् पश्यति" कहकर विस्मय प्रकट किया गया है। एक में जो अनन्त का खेल चल रहा है वह यदि दिखाई दे तो चकित हुए बिना रहने का कोई उपाय नहीं है। एकमात्रा ही एकाग्र मन की मात्रा है; जिसके ऊपर सृष्टि का सामूहिक ज्ञान अथवा विश्व प्रतिष्ठित है। एक का भंग हो जाने पर ही सर्वप्रथम दो भागों का पता चलता है। ये दो भाग ही गुण-प्रधान-भाव से रहित साम्य में स्थित होकर अद्वयरूप में या एकरूप में अपने को प्रकट करते हैं। भंग होने के समय 'एक' पहले दो रूपोंमें विभक्त होता है। इसलिए एकमात्रा से अर्धमात्रा में उन्नयन होता है। एक में दो अर्द्धमात्राएं प्रकट होती हैं। उनमें एक मात्रा 'एक' की ओर सम्बद्ध होकर 'एक' में प्रतिष्ठित समूची सृष्टि के साथ शाक्तराज्यी का सम्बन्ध अक्षुण्ण रखती है, दूसरी क्रमशः पहले के तरह अर्धमात्रा के क्रम से विभक्त होते-होते अनन्त की ओर दौड़ती है। अर्थात् अर्द्धमात्रा के दो भागों में विभक्त होने पर उससे भी फिर अर्द्धमात्रा उत्पन्न होती है। यहाँ भी उसकी एक अर्द्धमात्रा पहली अर्द्धमात्रा की ओर सम्बद्ध होती है और दूसरी अर्द्धमात्रा अर्थात् आदि दृष्टि-सम्मत एक चतुर्थांश मात्रा अनन्त की ओर धावित होती है। ये सब मात्राएँ मन की ही मात्राएँ हैं। अतएव एकमात्र मन से अर्द्धमात्र मन सूक्ष्म है। उससे एक-चतुर्थांश मन और भी सूक्ष्म है। इस तरह मन क्रमशः पिस कर चूर्णाकार को धारण करता है, यह ज्ञात होता है। इस विभाग या विश्लेषण क्रम में कहीं भी विश्राम का स्थान नहीं है। व्यवहार के अनुरोध से विश्रान्ति माननी पड़ती है।* योगी लोगों ने भी उसी तरह मन के विश्लेषण का व्यवहारसम्मत एक अभाव स्थान माना है। वह ५१२ मात्रा है। युक्ति द्वारा इसका भी विभाग किया जा सकता है। किन्तु परिमित शक्तिवाले योगियों को भी, चाहे वे कितने ही ऐश्वर्यबलसम्पन्न क्यों न हों, कहीं न कहीं विश्राम लेना पड़ता है। अमित-शक्ति के अधिकार में स्थिति होने पर यह अवधि होगी १ / अनन्त मात्रा। यही परब्रह्म से अभिन्न महाशक्ति की मात्रा है। महायोगी लोग इसीको ब्रह्म का अणु कहकर परमाणु के रूप में निर्देश करते हैं।

---

* जैसे वैशेषिक आचार्य अनित्य द्रव्यों की विभागकल्पना कर उसकी एक अवधि स्वीकार कर उसे परमाणु कहते हैं। किन्तु बौद्ध आदि दार्शनिक इस प्रकार की अवधि स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः वैशेषिकसम्मत परमाणु भी संघातमात्र है यह योगभाष्यकार व्यासदेव ने भी स्पष्टरूप से स्वीकार किया है। अयुतसिद्ध अवयव संघात ही परमाणु हैं, यही उनका मत है। वस्तुतः इस अवयव की भी विभाज्यता है। वास्तविक परमाणु वही है जो सचमुच अविभाज्य है। वही ब्रह्माणु या आगमशास्त्र की कला है।

विज्ञानदृष्टि से जो एकाग्रचित्त से बोध की ओर अभिमुख गति का विश्लेषण कर सकते हैं, वे पूर्वोक्त आलोचना की सारवत्ता समझ सकेंगे। अनन्त मात्राओं को इकट्ठा कर एक मात्रा में परिणत करना जीव के लिए संभव नहीं है। महामाया के अनुग्रह के बिना यह साधक अथवा योगी के व्यक्तिगत पुरुषार्थ से साध्य कार्य नहीं है। एक को प्राप्त करना ही होगा। अथवा अर्धमात्रा को तोड़कर शून्य में परिणत करना ही होगा। किन्तु यह मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसलिए महाकरुणा का आश्रय अवश्य करना चाहिये। अतः ५ १/२ मात्रा जो शेष रहती है, उसे नष्ट करने का व्यर्थ प्रयास न कर पूर्णतः कृत्स्नभाव में अर्पण करना चाहिये। उसी से समना-अवस्था से उन्मना-भूमि में प्रवेश हो सकता है; अन्यथा नहीं। मन के द्वारा ही मन से अतीत भूमिलाभ संभव है।

जिसका हम पूर्व में महामाया के नाम से उल्लेख कर आये हैं, उसीका एक दूसरा पहलू योग-माया है। इस योगमाया का राज्य ही अर्द्धमात्रा का लीलागृह है। एक अर्द्धमात्रा से अनन्त विभज्यमान अर्द्धमात्राएँ इसके अन्तर्गत जाननी चाहिये। यही विज्ञान राज्य है, बैन्दव जगत् है, अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय है, ज्ञानानन्दमय लीलाभूमि है। अर्द्धमात्रा ही योगमाया है। माया कारणसमुद्र है। कार्यरूप मायिक जगत् की उत्पत्ति उस कारणसमुद्र से होती है। निष्कल स्थिति से स्पन्द के सहयोग से कलामयी प्रकृति का उन्मेष होने पर उसकी कुछ कलाएँ उस कारण-जल में गिरती हैं। इन्हीं कलाओं के कारण जल में गिरने के बाद योगमाया का आविर्भाव होता है। महामाया का जगत् शुद्ध विश्व का रूप है, माया का जगत् मलिन विश्व का रूप है एवं योगमाया विश्व में भगवत्-लीला की संयोजनकारिणी आद्य शक्ति अर्धमात्रा है। कारण सलिल से ही काल का आविर्भाव होता है। किन्तु इस विषय में विशेष विचार इस प्रसंग में अनावश्यक है।

चार

स्वातन्त्र्यवश जब स्पन्दन का उदय हुआ, तब एक ओर जैसे सर्वज्ञ नित्य जाग्रत् अवस्था का आविर्भाव हुआ, दूसरी ओर वैसे ही ज्ञानहीन अनादि निद्रामग्न एक अवस्था का आविर्भाव हुआ। पहला महान् और दूसरा अणु है, अर्थात् अनन्त अणुओं का सामूहिक स्वरूप है। जो महान् हैं, वे नित्यबुद्ध परमात्मा और एक हैं तथा जो अणु हैं, वे अनन्त अणुओं के संघातरूप सुषुप्त महासत्ता अर्थात् नाना हैं। यद्यपि बुद्धि की दृष्टि से दिखलाई देता है कि संकोचवश अणुभाव का उदय होता है एवं साथ ही साथ वे सब अणु मायाकवलित होते हैं, तथापि यह सत्य है कि इस स्थिति में कालगत क्रम नहीं रहता, इसलिए क्रमिक व्यापार दिखलाई नहीं देता।

अणुत्व महामाया द्वारा किया गया संकोच है, जिससे स्वरूपगत अहंनिष्ठ पूर्णता का अभाव होता है एवं अहं का अवलम्बन कर इदं रूप का या द्वितीय भाव का उदय होता है। निर्विकल्प अद्वय सत्ता ही मूल है। बुद्धि की दृष्टि से उन्मेषकाल में पहले होता है अभेददर्शन एवं उसके बाद यह अभेददर्शन माया में लुप्त हो जाता है। इसके पश्चात् माया से उठने पर भेददर्शन का आरम्भ होता है। शिवावस्था में अभेददर्शन के मूल में आत्मा में आत्मभाव बना रहता है। यही नित्य जाग्रत्-अवस्था है। इस जगह एक धारा है। वही महामाया का जगत् है, जहां दो तरह के चेतन-सत्त्व दिखाई देते हैं। एक में अहन्ता का लोप नहीं हुआ अथच उसीके ऊपर इदंता के आभासन से विशुद्ध अध्वा का विकास हुआ है। किन्तु सदूर

में अहन्ता का लोप हुआ था एवं उसके बाद उसके अङ्गरूप से इदंन्ता का आश्रय कर अहंता का पुनः उदय हुआ था। इसी अवस्था में सांसारिक जीव के रूप में कर्म कर के और उनका फल भोग कर जन्म-जन्मान्तर कट गये। अन्त में विवेकज्ञान के उदय से इदंभाव में आश्रित अहंबोध निवृत्त हुआ एवं आत्मस्वरूप में अहंबोध का पुनः उदय हुआ। इसमें प्रथम प्रकार का चेतन सत्त्व दिव्य सृष्टि के अन्तर्गत है। यह नित्यसिद्ध है। यद्यपि इस सृष्टि में भी इदंता का आभास स्तर के अनुसार क्रमिकरूप में विद्यमान रहता है, फिर भी इस भूमि में मलिन माया का संपर्क बिलकुल नहीं रहता। दूसरे प्रकार के चेतन सत्त्व मायिक जगत् में पड़ कर पुनर्वार माया से निकले हैं, पर शिवत्व की प्राप्ति अब भी उसे नहीं हुई। इन दूसरे प्रकार के सत्त्वों को यथासमय शिवत्व की प्राप्ति होगी। किन्तु पहले प्रकार के सत्त्वों को शिवत्व की प्राप्ति कभी नहीं होगी, क्योंकि वे सकल सत्त्वजगत्-व्यापार के लिए आवश्यक सृष्टि के अन्तर्गत हैं।

माया के गर्भ में अनन्त जीवाणु प्रसुप्त हैं। यह प्रसुप्ति काल के अन्तर्गत निद्रावस्था से बिलकुल भिन्न है। यह अनादि सुषुप्ति है। ये सब जीव यद्यपि अणुरूपी हैं, फिर भी प्रत्येक में अपना अपना भाव विद्यमान रहता है। यही उनका स्वभाव है। सृष्टिकाल में जो वैचित्र्य घटता है यही उसका कारण है। यह वैचित्र्य कर्मजनित नहीं है। जो अनादि काल से निद्रामग्न हैं, उनका कर्म कहाँ? निद्रा से उत्थित होने पर यथासमय कर्म आरंभ होगा—मनुष्यदेह में। जब तक नरदेहप्राप्ति नहीं होती तब तक कर्म का सूत्रपात नहीं होता। चौरासी लाख योनियों में जो विचित्रता है, वह योनिगत विचित्रता है, कर्मगत नहीं।

मायागर्भ में लीन अनन्त जीव परमात्मा के ही अंश (भिन्नांश) हैं, किन्तु प्रत्येक में भेद है। यह भेद सदा ही विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि मुक्ति में भी वह हटता नहीं। अवश्य ही यह द्वैतदृष्टि का अवलम्बन कर कहा गया है। अद्वैतदृष्टि में तो सभी शिवरूपी हैं अर्थात् सभी परस्पर भिन्न होकर भी शिवरूप से अभिन्न हैं। आत्मगत विशेष एवं मूल का पृथक्त्व प्रयोजनानुसार मानना ही पड़ता है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सभी वही भावातीत अद्वयसत्ता हैं जो एक होकर भी नाना हैं एवं नाना होकर भी एक और अव्यक्त है।

व्यक्ति-जीवन की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब इस स्वभाव का पूर्ण विकास होता है। शिवोऽहं रूप में अपने शिवत्व की अनुभूति के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत विशेष भाव की भी अनुभूति जाग्रत् होने पर भावातीत में प्रतिष्ठा सार्थक कही जाती है। 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। इस प्रश्न के उदय और समाधान के लिए ही इस विराट् जागतिक लीला का सूत्रपात हुआ है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के नाना सूत्रों से युक्त होकर, अद्वैत महादर्शन में स्थिति ग्रहण-पूर्वक व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के अनुसार योगमाया की लीलाभूमि में अभिनय की प्रक्रिया के अवलम्बन से निज रस के आस्वादन में ही इस प्रश्न का समाधान दिखाई देता है।

पाँच

अनादि निद्रा टूटने के समय जीव माया के गर्भ से कालराज्य में क्रमविकास की धारा में पड़ता है। निद्रा टूटने के कारण नित्य जाग्रत् परमात्मा का चैतन्यमय उल्लास होता है। यह उल्लास माया को मुग्ध करता है और उसके गर्भ में स्थित जीवों के शरीर को मायिक कला द्वारा रचकर तथा उन्हें उन शरीरों से युक्त कर

कालराज्य में प्रेरित करता है। माया योनिरूप है—'योनेः शरीरम्', शरीर योनि से ही उत्पन्न होता है। प्रचलित भाषा में कहा जाता है कि जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर अन्त में मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है, यह सर्वथा सत्य है।

परमात्मा अपने अंश जीव को निजसत्ता से विभक्त-सा कर माया-गर्भ में संचालित करते हैं। यही उनका निग्रह है। यह परमात्मा की ईश्वरभूमिका का अभिनय है। वस्तुतः परमात्मा स्वयं ही अंशात्मक अणु बन कर अपने से पृथक् न होकर भी पृथग्वत् होकर माया में पड़ते हैं अर्थात् सदा जाग्रत् पुरुष तिरोधानशक्ति के प्रभाव से निद्रित होते हैं। फिर वे अनुग्रह शक्ति की प्रेरणा से सदाशिव या गुरुदयाल के रूप में माया-स्थित जीव की ओर चिन्मयी दृष्टि डालते हैं, जिससे सोया हुआ जीव जाग उठता है। माया के गर्भ में जीवाणु शरीर, इन्द्रियादि रहित होकर मूर्च्छित से पड़े रहते हैं, किन्तु जागते ही वे अपने अनुरूप शरीर आदि प्राप्त करते हैं एवं क्रमविकास के मार्ग में अग्रसर होते हैं।

एक बात इस प्रसंग में ध्यान में रखने योग्य है। जैसे नित्य जाग्रत् पुरुष से चिदंश चित्कण के रूप में सुषुप्तिमय माया में प्रक्षिप्त होते हैं, वैसे ही सुषुप्ति का आवरण भी अल्पाधिक नित्यजाग्रत् पुरुष में संचारित होता है। दोनों ही व्यापार एक ही समय में होते हैं। माया के सम्बन्ध के बिना महान् की अणुरूपताप्राप्ति और स्खलन नहीं हो सकता। पक्षान्तर में चित् के सम्बन्ध विशेष के बिना माया भी क्षुब्ध नहीं हो सकती। जो लोग जीव को परमात्मा का भिन्नांश अथच सनातन अंश कहते हैं, उनकी दृष्टि इसी ओर क्रिया करती है।

सुषुप्ति टूटने के बाद काल के स्रोत में आने के स जीव चिद्-अचित् मिश्रभाव धारण करता है। प्रधा चिदंश आत्मरूप में और अचिदंश उसके आवरण अ व्यञ्जक देह के रूप में प्रकट होता है। असली ब यह है कि देहावच्छिन्न क्षीणतम ज्ञान क्रमविकास के मा में अवतीर्ण होता है और देह की क्रमिक अभिव्य के साथ साथ पुष्ट होकर क्रमिक पूर्णता प्राप्त कर है। इसी का नाम आत्मा का चौरासी ला योनियों में भ्रमण है। यह होता है प्रकट भाव मे किन्तु ज्ञान में जो अज्ञान का प्रवेश होता है, वह गुप्त भ से होता है। ज्ञान की पृष्ठभूमिमें अज्ञान के संचारित हो पर अणुत्व की उत्पत्ति और ज्ञान का क्रमसंकोच अव होता है। तदनन्तर ये दोनों धाराएँ मनुष्य में मिलती हैं। देह के क्रमविकास की सीमा चौरा लाख योनियों के बाद मनुष्यदेहप्राप्ति में है एवं ज्ञ के क्रमसंकोच की सीमा असंख्य क्रम निम्न चित्ज्ञान के मानवीय ज्ञान में है। यह मानवीय ज्ञान ही अहंज्ञान है अहं-ज्ञान इदंभावापन्न भली भांति अभिव्यक्त मानव-श का अवलम्बन कर अध्यासरूप में परिस्फुट होता है।

छः

यदि विकास और संकोच के मार्ग में सात विभ की कल्पना की जाय, तो ज्ञात होगा कि जैसे परमा से मनुष्य का स्थान सातवां है, वैसे ही मनुष्य से परमात्मा का स्थान सातवां है। अवश्य ही समझने समझाने की सुविधा के लिए इस तरह की कल्पना गई है। एक ओर निद्रित आत्मा महानिद्रा में मग्न तो दूसरी ओर सदा जाग्रत् आत्मा अनादि ज्ञान के परमपुरुषरूप में विराजमान हैं—मानो एक ही आ के दो पृष्ठ हों। शक्ति के उल्लास के कारण सुषुप्ति तरफ से स्वप्न के भीतर से गति होती है जागरण

ओर। साथ ही साथ परम जाग्रत् पुरुष की ओर से स्वप्न के भीतर से सुषुप्ति की ओर गति होती है। मानव में आकर बिन्दुगर्भ में ये दोनों धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। इसलिए मनुष्य के शरीर में चौरासी लाख योनियों में व्यापक प्राकृतिक रचना का चरम विकास दिखाई देता है। इस विकास के साथ सुषुप्ति से उठी चेतना क्रमशः व्यक्त होते-होते जाग्रत् चेतना में परिणत हो जाती है। यही मानवदेह में अभिव्यक्त चेतना है। इस चेतना में वास्तविक अहंभाव की स्फूर्ति होती है। यह अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु है। इस अहंभाव को व्यक्त करने के लिए ही परमात्मा की नींद टूटती है और स्वप्नावस्था का अवसान होता है। क्रम से विन्यस्त विभिन्न योनियों में चेतना के क्रमविकास का पथ प्रशस्त होता है। वस्तुतः शरीर का क्रमिक विकास ही स्फुट अहं के रूप में रचना की अभिव्यक्ति-प्राप्ति का क्रम है। नरदेह की चेतना में इस विपुल प्राकृतिक धारा की परिसमाप्ति होती है। इसके पश्चात् कर्तृत्वाभिमानवाले मनुष्य में कर्म का उदय दिखाई देने से उसके फलभोग के लिए अनुरूप भोगायतन या देहप्राप्ति के प्रसंग में संसार जीवनका आरंभ होता है। नरदेह की रचना के पूर्व चेतनाहीन पत्थर और धातु के रूप में, अन्दर चेतनावाले उद्भिद् के रूप में, बाहर चेतनावाले अल्पचेतन कीड़े-मकोड़ों के रूप में और तदुपरान्त अधिक चेतनावाले पक्षी और पशुदेह के रूप में आविर्भाव होता है। यही योनिक्रम है। जिस क्रम का अवलम्बन कर देह का आवर्तन होता है, उसमें संस्कार संचित होते हैं। धीरे-धीरे सूक्ष्म-देह और कारणदेह की रचना होती है एवं अहंज्ञान का उदय और विकास होता है। चेतना का उदय होने पर इदंभाव अथवा अनात्मभाव देह के रूपमें घनीभूत होता है। अन्नमय शरीर और प्राणमय शरीर इस प्रकार के शरीर हैं। मनोमय देह में यह इदंभाव विशेषरूप से पुष्ट होता है। तब अहंभाव आविर्भाव की भूमिका की रचना होती है। अहंभाव विज्ञान का आभास लेकर मनुष्यदेह में फूट उठता है। अन्नमय कोष से विज्ञानमय कोष पर्यन्त इस आभास का विकास ही क्रमविकास का इतिहास है। तत्त्वविचार में पृथिवी से महत्तत्त्व की सीमा तक इस विकास का अधिकार जानना होगा। इसीलिए मनुष्यदेह समूचे विश्व का प्रतीक है, क्योंकि पिण्ड में समग्र ब्रह्मांड का समावेश रहता है। यह मनुष्यदेह ही क्षेत्र है एवं इसको जो यथार्थ रूप में जानता है, वही वास्तविक क्षेत्रज्ञ है।

दूसरी बात यह है कि देहरूप इस अनात्म वस्तु की रचना के साथ साथ अभिन्नरूप से ओत-प्रोत होकर ज्ञान रहता है। यही अहंभाव की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। यह प्रणाली बड़ी ही अद्भुत है। यहां सब जगह सब तत्त्व हैं। वह जो मूल अज्ञानसत्ता है, वही प्रकृति है और जो मूल ज्ञानसत्ता है, वही पुरुष है। प्रकृति में अहं नहीं है यह सत्य है। उसी तरह पुरुष में भी अहं नहीं है। अथवा दोनों में ही अव्यक्तरूप में अहंत्व है। किन्तु इस तरह रहना विचारदृष्टि से न रहने के ही समान है। दोनों के मिलन से अहंभाव जाग उठता है। योगशास्त्र में जहां अस्मिता के उदय का वर्णन आया है, ठीक उसके पीछे गुप्त रूप से पुरुष और प्रकृति का योग है। यह अहं का पूर्णत्व ही समान रूप से पुरुष और परमा प्रकृति का मिश्रित रूप या श्रीभगवान् हैं।

भगवान् से ही सृष्टि होती है—पुरुष और प्रकृति के योग से भी होती है एवं साक्षात् रूप से भी होती है। पहली योनिज सृष्टि है, जिसका विकास और विस्तार चौरासी लाख योनियों के रूप से प्रसिद्ध है। दूसरी अतिमानस सृष्टि दिव्य आत्माओं का संघ है।

दिव्य सूरि, नित्य आत्मा आदि विभिन्न नामों से इनका विवरण प्राप्त होता है। इसाइयों के धर्मशास्त्र में जो Arch Angel Throne आदि दिव्य चेतन-वर्ग का पता लगता है, वे इस दिव्य आत्मा की किसी न किसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये सब चेतनवर्ग श्रीभगवान् के साक्षात् शक्तिस्वरूप हैं। ये उनकी सत्ता से अव्यवहित रूप से विसृष्ट हुए हैं। ये सब आत्माएँ कभी भी काल के प्रवाह में अथवा प्रवृत्ति के राज्य में उतरती नहीं। ये स्वभावतः किङ्करभावापन्न हैं। भगवत्-इच्छा को कार्य रूप में परिणत करना ही इनका स्वभाव है। भगवत्-आज्ञा का पालन ही इनका एकमात्र काम है। इन्हें व्यक्तिगत कोई आवश्यकता नहीं। इसीलिए ये नित्य आनन्दमय और नित्य निर्मल हैं। ये स्वातन्त्र्यहीन हैं। इन्हें कभी भी भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। ये रक्तहीन, ज्योतिर्मय, अजर और अमर हैं। ये भगवान् की महिमा और विभूतिस्वरूप हैं। इन्हें अहङ्कार नहीं है, कभी था भी नहीं और होगा भी नहीं। इसलिए इन्हें स्वतन्त्रता-प्राप्ति की संभावना नहीं है और ये उसे चाहते भी नहीं।

'अहम्' का आविर्भाव बड़ा ही रहस्यमय है। महात्मा लोग कहते हैं कि अज्ञान की निवृत्ति होने पर अनादि सुप्ति से जो जागरण होता है वही अणुभाव या परिच्छिन्न मलिन जीवभाव की प्रथम उत्पत्ति है। साथ ही साथ संस्कार का उदय होता है तथा देह के क्रमविकास से मनुष्य आकार पाने के बाद यह संशय जिज्ञासा का आकार धारण करता है, अर्थात् "मैं कौन हूं" यह प्रश्न हृदय में उदित होता है। इसके पूर्ण समाधान या मीमांसा के लिए ही इस विराट विश्व की सृष्टि का उपक्रम जानना चाहिये। 'कोऽहम्' रूप में संशय जागता है एवं 'सोऽहम्' रूप में निश्चयात्मक अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर उस संशय की समाप्ति होती है। यह साक्षात्कार का फल है। 'कोऽहम्' और 'सोऽहम्' के बीच समूची मानव-सृष्टि दो भागों में विभक्त होकर विराजमान हुई है। सबसे पहले विश्व की रचना और विश्व के सार के निष्कर्ष के रूप में मनुष्यशरीर का अभ्युदय होता है। मनुष्यदेह का निर्माण ही प्रकृति का विशाल विज्ञानागार का मधुरतम फल है। क्योंकि मनुष्यदेह का निर्माण न होने तक प्रकृति के क्रमविकास की सार्थकता पाई नहीं जाती। नित्य जाग्रत् परम पुरुष के धरने के लिए ही प्रकृति का यह विराट् आयोजन है। क्योंकि मनुष्यरूप आधार के सिवा अन्य किसी आधार में परम पुरुष की छाया नहीं पड़ती। अर्थात् अहंभाव की भली-भांति स्फूर्ति नहीं होती। इसलिए मनुष्य देह के सिवा पूर्ववर्ती अन्य किसी देह में भगवद्दर्शन तथा अपने भगवद्भाव की अनुभूति नहीं हो सकती। समूचे ब्रह्माण्ड का संक्षिप्तसार होने से ही नरपिण्ड का इतना महत्त्व है। प्रथम खण्ड कर्म का आवर्तन और कर्ममय मनुष्य का संसारभ्रमण माना जा सकता है। मनुष्यशरीर की सृष्टि के बाद उस देह में 'अहम्' अभिमान का उदय होने पर ही कर्तृत्व भाव का आविर्भाव होता है। तब कर्म की सृष्टि होती है एवं कर्म के तारतम्य के अनुसार उसके फलस्वरूप सुखदुःख का भोग होता है। इस तरह फल की व्याप्ति के हिसाब से करोड़ों जन्म भिन्न भिन्न शरीरों के अवलम्बन से कट जाते हैं एवं देश की व्याप्ति की दृष्टि से लोकलोकान्तर में भ्रमण होता। भोग करते करते ऐसा एक समय आता है जब फिर कोई इच्छा नहीं रहती। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दमय बाह्य जगत् में भोग की आकाङ्क्षा निवृत्त हो

(अपूर्ण)

जाने पर चित्त स्वभावतः बाह्य जगत् से विमुख हो जाता है। इसके बाद अन्तर्मुखी गति का आरंभ होता है। द्वितीय खण्ड में इस अन्तर्मुखी गति का अर्थात् विषय-जगत् से आत्मा के प्रत्यावर्तन का इतिहास विद्यमान है। इस द्वितीय खण्ड में ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि देहों से और जगत् से अहंभाव को हटा कर चरम स्थिति में, पूर्ण आत्मस्वरूप में, विश्राम लेने का अवसर प्राप्त होता है। यहीं पर स्थूल-सत्ता से परमात्मा तक एक सरल मार्ग दिखाई देता है। स्थूल-देह अथवा स्थूल-जगत् का अतिक्रम किये बिना उक्त मार्ग में प्रवेश नहीं किया जा सकता एवं इस मार्ग में प्रविष्ट हुए बिना स्थूल-जगत् और स्थूल-देह के अभिमान से छुटकारा पाने का कोई उपाय दिखलाई नहीं देता। सत्यस्वरूप परमात्मा इस मार्ग के लक्ष्य हैं। वे मार्ग के अन्तर्गत नहीं हैं।

परिपूर्ण ज्ञान की जो अवस्था है, वही शिवावस्था है। जीवावस्था से शिवावस्था में जाना व्यक्त जीवन का खेल है तथा शिवावस्था से जीवावस्था में आगमन अव्यक्त जीवन का रहस्य है। सृष्टि के प्रादुर्भाव के साथ आत्मा में संकोच का भाव आता है एवं अहं के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में इदंभाव का उदय होता है। इससे अहंभाव में इदंता की क्षीण रेखा दृष्टिगोचर होती है। क्रमशः इदंभाव दृढ होता है और अहंभाव क्षीण होता है। अन्त में मातृगर्भ में प्रविष्ट होने के साथ-साथ शुद्ध अहन्ता एकदम लुप्त हो जाती है। माया-गर्भ और मातृ-गर्भ वस्तुतः एक ही सत्ता है।

इस गर्भ में अक्रमिक रूप से अवतरण हो सकता है। एवं क्रम द्वारा भी हो सकता है। चिदणु माया में प्रविष्ट होकर सो जाता है। यह निद्रा ही चिद्वस्तु की अचिद्भावप्राप्ति है। यह निद्रा ही कुण्डलिनी का कुण्डलित भाव है, निद्रा है, अथवा महामायाका भेदन कर उसमें पतन है। वास्तव में यह अनादि जाग्रत् से अनादि स्वप्न द्वारा सुषुप्ति में निमज्जनमात्र है। यह मायासुप्त जीव वस्तुतः मनुष्य का ही बीज है। माया-गर्भ ही मातृगर्भ है। जीव विश्व-पिता से विसृष्ट हो कर गिर पड़ा है। इधर प्रकृति की धारा से एक वस्तु आई एवं पुरुष की धारा से भी दूसरी एक वस्तु आई—ये दोनों कारण-बिन्दु रक्त और शुक्ल बिन्दुके नाम से प्रसिद्ध हैं। हम आदि-पिता-माता की बात कह रहे हैं, क्योंकि तब स्थूलदेहधारी पिता-माता नहीं थे। उपादान अवश्य था, इसी लिए ईश्वर की इच्छा से दोनों के योग से सृष्टि हुई। रज पृथिवी का सार है और वीर्य आकाश का सार। पृथिवी माता और आकाश पिता है। चौरासी लाख योनियों का सार सत्तामय और षट्कंचुकवेष्टित चिदणु एक होकर क्रमशः बढ़ने लगा। सद्गुरु अथवा नरदेही भगवान् के महाकारण-शरीर तथा महा-मन के सिवा स्थूल-शरीर का रहस्यभेदन करने की क्षमता किसी में नहीं है।

सात

मार्ग में प्रवेश कब होता है? मानवशरीर-लाभ और उस शरीर में अहंज्ञान का उदय अवश्य हुआ। किन्तु यह ज्ञान स्थूलसत्ता के साथ मिला है। इसके परिपक्व हुए बिना इसे पृथक् कर मार्ग में प्रवेश करने के योग्य नहीं बनाया जा सकता। आणव मल के परिपक्व हुए बिना भगवदनुग्रह का संचार अनुभूत नहीं होता, इसका यही कारण है। मल के परिपक्व होने पर ही ज्ञान अन्तर्मुख होता है और स्थूल संस्कार घनीभाव का परित्याग करता है। तब सूक्ष्मभाव में प्राबल्य आता है। यह जो परिपक्वता या स्थूल अनुभूति का परिपाक है, उसे प्राप्त करने में ही जन्म-जन्मान्तर कट जाते हैं। —अन्तिम, अवस्था में क्रमशः स्थूल संस्कार सूक्ष्म में परिणत होता है एवं सूक्ष्म-संस्कार कारण-संस्कार का

रूप धारण करता है। उसके बाद फिर संस्कार नहीं रहता। स्थूल-संस्कार अत्यन्त प्रबल है, क्योंकि मानवदेह-रचना के बहुत पहले से ही साकार भाव के साथ यह संयुक्त है। इसी लिए उसका क्षय होने में बहुत समय लगता है। क्रमशः क्षय के सिवा एकाएक इसका शमन प्रायः देखने में नहीं आता। सब संस्कारों की निवृत्ति और परमात्मा का साक्षात्कार एक साथ ही होता है। परमात्मा के अनुग्रह से यह साक्षात्कार होता है। तब एक क्षण में सब संस्कार निवृत्त हो जाते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि परमात्मा का दर्शन मेघमुक्त सूर्य के समान एकाएक संघटित होता है। हठपाक सद्योमुक्ति का उपाय है एवं क्रमिक-पाक क्रम-मुक्ति की सीढ़ी है। यह कहना अनावश्यक है कि सद्योमुक्ति बहुत ही दुर्लभ है। सब संस्कारों का शमन होने पर ही लोकोत्तर अवस्था का उदय होता है।

ज्ञानी-योगी जन समझाने की सुविधा के लिए इस मार्ग में छः क्रमशः सजाई भूमियां स्वीकार करते हैं। इन सब भूमियों में पहली तीन भूमियां सूक्ष्म-जगत् में स्थित हैं, चौथी सूक्ष्म और कारण-जगत् की सन्धि में है एवं पांचवीं और छठी कारण जगत् के अन्तर्गत हैं। छः भूमियों का अतिक्रमण कर सकने पर फिर कोई भूमि प्राप्त नहीं होती, तब आत्मा परमात्मा के साथ एक होकर विराजमान होता है।

इससे समझ में आ जायगा कि एक ओर स्थूल-जगत् और स्थूल-देहाभिमानी मानवरूपी जीवात्मा है तो दूसरी ओर नित्य जाग्रत् परमात्मा हैं, ये दोनों छोर मार्ग की सीमा के बाहर हैं। मार्ग मानो एक सम्बन्ध-सूत्र है जो स्थूल को परमात्मा से एवं परमात्मा को स्थूल से युक्त करता है। स्थूलदेह में आत्मभाव की निवृत्ति हुए बिना मार्ग में प्रवेश प्राप्त नहीं होता अथवा मार्ग में प्रवेश प्राप्त किये बिना स्थूल का अहङ्कार नहीं हटता। मार्ग में प्रवेश के साथ ही साथ स्थूल-ज्ञान एकदम लुप्त हो जाता है, सो बात नहीं। चित्त के अन्तर्मुखभाव का उदय और परिपुष्टि यही मार्ग में प्रवेश का प्रधान लक्षण है। तब निवृत्त्युन्मुख स्थूल ज्ञानी को विकसित सूक्ष्मदेह के द्वारा सूक्ष्मस्तर का अनुभव प्राप्त होता है। यह अनुभव सूक्ष्म जगत् के प्रथम स्तर का अनुभव है। इसे प्राप्त करते समय स्थूल-जगत् का ज्ञान रहता है। इस अनुभव का जो करण है, वह केवल स्थूल देह नहीं है और केवल सूक्ष्म देह भी नहीं है, वह एक साथ दोनों ही है। वस्तुतः वह स्थूल और सूक्ष्म की सन्धि है। उस समय प्रतीत होता है कि मानो स्थूलदृष्टि द्वारा ही दिव्यरूप दिख रहा है, स्थूल कानों द्वारा ही मानो दिव्य संगीत सुना जा रहा है, इत्यादि। सन्धिस्थान की यही विशेषता है। सन्धिस्थान का भेदन होने प फिर स्थूलभाव नहीं रहता। उस समय सूक्ष्म-जगत् के दूसरे स्तर के दर्शन होते हैं। यह स्तर प्राणमय जगत् है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ इसी स्तर में स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा करती हैं। साधक को जब इस स्तर का ज्ञान प्राप्त होता है, तब एक ओर जैसे उसकी स्थूलसत्ता का ज्ञान नहीं रहता वैसे ही दूसरी ओर मनोमय सत्ता का भी बोध नहीं रहता। किन्तु सि लोग कहते हैं कि बोध न रहने पर भी साधक उस सू स्तर में स्थूल और मनोमय करणों की सत्ता द्वारा क करता है। अर्थात् सूक्ष्म ज्ञानी साधक स्थूल और कारण शरीर में चेतन न रहने के कारण स्थूल और कारण जगत् देख नहीं पाता, यह सही है; किंतु वह स्थूलदेह के व्यवहार कर सकता है और करता भी है। इन्द्रियाँ

कार्य (दर्शन, निद्रा, खाना, पीना आदि) उस समय भी जारी रहते है। उसी प्रकार वह मानस-शरीर का व्यवहार भी करता हैं, क्योंकि वासना, कामना, चिंता, भाव आदि मानसिक व्यापार उस समय भी पहले की तरह विद्यमान रहतें हैं।

दूसरी भूमिका की आत्माएँ सूक्ष्म देह तथा सूक्ष्म करणों के द्वारा सूक्ष्म-जगत् का अनुभव करती हैं। स्थूल का अनुभव उन्हें बिलकुल भी नहीं होता, पर बाह्यदृष्टि से वे साधारण व्यक्तियों की तरह स्थूलाभिमानी प्रतीत होती हैं। सारांश यह है कि उनकी चेतना आंशिक रूप से अन्तःसंज्ञ होने के कारण सूक्ष्म जगत् का भी अनुभव करती है। इस अनुभव से उसमें दर्शन, स्पर्श आदि विषयों में नये संस्कार पैदा होते हैं।

प्रत्यावर्तन-मार्ग में और अधिक आगे बढ़ने पर तीसरी भूमि में प्रवेश-लाभ होता है। यह भी सूक्ष्म जगत् में स्थित है। यह कहना अनावश्यक है कि यहां शक्ति की प्राप्ति और अधिक मात्रा में होती है। फिर भी यह परिमित ही शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। इस स्तर पर आरूढ़ होने से सूक्ष्म-जगत् के अन्तर्गत लोक-लोकान्तरों में भ्रमण किया जा सकता है।

तीसरी भूमिका पार करने के अनन्तर चौथी भूमिका में पदार्पण कर साधक अनन्त शक्ति के अभिमुख हो जाता है। यह सन्धिभूमि है अथवा मनो-जगत् का प्रवेश-द्वार है। मार्ग में स्थित यह भूमि सूक्ष्म और कारण के बीच में स्थित है। इस भूमि में शक्ति का विकास पूर्व स्तरों की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाता है। तब साधक नूतन सृष्टि करने की क्षमता तक अर्जित कर लेता है। यह कारण-जगत् का द्वार है, अतः सब शक्तियों का नियंत्रण यहीं से होता है। यहाँ भाव और वासना की तीव्रता अधिक रहती है, शक्ति के प्रयोग का प्रलोभन भी अधिक रहता है एवं अहंकार का प्रकोप भी बहुत उग्र रहता है। वस्तुतः यह योगी की परीक्षा का स्थान है।

इन सब अलौकिक शक्तियों का सदुपयोग करने अथवा किसी भी शक्ति का बिलकुल व्यवहार न करने पर योगी निरापद पञ्चम भूमिका में पदार्पण करने में समर्थ होता है। चतुर्थ भूमिका में पतन की आशंका खूब अधिक रहती है †, पञ्चम भूमिका में पतन की संभावना बिलकुल नहीं रहती। चतुर्थ भूमिका में रह कर योगी यदि स्वोपार्जित शक्ति का सदुपयोग करें तो वे अपने आप छठी भूमिका में पहुँच जाते हैं, उन्हें स्वयं कोई विशेष यत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु उस उद्धार कार्य में जो सहायक होते हैं, वे ही सद्गुरु हैं। वे केवल जीवन्मुक्त पुरुष नहीं, किन्तु महाज्ञानी और विज्ञान-भूमिका में प्रतिष्ठित आत्मा हैं।

चौथी भूमिका में रहकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थूल-जगत् में आत्मकल्याण से भी बढ़ कर है, यह साधक का आध्यात्मिक उपकार है। कोई भगवान् की ओर चला हुआ साधक यदि अत्यन्त

---

† पातञ्जल योगसम्प्रदाय में प्रथम कल्पिक अवस्था के अनन्तर तथा भूतेन्द्रिय-जय के पूर्व मधुमती भूमि में इसी तरह की कई आशङ्काएँ विद्यमान रहती हैं। उस समय विशेष रूप से आसक्ति और अहङ्कार की ही परीक्षा होती है। हाँ, भय, लज्जा आदि अन्य भावों की परीक्षा न हो, सो बात नहीं है।

संकट में पड़ जाय, तो चतुर्थ भूमिका में स्थित आत्मा अर्थात् योगी उसे अपनी शक्ति के बल से उस संकट से उबार देते हैं। उत्कृष्ट रोग से छुटकारा, मरुभूमि में श्रांत-क्लांत पर्यटक को जल-प्रदान, भयभीत मन की भीति का शमन, हताश के प्राणों में आशा का संचार—विविध प्रकारों से साधारणतः गुप्तरूप से इस परोपकार का व्रत अनुष्ठित होता है। बौद्ध सम्प्रदाय के बोधिसत्त्व यह कार्य करते हैं। पृथ्वी के सभी क्षेत्रों में इस प्रकार के सेवाधर्मी पुरुष विद्यमान हैं। ये ही **Invisible Helpers** के नाम से पुकारे जाते हैं। फिर भी स्मरण रखना होगा कि शक्ति के सदुपयोग से भी कभी कभी बन्धन की आशङ्का हो जाती है। भगवान् पतञ्जलि ने इस आशङ्का के एक कारण का स्मय अथवा अहङ्कार के नाम से निर्देश किया है। अहङ्कार के नाना प्रकार के भेद हैं। दीन सेवकभाव ग्रहण कर प्राणप्रण से सेवा कर के भी यदि उस सेवा से उत्पन्न अहङ्कार मन में आता है, तो वह भी पतन का हेतु होता है। अहङ्कार चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो रिपु के रूप में ही गिना जाता है। चतुर्थ भूमिका की कठिनाई का प्रधान कारण यह है कि इस भूमिका में साधक को अपरिमित शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति के धारण के उपयोगी चित्तसंयम उस समय प्राप्त नहीं रहता। मन का पूर्णरूप से जय न कर सकने पर शक्ति के स्वायत्त होने पर साधक का पतन होना कुछ आश्चर्यकर बात नहीं है। हां, यदि सद्गुरु के ऊपर पूर्णरूप से निर्भर रहा जाय एवं उन्हें अपनी रक्षा का भार सौंप दिया जाय तो उनके मंगलमय विधान से शक्ति का स्फूर्तिद्वार बन्द रहता है। इसलिए साधक के अहङ्कार करने का कोई कारण नहीं रहता। केवल यही नहीं, बहुधा सद्गुरु स्वतः प्रेरित होकर साधक का वास्तविक कल्याण करने के लिए उसे अनेक बार भांति-भांति की विषम परिस्थितियों तथा विपत्तियों में जकड़े रखते हैं। अन्तर्जगत् में भी शांति तथा आनन्द की स्वच्छ धारा बहने नहीं देते। इस प्रकार की अवस्था में साधक के हृदय में गम्भीर निराशा और निराश्रयता का आविर्भाव होता है। वस्तुतः यह परीक्षा की अवस्था है। इसी लिए साधक जितना अपने को निराश्रय और असहाय समझता है, जीवन का लक्ष्य स्थिर रहने पर उतनी ही अधिक मात्रा में चित्त की सर्वतोमुख गति एकाग्र होकर उस लक्ष्य की ओर स्थिर होती है। अर्थात् विपत्ति में गिर कर भी भगवत्स्मृति और परम लक्ष्य से भ्रष्ट न होने पर गुरुकृपावश स्वोपार्जित शक्ति का आवरण हट जाता है और साधक अकस्मात् अतर्कित रूप से पञ्चम भूमिका में उन्नीत होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि इस भूमिका में मनमें चञ्चलता न रहने के कारण साधक के पतन की आशंका एक प्रकार से नहीं रहती।

'पतन' से किसकी प्रतीति होती है, इसका स्पष्ट ज्ञान संभवतः बहुतों को नहीं है। युग-युगान्तर और जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्नों से धीरे-धीरे विपुल प्रयास द्वारा सामग्री का संचय होने से ज्ञान का जो महल तैयार हुआ, उसका एकाएक ढह जाना ही 'पतन' है। इस प्रकार का पतन होने पर एकदम विजली के वेग से उस आदिम पाषाण-खण्ड की तरह स्थावर-अवस्था लौट आ सकती है। अवश्य ही यह बात कदाचित् होती है, क्योंकि भगवान् द्वारा नियुक्त विविध मङ्गलमय शक्तियां जीवों की रक्षा में तत्पर रहती हैं। जीवों के अनजान वे उनकी असमय में रक्षा करती हैं। किन्तु विन की मात्रा लांघने पर इस प्रकार की शक्तियों की कार्य कारिता क्षुण्ण हो जाती है। उस अवस्था में पश्चात्ता

द्वारा इष्टसिद्धि अथवा प्रायश्चित्त नहीं होता। उस समय भग्न वस्तु के पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है। साधारणतः जो पतन होता है, वह इतना भयावह नहीं होता। क्योंकि उस समय पश्चात्ताप और आत्म-शोधन की प्रणाली द्वारा व्यवहारयोग्यता लौट आती है; इस कारण पुनः पूर्वावस्था प्राप्त हो जाती है। चेतनात्मा के पतित होकर शिलाखण्ड के रूप में परिणत होने पर आरोहण के समय फिर काल के क्रमविकास से भी पर-पर भूमिजय आवश्यक होता है। चतुर्थ भूमि में ही इस प्रकार घोर पतन की सम्भावना है, जो शक्ति के अनुचित प्रयोग से होता है। शक्ति का विकास अवरुद्ध होने अथवा उसका विकास रहने पर भी असत् उपयोग न करने एवं वासना द्वारा मन के संचालित न होने पर तो पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। शक्ति के सदुपयोग से योगी चतुर्थ भूमिका से एकदम षष्ठ भूमिका में पहुंच जाते हैं। शक्तिके प्रयोग की सम्भावना न होने पर साधक चतुर्थ भूमिका से पंचम भूमिका में आरूढ़ होकर वहां से यथा-समय षष्ठ में ख्यातिलाभ करता है। पंचम और षष्ठ ये दोनों भूमिकाएँ मनोमय कारण-जगत् में स्थित हैं।

अन्तर्मुखता के बढ़ने पर सूक्ष्म चेतनात्मक कारण-जगत् में मन के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है। योगीजन कहते हैं कि कारण-जगत् के बाहरी भाग में चिन्ता-राज्य है और भीतरी भाग भावराज्य है। पंचम भूमिका के योगी स्थूल और सूक्ष्म चेतनवर्ग की चिन्ता का नियन्त्रण करने में समर्थ होकर भी भाव का नियन्त्रण नहीं कर सकते। सूक्ष्म और कारण-जगत् की चेतना न रहने से विभूति का प्रकाश नहीं होता। इसलिए अखण्ड मन के ऊपर उनका आधिपत्य नहीं रहता। अन्तर्मुखता का आत्यन्तिक विकास होने और षष्ठ भूमि में स्थान-लाभ करने पर योगी निर्विकल्पक स्थिति में आरूढ़ होते हैं। यह स्थिति कारण-जगत् के बाहरी भाग से चित्त को हटा कर आन्तरिक अवस्था में प्रवेश करने पर स्वभावतः प्रकट होती है। कारण पहले ही बतलाया जा चुका है। कारण-जगत् के बाहर की ओर चिंताराज्य है और भीतर की ओर विकल्परहित बोधमय अवस्था है। यही षष्ठ भूमिका का परिचय है। तब योगी सदा बोध में निमग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् विश्व-मन का अनुभव होता है। उस समय विश्व के सम्पूर्ण मनों का भाव उनके निजभाव या स्वभाव में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में उन्हें सर्वदा सर्वत्र भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी वे कभी भी अपनेको भगवान् के साथ अभिन्न रूप में नहीं देखते। दर्शन न करने का उनका यही कारण है कि भगवद्दर्शन मन का ही व्यापार है। वे इस समय भी अपने को मन के अतीत होने के कारण पहचान नहीं सकते। इसीलिए भगवान् का मनोमय रूप में दर्शन करते हैं। यह भगवान् का साक्षात् दर्शन है, इसमें सन्देह नहीं है; किन्तु यह भी मन का ही व्यापार है। यह शुद्ध मन, व्यापक मन का खेल है, किन्तु यह भी चरम स्थिति नहीं है। क्योंकि मन का अतिक्रमण किये बिना भगवान् का साक्षात्कार और दर्शन पाकर भी उनके साथ अपना अभिन्नताज्ञान जाग्रत् नहीं होता। भगवान् का साक्षात् दर्शन और उनके साथ अपना अभेद-दर्शन एक नहीं है। इस समय स्वभावतः ही भगवान् के साथ मिलने की तीव्र आकांक्षा होती है। साधक सदा सब जगह, भीतर-बाहर भगवान् के दर्शनों के लिए सजग रहता है, यह सत्य है, फिर भी व्याकुलता पूर्ण विरह का भाव नहीं रहता; क्योंकि

भगवद्दर्शन भगवत्प्राप्ति नहीं है। उन्हें न पाने तक अर्थात् अपनी भगवद्रूप में उपलब्धि न होने तक यह विरह दूर नहीं हो सकता। क्योंकि जगत् के अन्दर केन्द्र अथवा बिन्दु के रूप में यह नित्य भगवद्-विरह जाग्रत् है। बहिर्मुख अवस्था में यहीं से सृष्टि होती है, किन्तु तब विरह-ज्ञान नहीं रहता। पर अन्तरतम अवस्था में विरह-ज्ञान जाग उठता है, उसका दर्शन भी स्फुट हो जाता है एवं विरह की तीव्रता से मन का पर्दा हट जाता है। तब अद्वैतस्थिति या अभेदभाव का प्रकाश अपने आप हो जाता है। कारण जगत् का यह भीतरी भाग का ही भावराज्य का व्यापार है, जिसका प्रस्फुटित रूप भगवत्-प्रेम है—एवं जिसका परिणाम भगवत्सायुज्य या महामिलन है। इस महाभावमय प्रेमराज्य में चिन्ता का कोई स्थान नहीं है। अतएव योगी की षष्ठ भूमिका भगवत्प्रेम और भगवान् के साथ मिलन की अकांक्षा के पूर्ण विकास का स्थान है। इस अकांक्षा का एक पहलू विरहज्ञान है, यह अतिमूल्यवान् सम्पत्ति है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद कर्तृत्वसम्पन्न मनुष्य-शरीर में अभिमान होत है। करोड़ों जन्मों में परिभ्रमण के बाद एवं मार्ग में प्रवेश पाकर अन्तर्मुख गति के क्रमिक विकास के चरम बिन्दु में इस तीव्र विरह का बोध होता है। भगवद्दर्शन से यह विरह निवृत्त नहीं होता, क्योंकि भगवद्दर्शन ही इसका उद्दीपक है। षष्ठ भूमि का भेद करने पर समूचा मनोराज्य ध्वस्त हो जाता है—कल्पना राज्य दूर हट जाता है, क्योंकि तब जगत् का अतिक्रमण हो जाता है, माया और महामाया का खेल निवृत्त हो जाता है। तब अपने साथ अभिन्न रूप से भगवत्साक्षात्कार एवं भगवान् के साथ अभिन्न-रूप से आत्मसाक्षात्कार संपन्न होता है। षष्ठ भूमिका के भगवद्दर्शन से यह अत्यन्त भिन्न है, क्योंकि षष्ठ भूमिका के दर्शन में द्वैतभाव रहता है। इसलिए वह मिलन होकर भी वास्तविक मिलन नहीं है, क्योंकि बीच में व्यवधान रहता है। यही विरह है। इसलिए द्वैतभूमि में मनोराज्य में पूर्णत मिलन भी विरह का ही नामान्तर है। षष्ठ भूमिका के भेदन के पश्चात् जिस आत्मज्ञान का उदय होता है, वही यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान है।

षष्ठ भूमिका तक मनोराज्य है। यहां का चैतन्य कितना ही उज्ज्वल और विशुद्ध क्यों न हो, फिर भी वह मनोमय है। सप्तम भूमिका वास्तव में कोई भूमिका नहीं है, वह परमात्मा की स्वरूपस्थिति है। सप्तम भूमिका मन के परे है। इसलिए षष्ठ से सप्तम भूमिका में कोई अपने प्रयत्न से नहीं जा सकता। सद्गुरु की करुणा के बिना मानस-ज्ञान, अनन्त-स्वरूप ज्ञान और असीम आनन्द का चेतन रूप में आस्वादन कोई नहीं कर सकता। इस अवस्था में स्पष्ट प्रतीत होता है और दीख पड़ता है कि आत्मा नित्य ही आनन्दमय, चैतन्यमय और अनन्त है। शक्ति और मन की आविर्भावप्रणाली को योगी उस समय प्रत्यक्ष देखते हैं। वे जान सकते हैं कि यह उनकी अनन्त शक्ति औ अनन्त ज्ञान का शान्त स्फुरणमात्र है। इस अवस्थ में दो व्यापार उल्लेखनीय हैं। यह परमात्मप्रति भवगद्भावापन्न आत्मा केवल स्वयं ही अनन्त शक् और आनन्द का अनुभव करता है, सो बात नहीं वह साथ ही साथ दूसरों में उनका वितरण करता है एवं कभी कभी साक्षात् रूप से और संज्ञान में इसक प्रयोग भी करता है। यह प्रयोग वास्तव में अन्य आत्मा को प्रवञ्चना से मुक्त करने के लिए होता है। जब त आत्मा परमात्मा में अपनी अभिन्न स्थिति प्राप्त

कर लेता, तब तक वह अज्ञान अवस्था में क्रमशः नाना-प्रकार के संस्कारों का अर्जन करता है। पीछे वे सब संस्कार क्रमशः क्षीण हो जाते हैं। अन्त में संस्कारशून्य अवस्था का उदय होता है। तब ज्ञात होता है कि यह सुदीर्घ संसारभ्रमण मायानिर्मित एक स्वप्न-मात्र है।

यह आत्मा ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न भगवत्स्वरूप में नित्य जाग्रत् है। यह समानरूप से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है—समानरूप से प्रेमिक, प्रेमभाजन और प्रेम है। आश्रय और विषय अभिन्न हैं। षष्ठ और सप्तम भूमिका के बीच में मानो गम्भीर समुद्र है। एक ओर प्राकृत जगत् और दूसरी ओर अप्राकृत भगवत्सत्ता—बीच में यह विरजा नदी का दिगन्तव्यापी व्यवधान है। षष्ठ भूमिका तक साकार संस्कारयुक्त सगुण कल्पना है—सप्तम भूमिका में आकार नहीं, संस्कार नहीं, गुण नहीं और कल्पना नहीं। यहीं पर सृष्टि के उन्मेष के समय के 'कोऽहम्' संशय का—जो मनुष्य-मन में अहंभाव के विकास के साथ साथ जागा था—विध्वंस होता है। आत्मा 'सोऽहम्' ज्ञान के समाधान से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यही आत्मविज्ञानभूमि है।

आठ

यहां पर एक विषय विशेषरूप से अन्वेषणीय है। प्रस्तुत लेख में एक विशेष धारा के अवलम्बन द्वारा सात भूमिकाओं का विवरण देने का यत्न किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस विशेष धारा के सिवा और भी भिन्न प्रकार की धाराएँ हैं। इस निबन्ध में उनके विषय में आलोचना अनावश्यक है। सात भूमिकाओं में प्रथम छः भूमिकाएं साधन की अवस्थाएँ और द्वैतभाव की द्योतक हैं। किन्तु सातवीं भूमिका सिद्ध अवस्था और अद्वैतस्थिति की अभिव्यञ्जक है। यह स्थिति साक्षात् परमात्मा के साथ अभेदप्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था का भगवत्स्वरूप के रूप में ही वर्णन करना उचित है। वस्तुतः यह सातवीं भूमिका भूमियों में गणनायोग्य नहीं है; तथापि प्रथम छः भूमिकाओं के साथ सम्बन्ध होने से इसका भी भूमिका के रूप में निर्देश किया गया है। छः भूमिमय पथ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् से होकर षष्ठ भूमि के अन्त में परम लक्ष्य की ओर आया है। पथ पर्यायक्रम से संकोच और विकासमय, एक और अनेक प्रतीतिमय, समाधि-व्युत्थानमय क्रमोच्च एक आवर्तसंकुल धारा है। इस पथ पर चलना शुरू होने से पहले ही यह विचित्रतामय प्रतिभास, जो स्थूल ज्ञान के सामने अनन्त विश्वों के रूप में अपने को प्रकट करता है, छूट जाता है। वस्तुतः इस छुटकारे के बाद ही सन्धि अवस्था में ही महाप्रस्थान के पथ की सूचना मिलती है। यह छुटकारा बाह्योन्मुख वृत्ति के अन्तर्मुख आकुञ्चन (सिकुड़ने) का परिणाम है। यह एक बिन्दु-अवस्था है, किन्तु यह स्थायी नहीं है। छुटकारे के अन्त में तब विचित्रतामय जगत् का चित्र भासित हो उठता है। किन्तु वह ठीक-ठीक पूर्व का जगत् नहीं है, दूसरे स्तर का जगत् है, किन्तु यह भी स्थायी नहीं रहता। इसके पश्चात् फिर अन्तराकर्षण के प्रभाव से छुटकारा होता है। तब दूसरी बार एक बिन्दुस्वरूप में स्थिति होती है। उसके बाद फिर बाह्यभाव का उन्मेष होता है। इस प्रकार की गति से साधक क्रमशः उन्नत होता है। पहाड़ पर चढ़ते समय जैसे एक बार पहाड़ पर चढ़कर पुनः उपत्यका में उतरना पड़ता है, तदनन्तर फिर उच्चतर पर्वत पर चढ़ने के बाद उच्चतर उपत्यका में उतरना पड़ता है एवं इस प्रकार धीरे-धीरे आरोहण के द्वारा उच्चतम शिखर तक

पहुँचा जाता है, ठीक उसी तरह महाप्रयाण के मार्ग में पारापारी से चढ़ना—उतरना अथवा संकोच और प्रसार विद्यमान रहता है। दिन के बाद रात्रि, फिर रात्रि के बाद दिन, इस तरह चलते-चलते ऐसा एक स्थान आता है जहां दिन और रात्रि का द्वन्द्व सदा के लिए निवृत्त हो जाता है, जहां एकमात्र दिन ही सदा स्थायी रूप से विराजमान रहता है। जिसका श्रुति ने 'सकृद् दिवा' कह कर इंगित से निर्देश किया है। इस पथ के ऊपर आकर्षण का पथ है। बिन्दुओं का एक के बाद एक यों नीचे-ऊपर विन्यास रहने पर भी वे सब पथ के भीतर हैं। निम्न बिंदु से ऊपर के बिंदु में गति आकर्षण के बल से होती है। किन्तु बिंदु अवस्था में प्रसारण नहीं रहता, इसलिए दृश्य या सृष्टि नहीं होती। पर यह अवस्था स्थायी नहीं है। क्योंकि प्रसार होने पर सृष्टि का विस्तार होता है। हृदय में स्थित वासना-बीजों के उन्मूलित न होने पर वह सृष्टिराज्य होता है, भोग कर पार होना पड़ता है, अन्यथा जला कर अथवा गला कर समाप्त करना पड़ता है।

साधक वास्तविक दीक्षा प्राप्त होने पर क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण का दर्शन और अनुभव करता है। तदुपरान्त कारण का अतिक्रमण होने पर सत्यस्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। पहली से छठी तक छहों भूमिकाएं कल्पनामय हैं। कल्पना का त्याग होता है, मनोनाश के साथ-साथ यथार्थ सत्य-दर्शन से सप्तम भूमिका में। इसीलिए छः भूमिकाओं तक जो आध्यात्मिक उन्नति कही गई है, वह वास्तविक उन्नति नहीं है। पर यह सत्य है कि कल्पना होने पर भी इन सब भूमिकाओं का अनुभव आवश्यक है। क्योंकि इनके क्षीण हुए बिना सत्यदर्शन असंभव न होने पर भी अत्यन्त कठिन अवश्य है। निरपेक्ष गुरुकृपा के बिना सत्यदर्शन नहीं हो सकता। तब बासनाक्षय आ अपने आप ही हो जाते हैं। पर कृपा को रखने के लि आधारशुद्धि का प्रयत्न आवश्यक है। गुरु य हों तो वे शिष्य को छहों भूमिकाओं में संचालित कर हैं। इस सञ्चालन व्यापार में कभी साधक की आँखें बां दी जाती है और कभी आंखें खुली भी रहती हैं, य साधक की आभ्यन्तरीण अवस्था तथा गुरु की व्यवस् पर निर्भर करता है। आंखें बाँध देने पर चित्त में स्थि वासना साधारणतः छठी भूमि तक रहती है। किन् जिस साधक की आँखें खुली रहती हैं उसकी वासन पांचवीं भूमि के बाद फिर नहीं रहती। बद्ध आँखवाले अवस्था में क्रिया अच्छी तरह होती है यह कहना पड़ेगा। छठी भूमि से सप्तम भूमिका में सद्गुरु की कृ के विना प्रवेश करना अत्यन्त ही असंभव है।

द्वितीय भूमि से विभूति का उदय होता है। तीसर में विभूति की अभिवृद्धि होती है एवं चौथी में विभू की सीमा नहीं रहती। क्योंकि उस समय सूक्ष्म औ कारण सत्ता का योग होता है। किन्तु मन उस सम भी स्वायत्त नहीं होता। दुर्दमनीय वासना उस समय भ सर्वथा क्षीण नहीं होती। इसी लिए किसी किसी पतन की आशङ्का रहती है। हां, साधक यदि संयम और विवेकवान् हो तो ऊर्ध्व गति की संभावना भी रह है। पञ्चम भूमि में मन पर विजय प्राप्त होती है तब सचेतन रूप में इन्द्रियों के न रहने से उनका काम केव मन से ही किया जाना संभव है। स्थूल, सूक्ष्म औ कारण जगत् में इच्छामात्र से अभीष्ट स्थान में प्र हुआ जा सकता है। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता एवं "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" यह श्रुतिव कई अंशों में इस अवस्था में सार्थक होता है। भूमि में ही क्रमशः भगवान् के साथ योग होता

भाव के मार्ग में। कोई-कोई भाव में डूब कर महाभाव तक पहुंच जाते हैं। तब व्युत्थित होने पर मालूम होता है कि अतिसूक्ष्म रूप से निहित वासनाएँ न मालूम कहाँ चली गईं। मन उस समय भी रहता है सही, किन्तु उस में वासना नहीं रहती। यह अति स्वच्छ, विशुद्ध मन है। सभी अन्तराय और विघ्न कट चुके। परन्तु छोटा अहं उस समय भी रहता है। छठी भूमिका की समाप्ति तक यह अहं विद्यमान रहता है। उस समय सर्वत्र और सर्वदा अनन्त निराकार ब्रह्म-स्वरूप के दर्शन होते हैं एवं इस ब्रह्मदर्शन से ही मन की समाप्ति होती है। तीर्थयात्री के सुदीर्घ तीर्थभ्रमण की समाप्ति होती है। भगवत्साक्षात्कार से वह छोटा अहं विलीन हो जाता है। एक अनन्त ब्रह्मदर्शन विराट् 'अहम्' का अवलम्बन कर विद्यमान रहता है। इस तरह जब तक इच्छा हो, रहा जा सकता है। काल, कर्म, नियति और सस्कार कोई भी योगी के मार्ग में बाधक नहीं हो सकते। इसी अवस्था सं व्युत्थानप्राप्ति हो सकती है। यदि किसी का भी व्युत्थान हो तो भी ब्रह्मदर्शन या अद्वैतदर्शन पूर्ववत् अक्षुण्ण ही रहते हैं। व्युत्थानकाल में द्वैतदर्शन केवल अभिव्यक्त होता है। तब सर्वदा सब वस्तुओं में एकत्व का भान होता है। यह पूर्ण ब्रह्मसाक्षात्कार है, यह षष्ठ भूमिका की जाग्रत् अवस्था है। इस प्रकार के सिद्ध योगी छठी भूमिका तक जिज्ञासु साधकों की सहायता कर सकते हैं। पूर्ण चैतन्य के साथ सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं। यही पर मन का आभास रहता है। इसके बाद मन नहीं रहता। छोटा 'अहम्' भी नहीं रहता। सदा के लिए वह विदा हो जाता है। तब एकमात्र पूर्ण 'अहम्' ही रहता है। यही यथार्थ भगवत्सायुज्य है। यह मन के परे महाव्याप्ति की अवस्था है। यही अद्वैतस्थिति है। पूर्णब्रह्म ज्ञान के अनन्तर यही पूर्णब्रह्म प्राप्ति है।

पहली भूमिका से षष्ठ भूमिका तक जो स्तर हैं, उनसे सप्तम भूमिका का व्यवधान रहा। द्वैत से अद्वैत का जो व्यवधान है यह भी वही है। दो के बीच मात्रा का भेद तो है ही, उसके अतिरिक्त स्वरूपभेद भी है। स्वरूप भिन्न है, अतः यह व्यवधान अनन्त हैं। द्वैत सत्ता परिमित सत्ता और अणु सत्ता है। किन्तु अद्वैत सत्ता अपरिमित, अखण्ड और अनन्त भगवत्सत्ता है। इसी लिए दोनों के मध्य असीम व्यवधान है। महा कृपा अथवा परम पुरुषार्थ के सिवा यह व्यवधान हटाया नहीं जा सकता। पहली छः भूमियों में परस्पर भेद हैं और व्यवधान भी है। पर यह शान्त व्यवधान है, क्योंकि दोनों भूमिकाओं में पार्थक्य रहने पर भी दोनों में साधर्म्य है, क्योंकि दोनों ही द्वैत या खण्ड सत्ता है। परिच्छिन्न रूप से सत्तामात्र ही वही है। किन्तु षष्ठ से सप्तम का व्यवधान अनन्त व्यवधान है। प्रथम भूमिका से सप्तम भूमिका बहुत ऊपर होने पर भी सप्तम भूमिका की तुलना में दोनों ही समान रूप से असीम व्यवधान से व्यवहित हैं। प्रथम भूमिका से षष्ठ भूमिका सप्तम भूमिका से अधिक निकटवर्ती है यह कहना नहीं बनता। फिर भी साधक को आत्मविकास के लिए इस सब भूमिकाओं को पार कर आगे बढ़ना चाहिये। क्योंकि आधार का विकास भी पूर्णत्व के पथ में अत्यन्त आवश्यक है।

॥ ॐ [illegible] ॥

श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम काशी में

मातृ-सत्सङ्ग

लेखक—श्री रघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कांतिभाई)

काशी के आश्रम में अन्नपूर्णा के वरामदे में परम पूजनीया श्री श्री माँ की परम पुनीत उपस्थिति में प्रायः सत्संग होता रहता है। स्थान बड़ा सुन्दर एवं साधन-भजन के अनुकूल है; नीचे कलिमल-नाशिनी पतितपावनी श्रीगंगा मइया शांत भाव से प्रवाहित हो रही हैं। समय समय पर जब भी श्री श्री माँ काशी में पधारती हैं तब प्रायः इसी स्थान पर सत्संग हुआ करता है। उस समय सत्संग के शुभ अवसर पर श्री श्री माँ के मुख से जो परम मधुर कथामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था; उसी को मैं, यहां लिपिवद्ध करने की चेष्टा कर रहा हूं। यथासम्भव श्री श्री माँ के मुखनिःसृत शब्दों को ज्यों के त्यों रखने की मैंने कोशिश की है, परन्तु मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मां के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द इसमें लिखा जा सका है। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह से लोग अपनी अपनी शक्ति के अनुसार गंगा-जल ले आते हैं; उसी प्रकार श्री श्री मां के कथामृतरूपी गंगाप्रवाह में से अपनी अल्प शक्ति से जो कुछ भी मैं संग्रह कर सका हूं वह लिख रहा हूं। अतएव भूलचूक के लिए श्री श्री मां के चरणों में क्षमायाचना करता हूं।

२५ नवम्बर १९५६

प्र०—गन्तव्य स्थान में पहुँचने के लिए कोई बैलगाड़ी से जाते हैं, कोई मोटर से जाते हैं, कोई हवाई जहाज से जाते हैं और कोई कोई जैट प्लेन से जाते हैं। इसी प्रकार से भगवान के अनेक नामों में से कौन सा ऐसा नाम है कि जिसका जप करने से जैटप्लेन के समान भगवान के पास शीघ्र पहुँचा जा सकता है ?

मां—पिताजी, सभी नामों में वह शक्ति है। जिस नाम को लेने की इच्छा हो उसी को लो, सब नामों में वैलगाड़ी को सी गति है।

प्र०—किस प्रकार? समझाइये।

मां—जिस प्रकार तुम एक ही व्यक्ति किसी के फूफा, किसी के मौसा, किसी के पिता, किसी के पुत्र लगते हो।

प्र०—इससे और भी स्पष्ट करके कहिये।

मां—तुम एक होते हुए भी किसी के फूफा, किसी के मौसा, किसी के पिता और किसी के पुत्र कैसे होते हो? वैसे ही सब नामोंमें वह शक्ति विद्यमान है। विलकुल स्पष्ट है। तुम विषय के आश्रित हो। नमस्कार भगवान को कर रहे हो एवं जप भी कर रहे हो, लेकिन मन रुपये एवं विषयों में पड़ा है। इसमें पड़े रहने से तुम सोचो यह कौन-सी गति है।

प्र०—सामुके (?) के समान गति।

मां—पिताजी, देखिये एक ऐसा भाव है वि भगवान् की तरफ एक वार देखने मात्र से ही तुम्हा भीतर विद्युत् के आघात के समान स्पर्शमात्र से ही आराम चला जाता है और ऐसा भाव हो जाता है कि मैं कौन हूं? कौन पिता है? कौन माता है!

इस तरह संसार से मन चला जाता है। इस दृष्टि से यह भो सम्भव है कि सारे दिन रात जप करता रहा, लेकिन मन कहां पड़ा रहा? इस गति को भी तुम देखो। इसी लिए जप करते रहने पर भी कुछ परिवर्तन नहीं होता है। इसो प्रकार मन इधर उधर रहने से अर्थात् मन के विषयों में रहने से अव उनकी वैलगाड़ी की गति है या मोटर को गति है या हवाई जहाज की गति है इसी को तुम ठीक करो। मन जितना एकाग्र होगा, उतने ही तुम आगे वढ़ सकते हो। भगवद्दर्शन एक झलक में भी हो सकता है। दो घण्टे में भी हो सकता है एवं वारह साल भी लग सकते हैं।

प्र०—(Shock) आघात देनेवाला तो चाहिये। कौन कार्य करने से आघात लगेगा?

मां—जैसा गुरुजी ने वताया वैसा करो।

प्र०—आशा है क्या?

मां—जैसा गुरुजी ने वताया है वैसा करो। नाम में सव शक्ति है। जो नाम तुम लोगे कैसा करोगे, जैसे तुमको पिताजी कहकर वुलाया तो तुमने उत्तर दिया। तुममें फूफा, मौसा, मामा, पिता, पुत्र सव ही हैं। तुमको पाने से सव ही प्राप्त हो गये।

प्र०—मां ही पेच को वन्द करती है, मां ही खोलती। दुःख रूप में भी क्या मां ही हैं?

मां—मां ही दुःख एवं सुख रूप में है। अगर गर रहे तो अलग वात है।

प्र०—मां एक सेकिन्ड के लिए सर्वत्र मां दिखाओ।

मां—प्रार्थना करते रहो।

प्र०—प्रार्थना करते करते मर जायेंगे?

मां—प्रार्थना करते करते मरना मर जाय तो या हुआ अमृत मिलेगा।

प्र०—धर्म के विषय में अनेक मत-मतान्तर हैं। कौन सा धर्म मानें?

मां—तुमको जो धर्म अच्छा लगे उसी को मानो—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

प्र०—कौन सा सत्य है?

मां—जो अपने गुरुजी वतायें वही ठीक है।

प्र०—जिसको गुरु नहीं है वह क्या करे?

मां—जव तक गुरु न मिलें तव तक मन को भगवान का जो भी नाम अच्छा लगे उसी को जपो। मन को शून्य करके वैठो और सोचो कि एक आत्मा ही है। भगवान को नमस्कार करो यदि भगवद्-नाम या ध्यान अच्छा न लगे तो श्वास में मन रख कर चुपचाप शान्त होकर वैठ जाओ। वाहरी चिन्तन आये तो सोचो कि मन की एकाग्रता भंग हो गई।

मंत्र को श्वास के साथ साथ जपो, देखो तुमको क्या अनुभव होता है। किसी किसी को ध्यान के समय ज्योति में विग्रह के दर्शन होने लगते हैं। चिन्मय विग्रह का भी दर्शन किसी किसी को होता है। जिसको जो अच्छा लगे वह करो। हठयोग, जपयोग, राजयोग आदि हैं; उनमें जो भी अच्छा लगे उसी को करो। करो तो कुछ, वैठे न रहो। हर समय सोचो कि मैं कौन हूं।

प्र०—अविश्वास क्यों आता है?

मां—भगवान का नाम ध्यान में वैठ जाना चाहिए।

प्र०—अविश्वास आने से ध्यान कैसे करें?

मां—गुरुजी का आदेश पालन करो।

प्र०—करते करते जब कुछ भी नहीं मिलता तब क्या करें ?

मां—दिल चाहता है तमाशा। अपने मन का किसी जगह पर लगाओ तो जबरदस्ती करके मनको लगाना चाहिये, यदि मन न लगे तो सोचना चाहिये कि हमारा ही संस्कार खराब है। इसी लिये ऐसा होता है। असली श्रद्धा हुई ही नहीं। खराब संस्कार से अश्रद्धा होती है। कुसंस्कार से दुर्बुद्धि होती है।

प्र०—नाद का ध्यान भी किया जाता है क्या ?

मां—नाद का अथवा अनाहत नाद का ध्यान कर सकते हैं।

प्र०—सकाम प्रार्थना के लिए हम भगवान से विनय करते हैं।

मां—क्या तुम खुशामद की बात कह रहे हो। खुशामद करके भी कोई कोई ले लेते हैं। जैसे कोई वस्तु हमको चाहिये उसके लिए हम खुशामद करते हैं। स्वभाव में विनय का प्रकाश होता है। जहाँ किसी वस्तु की अपेक्षा है वहीं खुशामद है। तुमको खुश करके इच्छा पूर्ण करनी है। तथा एक ऐसी अवस्था होती है; तुम खुश होओ या न होओ वहाँ खुशामद की कोई आवश्यकता नहीं है।

स्तव-स्तोत्र करना ठीक है। फिर भी निजी परिस्थिति के अनुसार अन्तःकरण से प्रार्थना प्रकट होती है हाय भगवान तुम करुणामय हो दयालु हो। फिर स्तोत्रपाठ करने से गुण का प्रकाश होता है। स्तोत्रपाठ इसलिए किया जाता है कि हे भगवान् तुम प्रसन्न होओ।

प्र०—अभी आपसे जो किसी ने कहा कि १ सेकिन्ड के लिए सर्वत्र मां के दर्शन कराओ, यह खुशामद है या प्रार्थना है।

मां—खुशामद की भी एक जगह रहती है। यदि खुशामद करना हो तो भगवान की करनी चाहिये इसमें क्या हर्ज है। अपनी खुशामद को भगवान के चरणों में लगाओ। विषय के लिए मनुष्य की खुशामद क्यों करते हो? यदि खुशामद ही करनी है तो भगवान की करो।

प्र०—स्तव और स्तुति में तो स्वरूप-वर्णन होता है। खुशामद उसको कहते हैं जिसमें जो शुभगुण न भी हो अतिशयोक्तिपूर्वक किसी की प्रशंसा करना।

मां—स्तव और स्तुति किसी प्रकार भी खुशामद करना नहीं हैं। भगवान तो सर्वगुणसम्पन्न एवं सर्व-शक्तिमान हैं। स्तव और स्तुति का स्फुरण स्वभावतः ही होता है। उसको किये विना रहा नहीं जाता।

प्र०—क्या प्रार्थना और खुशामद भी एक नहीं हैं।

मां—प्रार्थना अलग है एवं खुशामद करना उससे भिन्न है।

प्र०—भगवान की प्रार्थना से सृष्टि हुई है ?

मां—किससे प्रार्थना की।

प्र०—अपने पास ही।

मां—जहां कल्पनामात्र से ही जगत् की सृ होती है, वहां प्रार्थना नहीं।

प्र०—मंत्र किसको कहते हैं।

मां—मन का जो त्राण करता है उसी को मं कहते हैं।

प्र०—गुरु यदि मंत्रदीक्षा देकर उसके अर्थ को समझा दें तो उससे क्या हो सकता है। मन एवं प्रा को एकान्त करने के लिए मंत्र है।

मां—नारायण, तुम बोलो मंत्र क्या है? नारायण

स्वामी-मंत्र का मनन करने से और स्मरण करने से भवसागर से पार हुआ जाता है। मंत्र, इष्ट तथा गुरु ये तीनों एक होने चाहिए।

प्र०—मां, आप ही समझा दें।

मां – तुमने क्या पढ़ा है ?

प्र०—बी० एस० सी० पास किया है।

मां—माता पिता जिस प्रकार छोटे शिशु को हठपूर्वक पढ़ाना लिखाना आरम्भ कराते हैं ; एवं जब कि बच्चे को खड़िया, कलम (लेखनी) पकड़ना भी नहीं आता है तब भी वे जोर करके खड़िया अथवा लेखनी पकड़वा कर जोर करके भी बच्चे के मन को पढ़ने में लगाने का प्रयत्न करते हैं। जब धीरे धीरे बालक का मन पढ़ने लिखने में लगने लगता है तो उसे कुछ आनन्द आता है तब वह स्वयं ही पास होना चाहता है ; फेल होना नहीं चाहता। तब इसी प्रकार वह एम० ए० पास करके स्वयं ही दूसरों को पढ़ाने लगता है। बाबा पढ़ना चाहिये। पढ़ने का अर्थ है साधन करना, गुरुजी ने मंत्र दिया है ; जब तक उसका प्रकाश न हो तब तक नियमित भाव से साधन भजन करना चाहिये। यह जो जीवन के पथ को प्रकाशित करने वाली है वह ब्रह्मविद्या है। गुरुजी ने ब्रह्मविद्या के प्रकाशित होने के लिए ही मंत्रोपदेश किया है। ब्रह्मविद्या किसको कहते हैं ? जिससे अविद्या का नाश होता है और जो चीज नाशवान है उसका नाश होता है।

प्रश्न—साधन-भजन करने के लिए शरीर का यत्न करना पड़ता है, आहार विहार कैसा करना पड़ेगा।

मां—युक्ताहारविहार की बात तो कही हुई है। जब तक ब्रह्म का प्रकाश न हो, तब तक उपयुक्त आहार माने जो आहार अनुकूल हो और जिसके खाने से मन एकाग्र हो। नित्य युक्त तो तुम हो ही। उस प्रकाश के लिए चेष्टा करो। मंत्र भी भगवान का विग्रह ही है, जिस प्रकार निराकार निर्गुण हो साकार सगुण जल और बरफ की तरह होता है। भगवान आकार और प्रकार से प्रकाशित हुए हैं। मंत्र से मन का नाश हो जाता है, इसी लिये बीजमंत्र उनका विग्रहरूप ही है।

प्रश्न—जो प्रकाश प्रकाशित होकर पुनः तिरोहित हो जाय, ऐसे प्रकाश के लिए मंत्र जपने की क्या आवश्यकता है ?

मां—जब तक दिल में जिज्ञासा है यानी सन्देह है कि इसको करने की क्या आवश्यकता है ? यों करता हूँ ? ऐसा वह पूछता रहता है। पिताजी, आप तो जानते हैं। जितने मत हैं उतने ही पथ हैं। अनन्त रास्ते हैं। जब वह पूर्ण अवस्था आ जाती है, तब कोई भी प्रश्न शेष नहीं रहता।

प्रश्न—ब्रह्मविद्या ही एकमात्र विद्या है। संसार की डिग्रियों की यहाँ कोई भी आवश्यकता नहीं है। मां आपको मैंने कष्ट दिया है।

मां—बाबा, तुम इस शरीर को अपना समझो, कष्ट तो दूसरा समझने से होता है।

प्रश्न—मैं अपना साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ ऐसा अनुभव किस तरह से होगा ?

मां—कुछ करने से कुछ मिलेगा, कुछ मिलने से कुछ होगा नहीं। अतः पूर्ण रूप से करना पड़ेगा। अपने से ही अपने को जानना पड़ेगा। वे स्वयंप्रकाश हैं। जहां गति है वहां जगत् है एवं जहां गति है वहां मृत्यु है। उनको पाने के लिए आत्मसमर्पण करना पड़ेगा। स्वयं को ही स्वयं के लिए समर्पण करना पड़ेगा।

प्र०—मां, भागवत-पाठ हो रहा था। शुकदेवजी के समान परम वैराग्यवान महात्मा को भी गृहस्थ के घर जाने में कोई आपत्ति नहीं थी, लेकिन आजकल अनेक महापुरुष ग्रहस्थों के घर नहीं जाते हैं।

मां—अनेक महापुरुष गृहस्थों के घर जाते हैं। यदि कोई न जाय, तो अलग बात है। संन्यासी लोग प्रयोजन के अनुसार गृहस्थों के घर जाते हैं।

मुक्ति बावा—गृह माने घर अर्थात् जब तक किसी भी घर में है तब तक वह गृहस्थ ही है।

प्र०—क्या तुमने अपनी आत्मा का पूर्ण दर्शन किया?

मां—क्या किया है? एवं क्या नहीं किया है? जो कुछ भी तुम समझो वही ठीक है।

प्र०—यह तो आपका एक निश्चित उत्तर है।

मां—जो ठीक सत्य है वही उत्तर है।

प्र०—मां, यह ठीक विचार नहीं हो रहा है।

मां—यदि ऐसा है तो तुम ऐसा ही संशय लेकर रहो।

प्र०—स्पष्ट करके समझाने से ही ठीक होगा।

मां—तुम्हारे मन में जो बात आवे वही ठीक है।

प्र०—क्या मैं तुम्हारी परीक्षा करूँ?

मां—परीक्षा करो। तुम अपनी परीक्षा कर लो। पास करो या फेल करो। यहां तो परीक्षा लेनी भी नहीं है एवं देनी भी नहीं है। यहां पास फेल का कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्र०—प्राज्ञ किसको कहते हैं।

मां—क्या प्रज्ञा से प्राज्ञ हुआ है?

शङ्करानन्दजी—प्रज्ञा का अर्थ है कि प्रकृष्ट रूप से जो ज्ञान।

मुक्ति बावा—प्राज्ञ माने प्रायः ही अज्ञ (सब हँस पड़े)।

प्र०—प्राज्ञ किस प्रकार हुआ जाता है? प्राज्ञ माने सत्य ज्ञान।

मां—कुछ नहीं करने पर वे प्रकाशित होते हैं अर्थात् स्वयंप्रकाश हैं।

प्र०—सूर्य और चन्द्र स्वयं प्रकाशित हैं या उनको कोई प्रकाशित कर रहा है?

मां—ज्ञान सूर्य तो नित्य उदित है ही। जो कुछ भी करो पूर्ण भाव से करो।

प्र०—मैंने ॐकार का उच्चारण किया, कुछ हुआ नहीं।

मां—यह जो "मैं" बोला, मैंने ॐ का उच्चारण किया। लेकिन तुम्हारे भीतर संशय रह गया है।

प्र०—फिर क्या करने से होगा?

मां—जब तक मंत्र का वास्तविक उच्चारण नहीं होगा, तब तक फल प्रकाशित नहीं होगा। जब तक भगवत्-प्राप्ति न हो तब तक साधन-भजन नहीं छोड़ना चाहिये।

३० दिसम्बर १९५६

प्र०—मां जो माला आपने दी है उसमें दो फूल भी एक तरह के नहीं हैं। जगत् की यह जो साधारण सी भिन्नता की बात को हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं तो परब्रह्म परमानन्दरूप परमात्मा की ज्ञानसत्ता, आनन्द इन सब को कैसे प्रत्यक्ष कर पायेंगे?

मां—बाबा लिखो और पढ़ो।

प्र०—ऐसी सीधी बात तो मैं भी कह सकता हूँ। जरा स्पष्ट करके समझाइये।

मां—जैसे किताब पढ़ने से उसका विषय ज्ञात हो जाता है वैसे ही फूल क्या है? किसने

किया है और वह क्या देता है। यह जो सृष्टि, स्थिति और लय होते हैं उनका पता लगेगा। पढ़ना याने ब्रह्मविद्या को प्राप्त करना। ब्रह्मविद्या पढ़ने से अविद्या चली जायगी और तुम जो विद्यास्वरूप हो उसका प्रकाश हो जायगा। इसलिए तुम पढ़ो। पढ़ने से तुमको पता लगेगा कि यह गेंद का फूल है; इसलिए तुम पढ़ो, सुनो और प्रत्यक्ष करो। विश्व ब्रह्माण्ड ही सारी किताब है; और यह सबके पास है। ब्रह्मविद्या के लिए गुरु ने जो दिया है उसका जप करो, ध्यान करो एवं उसी तरफ मन रक्खो। ऐसा करते-करते अन्दर का मैल छूट जायगा और पर्दा हट जायगा। पिताजी पढ़ना पड़ेगा एवं करना पड़ेगा। पढ़ते समय पूछना भी जरूरी है जो पढ़ता है उसको पूछना आता है, जो पढ़ता नहीं है उसको कुछ पूछना नहीं है। जो पास कर लेता है उसको पूछना नहीं पड़ता। इसलिए बात यह है कि पिताजी पढ़ाई शुरू करो। अच्छी तरह दिन रात मन लगाकर पढ़ो। पढ़ना माने साधन करना।

प्र०—कहना तो आसान है, किन्तु करना मुश्किल है।

मां—समय को नष्ट नहीं करना चाहिये।

प्र०—हर एक व्यक्ति पूर्णरूप से पुरुषार्थ थोड़ा ही कर सकता है। किसी में ज्यादा शक्ति है, किसी में कम है। जिसमें ज्यादा शक्ति है वह गोल में (लक्ष्य में) में पहुँच जाता है; जिसमें शक्ति नहीं, वह नहीं पहुँच सकता।

मां—यह शरीर जरूर कहेगा कि तुम अपना काम, खाना, पीना, बाल बच्चों का पालन करना सब अपनी शक्ति से स्वयं ही करते हो तो फिर भगवत्प्राप्ति के समय तुम क्यों कहते हो कि मुझमें शक्ति नहीं है। यदि नहीं करोगे तो फिर भोगो जितना करोगे उतना पाओगे, जो पेट भर के खाया है उसका वैसा ही उद्गार तो आयगा ही।

प्र०—अजीर्ण की गोलियाँ भी तो मिलती हैं।

मां—जितना कर सकते हो उतना करो, तुम इससे ज्यादा मत करो।

प्र०—वह तो सब कोई करते हैं, कुछ होता नहीं है।

मां—जितना करोगे उतना होगा ही। बाबा, पढ़ना पड़ेगा। नहीं पढ़ोगे तो पास नहीं होओगे, जानते तो हो ही। तुम हमेशा हो देख रहे हो कि पहले तुम पढ़ते हो फिर तुम अपने कमाते हो और अपने ही खाते हो एवं जिनको अपना समझते हो उनको खिलाते हो, अतः अपने पढ़ो, अपने ज्ञानवान होओ, अपने प्रेम-भक्ति लाभ करो, ज्ञान भी अपना है एवं प्रेम भक्ति भी अपनी है तथा बोध भी अपना है। निरावरण प्रकाश के लिए अपने ही कोशिश करो, अपने को पाओगे दूसरे को नहीं। तुम में जितनी शक्ति है उतनी लगाओ बाकी अपने आप होता है। अपनी शक्ति फिजूल कामों में मत लगाओ, विफल को विफल कर दो। जो पाकर के आराम में रहा क्यों है? कहां है? क्या है? जगत् में भी तो हर वक्त खुशी नहीं है। जगत् का स्वभाव है एक तरफ आराम एवं एक तरफ व्याराम। जगत् परिवर्तनशील है, इसलिए इसमें कभी भी सुख-शान्ति नहीं होती है।

प्र०—जगत् में परिवर्तन कैसे हो रहा है?

मां—परिवर्तन बदलना तुम्हारा ही रूप है। बंधन में जो हैं वह जीव हैं। जहां गति है वह जगत् है। जीवरूप में एवं गतिरूप में कौन है? 'यत्र जीव तत्र शिव', क्या है तुम ही तो, तुम ही बदलने के रूप में रहे थे। जो कर आये वह भोग रहे हो।

अब जिस वस्तु की चाह है उसके लिए भी कुछ करो। भाग्य करने वाला, भाग्य बनाने वाला और भोग ये एक ही हैं—खुद ही हैं। तुम जो हो खुद प्रकाश के लिए क्रिया करो। जो क्रिया तुम कर रहे हो इसके भोग से अतीत नहीं जाओगे।

प्र०—तुम खुद हो यह बात समझ गये।

मां—समझने से नहीं होगा। समझ तथा बेसमझ से पार जाना पड़ेगा।

प्र०—आप कौन हैं? अपनी शक्ति लगा दो।

मां—अन्नपूर्णा के पास बैठो हो; जरूर कुछ कर रहे हो।

प्र०—ज्यादा करा दो माँ।

मां—तुमको कुछ नहीं करना है? वे ही सब कर दें यह बुद्धि ठीक नहीं है। तुम्हारे लिए तुम्हारी स्त्री खाना बना देती है, तुम आराम से खा लेते हो। आराम की अपेक्षा करते करते ऐसा अभ्यास हो गया है। आलसी होने की कोशिश क्यों करते हो। आलस्य तुम्हारे लिए विघ्न है।

माँ को खोकर माँ को पाया

गोपाल

(गताङ्क से आगे)

तीन

मां,

तेरी पूजा में हम कितना करते हैं आडम्बर,
श्लोक पाठ औ धूप दीप की आरती शङ्ख बजाकर।
जो चखने की इच्छा होती, रसना की जिससे हो तुष्टि,
थाल उसी अनुकूल सजा कर चाहें तेरी दृष्टि॥
बस केवल मौखिक स्तुति कर, चाहें तुझे मनाना,
भोग-थाल से होता लेकिन मुश्किल चित्त हटाना।
तेरी इच्छा मैं क्या जानूँ, क्यों भेजा मुझको इस भू पर!
मेरी इच्छा केवल इतनी, दया रहे बस मेरे ऊपर॥

अनेक वर्षों पूर्व के दैनिक जीवन की एक कौतुकपूर्ण घटना है। जीवन आर्थिक चिंताओं से पूर्ण था। किसी ने शायद समझा दिया था कि प्रत्येक बृहस्पतिवार को लक्ष्मीदेवी की पूजा करने से वह प्रसन्न हो सकती हैं।

अनुमति मांगी। मेरी तो सदा से ही विकृत बुद्धि है। जो भगवान् खुशामद चाहते हैं वह और सबके भगवान् हो सकते हैं मेरे नहीं। मेरे भगवान् न्यायदर्शी हैं। उनका निर्णय पूर्ण संतुलित होता है। वह निर्गुणाय गुणात्मने' हैं। मेरा जितना प्राप्य है वह झे मिलेगा ही चाहे सुख से चाहे दुःख से। मां की जतनी ही योग्य संतान बन सकूंगा उतना ही मां के नेह का अधिकारी हो सकूंगा। मां का गुणगान र के, मां की कथा कह कर मैं धन्य होना नहीं चाहता। मेरे जीवन में मां की इच्छा परिपूर्ण हो जाय तभी धन्य होऊँगा। फिर भी किसी के विश्वास को आघात पहुंचाने का अधिकार तो मुझे नहीं है।

प्रत्येक बृहस्पतिवार को घट स्थापित करके लक्ष्मीजी की पूजा होने लगी। पूड़ी, सन्देश और खीर का भोग लगता। सब कुछ अपने ही हाथों आनुष्ठानिक भाव से करती। रञ्चमात्र भी त्रुटि रह न जाय इसकी प्राणपण से चेष्टा होती।

एक बृहस्पतिवार की रात को लेटा था। मेरी छोटी लड़की कह उठी "मां, रोज रोज बृहस्पतिवार होता तो बड़ा मजा आता।" दूसरे एक बृहस्पतिवार को सुना—"मां भी कैसी हैं। जरा जल्दी पूजा नहीं निपटा लेतीं। पूड़ी की गन्ध से कितनी भूख लग आती है।"

"देखो अबसे देवार्पित भोग घर का कोई भी नहीं खायगा। इसे दरिद्रनारायण की सेवा में अर्पित करना होगा। जिन्होंने जीवन में कभी इन सब का स्वाद भी नहीं पाया है उनमें यह प्रसाद अपने हाथों बांटना पड़ेगा। उनकी तृप्ति ही भगवान् की तृप्ति है।"

कुछ दिन बाद कठिन पीड़ा के कारण शैय्या पर पड़ जाना पड़ा। लक्ष्मीदेवी का भोग बताशों में बदल गया। मुझे तब भी कोई दुःख न था। जो इस सबकी आयोजिका थी उसी के मुख से सुना "सचमुच जी, यह बड़ा अनुचित हो रहा था। देवता के भोग में लोभ! न जाने कितना पाप अपनी सन्तान पर पड़ता।"

क्यों मां इतनी पीड़ा देतीं ?
पीड़ा देकर क्या हो पाती ?
मां हो न ! पीड़ा देकर, जाने कितनी
पीड़ा स्वयं उठातीं ।
मुझे सम्मिलित करलो उस पीड़ा में ।
व्यथा-अश्रु तो पोछ सकूं ऐसा मुझे बनातीं ।

चिकित्सा के सिलसिले में उस समय के परगना हाकिम से परिचय हुआ था। वातों वातों में उन्होंने कहा "मेरा एक अत्यन्त बूढ़ा चपरासी है। पेन्शन की उम्र पार कर गया है, किन्तु उसकी पेन्शन कर देने को हृदय नहीं चाहता। सुनता हूँ, कुछ ही दिनों के भीतर उसका सर्वनाश हो गया है। उसके परिवार के सब प्राणी मर गए हैं। केवल एक वचा सा नाती वचा है। वह भी चलाचली पर है। जरा देखियेगा।"

संध्या को वृद्ध चपरासी के साथ उसके नाती को देखने गया। बस्ती में फूस का घर, मिट्टी की दीवाल, वह भी चिकित्सा का व्यय चुकाने में रेहन पड़ा हुआ। कोने में मिट्टी के तेल की ढिवरी टिमटिमा रही थी। बांस की चारपाई पर सैकड़ों छेदों से भरी एक दरी पर २-२॥ वर्ष का एक कङ्काल-प्राय शिशु पड़ा था। चारपाई के धंस जाने के भय से उस पर वैठने का साहस नहीं हुआ। खड़े खड़े ही देखना पड़ा।

राजयक्ष्मा था। अपनी अंतिम अवस्था पर। इस अभागे रोग में ही घर के सारे प्राणी चले गए थे। यह भी बुझने बुझने को था। असाध्य रोग उसपर भी अंतिम अवस्था। उन दिनों इस रोग की कोई दवा थी ही नहीं, विशेष कर वच्चों के इस रोग की। वड़ा लाचार था। तव भी मन को सन्तोष देनेवाली बातें करनी पड़ीं।

"दवा हम अस्पताल से ला देंगे, तुम खाली वच्चे को दूध पिलाओ। वकरी का हो तो और अच्छा है।"

कुछ दिन चला। बीच बीच में देखने या दवा दे जाता था। कहने को कुछ था ही क्या, वेटा दूध पि हो न ?

जेठ की लू प्रचण्ड वेग से चल रही थी। अस्पता से लौटते हुए दवा की शीशी हाथ में लिए हुए पहुँचा रात को वरामदे में सोने को कहा था। वावा भोर काम पर गया था पोता वाहर वरामदे में पड़ा थ ज्वर से शरीर तप रहा था, उस पर से लू। झट बच्चे को गोद में लेकर चारपाई खींच कर भीतर गया। बदन जरा पोंछ दिया।

"हां वेटा, दूध पिये हो न ?"

"डाक्टर साहव, हमारा वावा वड़ा झूठा है। अ मैंने पकड़ लिया, मैदा पानी में घोल कर कहता है दूध

मैं पत्थर हो गया।

दादा किस दुःख से वंश के अंतिम बुझते चिराग को मैदा घोल कर दूध कह कर पिला रहा सोच कर भी नेत्रों का जल रोकना कठिन हो गया।

घर लौट कर कहा "सुनती हो, आज से दूध पीऊंगा। सारी घटना कह सुनाई।

"तुम्हें दूध बहुत पसंद है, दूध पीना मत छो इन बच्चों को दूध पिलाने का जिम्मा मेरा। सिर्फ को नहीं, वल्कि प्रतिज्ञा करती हूँ कि प्रतिदिन साध्य जितने बच्चों को पिला सकूँगी दूध पिलाऊंगी।

"सिर्फ इतने से ही नहीं होगा। कहो, मकान वनवाऊंगी, जमा-जत्था नहीं करूंगी, गहना साड़ी वनवाऊगी, कोई फिजूलखर्ची नहीं करूंगी, न कर न करने दूंगी। जितना कर सकूंगी सिर्फ मा एवं दुःखी बच्चों को दूध पिलाऊंगी।"

"तुम्हारी इच्छा यथासाध्य पूरी करूंगी, इसमें नहीं पड़ेगा।"

"तुम्हारी पूजा के भोग में केवल दूध रहेगा और वह प्रसाद वितरित करना।"

हां जी हां, यही होगा, अब कपड़ा-वपड़ा उतारो ; भोजन करो।"

उसने अपने वचन के विरुद्ध कभी नहीं किया। जीवन के अन्तिम दिनों तक वही कर गईं।

माँ,

पूजा मुझको नहीं सिखायी,
कैसे पूजा करूं तुम्हारी
और नहीं जानूं कुछ, बस मैं
हूँ तव चरण पुजारी ।
मुझे जगत में भेजा था क्यों ?
पूरा कर लेना उद्देश ।
कैसे, किसकी पूजा करनी होगी,
दे देना उपदेश ॥

हम दोनों माँ के चरणों के निकट बैठे हैं। स्थान है, आनन्द काशी। नीचे स्वच्छतोया गंगा। सहसा मां गा उठी,

"गोपाल, गोपाल, ब्रह्म गोपाल"

स्वर्गीय स्वरलहरी ने हवा के झोंके की तरह बुद्धि का द्वार खोल दिया। मूर्ख का अज्ञानान्धकार एक क्षण में ही आलोकित हो गया। मां ने तो मेरे ही प्रश्न का उत्तर दिया "कैसे, किसकी, पूजा करनी होगी ? दे देना उपदेश।"

बाल गोपाल रे बाल गोपाल ! तू जातिभेद नहीं मानता। बाल गोपाल की कोई जाति नहीं है। एक महीने के शिशु को कोई देखकर यह नहीं कह सकता कि वह ब्राह्मण है या चमार ; हिन्दू है या मुसलमान, इसाई है या बौद्ध। बाल गोपाल का कोई धर्म नहीं होता। बाल गोपाल को भेदाभेद का ज्ञान नहीं होता। बाल गोपाल गरीब अमीर नहीं जानता। बाल गोपाल की भाषा में कलह नहीं है। वह पहचानता है, जानता है केवल—माँ को। बाल गोपाल षड्रिपुओं के प्रभाव से मुक्त रहता है। काम नहीं है सिर्फ माँ है। अपने पराये का भेद नहीं है, वह समदर्शी है। बाल गोपाल केवल रोना जानता है। माँ को पाते ही बस चुप। बाल गोपाल को नग्नावस्था में ही आनन्द है, कोई आवश्यकता नहीं।

घर जाकर कहा "अजी सब प्रश्नों का समाधान हो गया। हम लोग बाल गोपाल पूजेंगे—भोग होगा दूध।" दूध से पवित्र और कुछ नहीं है। दूध माता के वक्ष में संचित अमृत है। पूर्णाङ्ग खाद्य है। निरामिष है—आमिष नहीं। निरोग, रोगी, भोगी का खाद्य है। सर्वकाल, सर्वदेश के मानव शिशुओं के जीवन-प्रवाह का संजीवन अमृत है। दूध से श्रेष्ठ भोग नहीं है।

माँ के चरणों में अपने काम्य स्वप्न की कथा निवेदित की।

माँ की उसी करुणाविगलित, स्नेहविच्छुरित आशीष धारा में स्नान करके पवित्र हो गया।

काशी लौट आया।

दुर्गाजी मन्दिर के पास से गुजर रहे थे "अच्छा जी, हमारी माँ आनन्दमयी और यह दुर्गा माता एक ही हैं न ?"

"माँ की करुणा प्राप्त करो, देखोगे कि सब एक हैं।"

"आनन्दमयी की करुणा पाऊँगी क्या ?"

"मिला, मिला। संस्था का नाम खोज रहा था न ? माँ ने तुम्हारे मुख से कहला दिया "आनन्दमयी करुणा।"

"वाह कैसा सुन्दर नाम है। यही नाम रहेगा।" दोनों प्राणी यह नाम जपते जपते लौटे।

माँ,
तुम अचिन्त्य हो तुम अव्यक्त हो।
सुनकर भी है प्यार किया।
सीमाहीन, अनन्त व्योम ने
तव प्रकाश का ज्ञान दिया।
रूप, गन्ध, रस, वर्ण, भजन में,
तेरा करता था सन्धान।
सृष्टि तुम्हारी ही लीला भू,
चिराराध्य है तुम्हें प्रणाम।

× × ×

माँ,
तुमने कहा था
काम है महापाप,
काम बने प्रेम।
तुमने कहा था
क्रोध है अभिशाप,
क्रोध बने क्षेम।
तुमने कहा था
लोभ है असंयम,
लोभ शेष हो दान से,
तुमने कहा था
मोह अन्धतम,
मोह दूर हो ज्ञान से।
तुमने कहा था
दम्भ सर्वनाश करता,
दम्भ धूल में मिले।
तुमने कहा था
अहं तामस भाव भरता,
अहं पर सेवा को विजय मिले।
तुमने कहा था
मिथ्या मृत्यु सम,
मिथ्या हो सत्य वाणी।
तुमने कहा था
हिंसा अधोतम,
हिंसा हो स्नेह कहानी,
तुमने कहा था
हरि, हर, राम
को करना नमन,
तुमने कहा था
हम गोपाल,
सब जीवों में नारायण।
तुमने कहा था
वह है दीनदयाल,
सब जीवों पर सदा कृपाल,
तुमने कहा था
मत विसरा नर नाम,
हरि करते व्यथा हरण।
तुमने कहा था
करना उनका ध्यान,
चरणों में लेना शरण।
तुमने कहा था
तू बेटा मैं तेरी माता।
इसका आर न पार
यह तो शाश्वत नाता।
तुमने कहा था
तभी तो अपनी चिन्ता,
तेरे चरणों में सौंप मैं निश्चिन्त हो

× × ×

माँ,

कुछ दूर खड़ा तेरा मुखड़ा
सब के पीछे से निरखूँगा।
तव रूप-सुधा मे मिटे क्षुधा
बस और न कुछ मागूँगा।
विना पमारे, हाथ हमारे
तूने कितना दान दिया।
दी भक्ति चरण में लिया शरण में
मुझको कितना ज्ञान दिया।
पर लोभी मन चाहे हर क्षण
धन, जन, सुख, यश, मान।
जान बूझकर स्वार्थ दुःखकर
कितना यह नादान।
सुख दुख जाल मेरे भाल
जो हो सह लेने देना।
कृपा याचना पड़े न करना
पालन मेरा कर लेना।
सेवा जन की नारायण की
मैं तो तुझसे लूगा मांग।
चरण पाद में निर्विवाद मैं
दूंगा, तू मुझसे कुछ मांग।

चार

एक दिन रोगियों की सेवा करते-करते थक कर उठने को ही था कि तीन-चार गेरुआ-वस्त्र-धारी संन्यासी आ पहुँचे। उनमें से एक मेरे पूर्वपरिचित थे।

"डाक्टर साहब, एक साधू महात्माजी अस्वस्थ हैं। आज कुछ दिनों से शरीर विकल है। महात्माजी बहुत वर्षों से अपना कमरा छोड़कर बाहर नहीं आते। किसी से मिलते भी नहीं। महान् पण्डित हैं। कृपया एक बार देखिएगा। कष्ट तो आपको जरूर होगा। महात्माजी ललिताघाट पर रहते हैं।"

"शाम को पाँच बजे आ जाइयेगा साथ ही चलूँगा।"

ठीक ललिताघाट के ऊपर। मालूम पड़ा कोई मन्दिर है। पास ही तितल्ले पर छत। खूब बड़ी छत। समस्त काशी और गंगा दृश्यमान थीं। तितल्ले छत पर एक छोटा सा कमरा। छत की ओर कोई जंगला नहीं था। सिर्फ एक दरवाजा था वह भी भीतर से बन्द था। साथी संन्यासी ने चिल्लाकर कहा, "महाराज, डाक्टर साहब को ले आया हूँ।" भीतर से चिटकनी खुल गई। देखा, सामने गौरवर्ण के एक सत्पुरुष खड़े थे। छोटा सा एक गेरुआ वस्त्र पहने थे। स्मित हास्य से कहा "आइये।"

भीतर गया। कमरा खूब साफ सुथरा था। एक ओर पुस्तकों और पोथियों का ढेर। दूसरी ओर एक कम्बल का आसन और एक व्यक्ति के सोने लायक छोटी सी एक चौकी। चौकी पर एक चटाई। जान पड़ता था कश्मीरी हैं और अवस्था चालीस से अधिक नहीं। पीछे मालूम हुआ, मेरा अनुमान ठीक था।

"आज कुछ दिन से तबीयत ठीक नहीं है। पेट के दाहिनी तरफ ऊपर के हिस्से में दर्द है, कुछ खाने से और वृद्धि होती है। शरीर में ज्वरांश का बोध होता है। भोजन को रुचि नहीं है। लघुशंका अशुद्ध है।"

खैर, बाबाजी की अच्छी तरह परीक्षा की। आमाशयजनित यकृत् की गड़बड़ी थी। बतलाया।

"हाँ, बीच बीच में आमरक्तका प्रकोप हो जाता है।"

"इतना रोग को बढ़ने क्यों दिया किसी को दिखाया क्यों नहीं?"

क्या करूँ, माँ से पूछा, माँ ने कहा अभी चलने दो। तब फिर जब बहुत कष्ट हुआ तब माँ ने कहा डाक्टर

को बुलाकर दिखाओ। तब मैंने अपने मित्र इन्हीं महाराज से कहा।"

"ठीक है दवा का प्रबन्ध कर देता हूँ। कुछ दिन भोजन इत्यादि की कठिनाई करनी पड़ेगी।"

"आप अच्छे फँसे हो डाक्टर। दक्षिणा तो मिलेगी ही नहीं ऊपर से दवाई का भी खर्चा करना पड़ेगा।"

"अच्छा उसके लिए आप चिन्ता मत करो। आपके भोजन का क्या-क्या प्रबन्ध है? मैं सुनना चाहता हूँ, क्योंकि उसमें बहुत संयम करना पड़ेगा।"

"डाक्टर साहब, मैं बहुत वर्षों से नीमक और मीठा नहीं खाता हूँ। काफी दिन हो गए कि अन्न भी नहीं खाया। दिन में एक ही बार भोजन करता हूं। दोपहर को तरकारी की सट्टी उठ जाने पर जो कुछ शाक पात जमीन पर पड़ा रहता है, हमारा एक आदमी वहां सब बटोर के ले आता है, वही सब पानी में उबाल कर दोपहर को भोजन होता है। और रात को एक दवा जी कुछ दूध हमारे लिए भेज देती हैं वही पीता हूं। और जो संयम कहिये करने के लिए मैं तैयार हूँ।"

समझ गया बाबाज़ी के यकृत् में विकार क्यों है। शायद अधपका अखाद्य शाक-पात खाने से ही रोग उत्पन्न हुआ है। दवा चुनने की समस्या तो कुछ सरल हुई परन्तु पथ्य चुनने की समस्या अधिक जटिल हो गई। विचार किया कि यकृत् के रोग के साथ निश्चय ही खाद्य प्रोटीन, विटामिन की अत्यन्त कमी है। तब ग्लूकोज ही यकृत् का शक्तिरक्षक है।

रोजाना सेव और मुसम्मी का रस दो दफे लेना पड़ेगा, कम से कम पाव पाव भर दूध। दूध का परिमाण बढ़ाना पड़ेगा। मट्ठे में नीबू निचोड़ कर पीजिए तो और अच्छा है। दो एक रोज ऐसे ही चलने दीजिए तब फिर विचार किया जायगा।"

स्वामीजी को साथ ले आया, दवा की पुड़िया दे और फल का प्रबन्ध कर दिया।

शाम को कमरे में मां के निकट। "मां, आज एक अद्‌भुत जीव देख आया।"

मां सहसा व्यथित कण्ठ से बोल उठीं, "पिताजी, इस तरह मत बोलो—अश्रद्धा से मत बोलो, अपने शब्द वापस ले लो।"

"वाह रे मैं किसकी बात कह रहा हूँ, तुम क्या जानो? मैंने किसी का नाम तो लिया नहीं।"

"जानती हूं, जानती हूँ, तुम शंकर भारती बाबा को देखने गये थे। अपने शब्द वापस लो।"

"अच्छा भाई वापस लेता हूँ। इसी बीच न जाने कौन तुमसे आ कर कह गया? अच्छा, मेरी एक समस का तो समाधान कर दो। जो न नमक खाय, न मीठ खाय, न अन्न खाय, उसे क्या खिलाऊँ?"

"क्यों, छेना!"

सच तो, छेना का तो एकबार भी स्मरण नहीं आया। दूसरे ही क्षण सोचा कि उन्हें छेना बनाकर देगा कौन। बाजार का खायेंगे नहीं। बंगाली को छोड़कर बढ़िय छेना बनाना भी कोई नहीं जानता।

"पिताजी, क्या सोच रहे हो?"

"सोच रहे हो कहती हो, उसे छेना बनाकर देग कौन?"

"पिताजी, तुम तो दो दिनों बाद जाओगे! त ठीक है, इसी आश्रम से रोज छेना भेजा जायगा, हां यदि वह खाय, फिर यहां से भेजा हुआ खाय।"

"ठीक है मां, परसों जाऊंगा तो पूछूँगा। अच्छ मां, तुमने क्या उन्हें देखा है?"

"नहीं पिताजी, देखा नहीं है। फिर भी सुना कि वह अगाध पण्डित हैं, उच्च कोटि के संन्यासी हैं।

"तुमसे मुलाकात हुई है ?"

"नहीं, मुलाकात नहीं हुई। दो बार इस शरीर के जाने की चर्चा उठी थी, पर घटनाचक्र से जाना नहीं हो सका।"

उसके दूसरे ही दिन शाम को स्वामीजी के पास गया। दरवाजा बन्द था। आवाज दी। डाक्टर सुनते ही दरवाजा खुल गया।

"आपके तो कल आने की बात थी।"

"हाँ महाराज, ऐसा ही था। परन्तु कुछ परिस्थिति ऐसी हुई कि आज ही आना पड़ा। "अच्छा माता आनन्दमयी का नाम तो आपने सुना ही होगा।"

"खूब सुना है, परन्तु दर्शनका सौभाग्य नहीं हुआ।"

"क्यों माँ के पास जाने में हरज क्या था ?"

"डाक्टर साहब; नाराज मत होना। हमारी भी आनन्दमयी माँ के ऊपर ऐसी ही भक्ति, श्रद्धा है जैसी तुम्हारी है। परन्तु मैं क्या करूँ ? अपनी आनन्दमयी माँ से मिलने के बारे में माँ से पूछा, परन्तु माँ ने कहा अभी समय नहीं हुआ। तो मैं क्या करता ?"

"कुछ समझ में नहीं आया। क्यों आपकी माँ ने मना किया ? मैं आपकी माँ से मिलना चाहता हूँ। बहुत पर्दा तो नहीं है ? मैं पूछूँगा क्या हमारी माँ से मिलने में आपत्ति की ?"

"पर्दा तो रखती हैं। अपने मर्जी माफिक पर्दा हटाती हैं, आपसे करेंगी या नहीं यह तो मैं नहीं जानता तब भी चलिए।"

घर के पीछे की ओर एक सीढ़ी नीचे उतर गई थी। मुझे लिवा कर आगे चले। नीचे एक छोटा कमरा था। दीवाल में माँ जगदम्बा की मूर्ति उत्कीर्ण थी। मूर्ति दिखाकर कहा "यही हमारी माँ हैं। हम ऊपर जाते हैं आप बात चीत करिये।"

बेवकूफों की तरह खड़ा रहा। अश्रद्धा नहीं किया। सुना है, भगवान् परमहंस भी इसी तरह की बातें करते थे। तब भी, यह भारतीजी के मन का भ्रम भी तो हो सकता है। अशरीरी से बातें करना तो उन्माद रोग का लक्षण प्रायः ही देखा जाता है। भ्रान्त चित्त से ऊपर आया।

"वह माताजी आपसे बात चीत करती हैं ?

"हाँ जी रोज ही। कभी कभी तो अचानक इसी कमरे में आ जाती हैं। इसी कारण से तो दरवाजा बन्द रखता हूं। बड़ी ही मौजी हैं। मौज का कुछ भी तो पता चले ? उनसे बिना पूछे मैं कुछ करता नहीं हूँ। आपको जो बुलाया वह भी माताजी से पूछ कर। आनन्दमयी माता को मेरा सहस्र कोटि प्रणाम दीजिएगा, और कहियेगा कि जिस रोज हमारी माँ ने कहा कि समय हो गया उसी रोज मैं स्वयं आ के माताजी का दर्शन करूँगा।"

"अच्छा माताजी के यहाँ से आपके लिए छेना और फल इत्यादि, माताजी की इच्छा से, भिजवा दिया जाय तो लीजियेगा न ?"

"मैं तो माताजी का बालक हूँ, इसमें पूछना ही क्या है।"

उसी दिन से आजतक माताजी के यहां से नियमित रूप से स्वामीजी का भोजन जाता है।

उस समय वर्षा का आरम्भ था। आकाश मेघाछन्न ही रहता था। कभी बरसता कभी नहीं बरसता। आश्रम में शायद कोई उत्सव चल रहा था। बरस पड़ने वाले मेघ छाए रहते। आश्रम में कीर्तन और नाम गायन का समारोह चल रहा था। सहसा एक दिन सुना, दोपहर को शंकरभारती जी आश्रम में आए, मातृ-दर्शन के लिए।

सुनकर आनन्द तो हुआ ही कुछ क्षोभ भी हुआ। स्वामीजी जानते ही थे कि वह मां का दर्शन करेंगे और मुझे इस बात का कितना आग्रह था। जरा मुझे सूचित करके नहीं जा सकते थे। स्वामीजी के मातृ-दर्शन के समय मैं भी उपस्थित रहता। शंकित चित्त से पुनः स्वामीजी के पास गया। शिकायत की।

"मैं क्या करूँ डाक्टर साहब। आज सवेरे एकाएक हमारी मां ने कहा—जाओ आज ही आनन्दमयी माताजी का दर्शन कर आओ। आज लग्न मुहूर्त अच्छा है। वह तो हमारा ही अंश है। मैंने कहा मैं कैसे आऊँ? मैं कभी घर से बाहर नहीं निकला। कोई रास्ता नहीं जानता। कहां आनंदमयी रहती हैं सो भी नहीं जानता। किस से पूछूँ किसी को जानता भी तो नहीं हूँ। और पानी बरसेगा तो मैं क्या करूँगा? मां ने कहा तू मां का नाम जपते जपते चलते रहना पानी नहीं बरसेगा। जहां कीर्तन की आवाज़ सुनना वहीं खड़े हो जाना। सामने देखोगे मां।"

समझ गया कि एक जगत् ऐसा है जहां का का कलाप हमारी समझ के बाहर ही क्या दुर्ज्ञेय भी है।

माँ, मेरी माँ,
नहीं चाहता परिचय तेरा
तुम ही दानव दलिनी? महिषमार्दिनी?
परमेश्वरी? जननी? जगद्धात्री?
सर्वदेव देवी? तुम तेजमयी
तुम महाशक्ति? अभया? भवानी?
सर्वमंगला? तुम मां कल्यानी?
तुम आधाशक्ति? विश्वजननी
हरमनोरमा? कैलास चन्द्रना
अन्नपूर्णा तुम? तुम ईशानी
तुम मेरी मां बस इतना ज्ञान
स्नेह धार बरसाना मुझपर
देना पदपंकज में स्थान।

ॐ

अनुकम्पा-धारा

श्रीचरणकमलाश्रिता

अल्मोड़े में माँ का जन्मोत्सव

(५)

इस वर्ष १९५४ में माँ का जन्मोत्सव अल्मोड़े के आश्रम में हुआ। अल्मोड़े का आश्रम भी सुन्दर शांत एकांत स्थान में है। सदा की भांति बड़े धूमधाम से उत्सव चला। इस बार एक विशेष बात यह थी कि इस उत्सव के बीच विविध प्रकार के संस्कार तथा अखण्ड-पाठादि हुए। अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह की 'सिल्वर जुबली', श्राद्ध, संन्यास आदि अनेक संस्कार हुए। श्रीरामायणजी का सम्पुटसहित २४ घण्टे के लगभग अखण्ड पाठ तथा श्रीमद्भागवत का २४ घण्टे से कुछ अधिक अखण्ड मूलपाठ हुआ। जिन पण्डितजी ने श्रीमद्भागवत-पाठ किया, वे वैसे तो १०८ बार श्रीमद्भागवत का पाठ कर चुके थे; परन्तु इस बार उनकी इच्छा हुई कि एकासन से माँ के सामने श्रीमद्भागवत का अखण्ड मूलपाठ करें। रात में उनको जब नींद आने लगती थी, तो जो लोग जापक व धारक बैठे थे वे माँ के आदेशानुसार घण्टी बजा देते थे, जिसमें पाठ खण्डित न होने पावे। यह भागवत-पाठ भी देखने योग्य था।

पूर्णिमा की रात में स्त्रियों का अखण्ड कीर्तन तथा नाम-यज्ञ में पुरुषों का उदयास्त अखण्ड-कीर्तन बड़ा सुन्दर हुआ। नाम-यज्ञ में भक्त लोग जब घूम-घूम कर कीर्तन करते-करते उसी में तन्मय हो गए, तो माँ भी उनके बीच घुसकर एक हाथ उठा-उठाकर कीर्तन करने लगीं। माँ के साथ आनंद से उछल-उछलकर वे सब कीर्तन करने लगे।

पूर्णिमा की रात को इस बार स्त्रियों का अखण्ड कीर्तन बड़ा ही सुन्दर रहा। बहुत-सी पहाड़ी बहनें कीर्तन के लिए रात भर रुक गईं। कीर्तन बड़े हॉल में मां के सामने आरम्भ हुआ। पुरुषों को वहां आने की मनाही थी। कुछ स्त्रियां नाचीं भी। मां ने मुझे भी नाचने के लिए इशारा किया। ठीक से न आने पर भी उल्टा-सीधा नाची, मां की आज्ञा जो थी। १ बजे के लगभग मां चली गईं। हम सब समझे कि मां विश्राम के लिए गई और अब प्रातःकाल ही मां के दर्शन होंगे। कीर्तन चलता रहा। मैंने एक पहाड़ी बहिन से (जो बड़ी प्रसन्न-बदना थीं) नाचने के लिए कहा तथा अपनी एक साड़ी लाकर उन्हें पहनाने लगी। इतने में मैंने देखा एक स्त्री सुन्दर बनारसी साड़ी पहने, घूंघट काढ़े आई तथा मेरे सामने तनिक झुककर, अपने दोनों हाथों से घूंघट उठाकर मेरी ओर देखा। मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ तथा यह समझने में कुछ समय लगा कि मैं क्या देख रही हूँ। वह स्त्री और कोई नहीं, विश्वजननी मां ही श्रीराधा सजकर आई थीं। मां की उस समय की वह दृष्टि तथा वह दिव्यमूर्ति अभी तक मेरी आंखों के सामने है, पर वर्णन कैसे करूं? वही कहावत है कि आंखें जिन्होंने देखा, बोल नहीं सकतीं

तथा मुख जो बोल सकता है, वह देख नहीं सकता तो फिर ठीक ठीक कैसे बताया जा सकता है। उनकी आंखों में तथा चेहरे पर एक दिव्य प्रकाश था। जब सब स्त्रियों ने मां को पहचान लिया, तो चारों ओर से घेर लिया तथा आनन्दविभोर होकर उच्च स्वर से कीर्तन करने लगीं। एक बहिन प्रेमावेश में मां के चरणों में लिपट गईं। इसी बीच जब स्त्रियों ने एक दूसरे का हाथ पकड़ कर मां के चारों ओर घेरा-सा बना लिया था तथा समझ रहीं थीं कि मां इसमें से नहीं निकल पायेंगी, मां बड़े ही सुन्दर ढंग से भुलावा देकर सबके देखते-देखते एक ओर से निकल कर चली गईं। रात अधिक बीत गई थी। सोचा, अब मां विश्राम करें तो अच्छा ही है। कीर्तन चलता रहा। थोड़ी देर बाद क्या देखते हैं कि सहसा मां इस बार "ग्वाल-कृष्ण" वेष धारण करके फिर कीर्तन-हॉल में पधारी हैं। सिर पर पगड़ी, कमर में पटका तथा हाथ में एक काफ़ी बड़ा डण्डा! वह छवि देखते ही बनती थी। इस बार मां को सबने तुरन्त ही पहचान लिया। सब के आनन्द की सीमा न रही। मां को स्त्रियों ने फिर चारों ओर से पहले की भांति घेर लिया। एक पहाड़ी बहिन, खितचारी नाम की, घेरे के अन्दर माँ का हाथ पकड़ कर नाचने-सी लगीं और सब स्त्रियाँ आनंद सें माँ के चारों ओर घूम-घूम कर कीर्तन कर रही थीं। बिल्कुल रास-जैसा दृश्य था। एक भाई को किसी प्रकार पता चल गया कि माँ कृष्णवेष से कीर्तन-हॉल में हैं, तो उनके मन में यह इच्छा हुई कि खिड़की से तनिक झांक कर ही मां की यह लीला देख लें। पर माँ से कौन-सी बात छिपी रह सकती है, क्षण भर में खिड़की के पास पहुँच गईं तथा कुछ हँसी में तथा कुछ शिक्षा के ढंग से उनको डंडा दिखाया, तो उन बेचारे से भागते ही बना। थोड़ी देर बाद शायद २ बजे के लगभग मां विश्राम करने चली गईं। प्रातःकाल कीर्तन समाप्त होने के समय फिर पधार कर उन्होंने बालभोग-प्रसाद, स्वयं अपने कर-कमलों से बांटा। सब में होते हुए भी सबसे अलग सर्वभावमयी एवं भावातीत भी—सर्वगुणमयी एवं गुणातीत भी— ऐसी पूर्णात्-पूर्ण मां भक्तों को उनके भावानुसार आनंद देने के निमित्त कितनी लीलाएँ करती हैं! मां की अपार महिमा को समझ सके, ऐसी शक्ति किसमें है?

एक दिन किसी पहाड़ी बहिन ने मां को अपने यहां बुलाया तथा कीर्तन, सत्संगादि का प्रबंध किया। मेरी तबियत ठीक नहीं थी, कमजोरी भी काफ़ी थी। पर माँ के साथ जाने के उत्साह में जब और भाई-बहनों को जाते देखा, तो मैं भी पैदल चल पड़ी। जब उन बहिन के घर से माँ आश्रम लौटने के लिए अपनी डांडी में बैठ कर चलीं, तो बहुत से भाई-बहिन माँ की डांडी के साथ-साथ तेज़ी से चलने लगे। संयोग-वश काफ़ी दूर तक ढाल था। मैं भी तेज़ उतर सकी और मां की डांडी के पास रही। जब ढाल समाप्त होने को आया तथा मैंने दूर से मोड़ के बाद चढ़ाई देखी, तो मैं निराश हो गई कि चढ़ाई पर जल्दी न चढ़ सकने के कारण मैं माँ की डांडी के बहुत पीछे रह जाऊँगी। इतने में देखा कि मोड़ पर पहुँच कर भीड़ रुक गई। जब मैं देखने लगी कि क्यों सब रुक गए, तो देखती क्या हूँ कि असीम दयामयी अन्तर्यामिनी मां डांडी से निकल पड़ी हैं व धीरे धीरे चढ़ाई पर पैदल चढ़ रही हैं! मेरे आनंद का ठिकाना नहीं रहा कि करुणामयी मां मेरे अन्तर की बात जानकर डांडी से उतर पड़ीं, जिससे मैं उनके साथ चल सकूं। परन्तु साथ ही मुझे खेद भी हुआ कि माँ डांडी में आराम से आश्रम पहुँच जा

और अब उनको पैदल चलना पड़ रहा है।

एक दिन गांव की सीधी-सादी पहाड़ी स्त्रियों का झुण्ड आया, जो देखने में खेतों में काम करनेवाली अथवा घास काटने वाली मालूम होती थीं। मां बरामदे में आईं, तो उनको देखकर कहने लगीं कि ये सब देवियां हैं।' उन्होंने उनसे प्रसन्न भाव से हँस-हँस कर बातें कीं तथा अपने हाथ से उनको प्रसाद बाँटा।

जन्मतिथि के समय जब माँ की पूजा हो रही थी तो वे सदैव की भांति समाधिस्थ-सी लेटी हुई थीं। श्री अवधूतजी महाराज ने साक्षात् देखा कि मां दुर्गा रूप से सिंह पर सवार चली आ रही हैं। यह जन्मोत्सव भी बड़े आनंद से मनाया गया।

बरेली में मां के साथ

(६)

बरेली के कुछ महानुभावों ने अल्मोड़े के जन्मोत्सव के बाद, मां से बरेली आने का प्रार्थना की थी। ठहरने का प्रबंध एक खंड़सार की एक बड़ी कोठी में हुआ था और सत्संग के लिए एक बड़ा पण्डाल खुले मैदान में बनाया गया था। उसमें दोनों समय सुन्दर सत्संग का कार्य्यक्रम चलता था। मां तथा अन्य महात्माओं के आसन मंच के ऊपर लगते थे।

एक दिन पण्डाल में सत्संग का प्रोग्राम चल रहा था कि सहसा बड़े जोर की आंधी आई व चारों ओर धूल छा गई। पहले तो पण्डाल की कपड़े की छत और परदे आदि जोर-जोर से उड़ने लगे तथा बाद में बल्लियां भी उखड़ने एवं अन्दर की ओर एक के बाद एक झुकने लगीं। अधिकांश जनता भय से उठकर पण्डाल के बाहर आने की चेष्टा करने लगी। कुछ प्रबंध-कर्त्ता बल्लियां पकड़ने दौड़े, परन्तु एक बल्ली सम्हालें तो दूसरी उखड़ जाय। विचित्र परिस्थिति थी। मैं उस समय मां के पास बैठी पंखा झल रही थी। मैंने सहसा देखा कि मंच के पास की कुछ बल्लियां उखड़ कर मंच पर तेजी से झुकने लगीं। ऐसा लगा कि अब गिरीं। मैं भय से उठकर खड़ी हो गई कि कहीं मां के ऊपर कोई बल्ली न गिर पड़े। मैं अपनी दोनों बाहें ऊपर की ओर उठाकर मां के पास खड़ी हो गई और मां से कहा—"आप बैठी रहें।" मैने सोचा कि मेरे खड़े होने से कोई चीज़ गिरने पर भी मेरे ऊंचे और मां के नीचे होने के कारण मां को चोट न लगेगी। अब सोच कर हँसी आती है कि मैं कर ही क्या सकती थी। पलक मारते मैंने देखा कि न जाने कैसे वे बल्लियां, जो करीब करीब सिर के ऊपर आ गई थीं, कैसे अपने आप सीधी हो गईं और आंधी भी एकदम से कम हो गई। उस दिन मां पण्डाल से आकर जब अपने कमरे के सामने बरामदे में बैठीं तो लोग माँ से उस आँधी की चर्चा करने लगे। मां ने सबके सामने कहा, "मुझसे किसी ने बैठे रहने के लिए कहा, उसी समय इस शरीर को भी ख्याल हुआ व छोटे बच्चे की तरह अपना हाथ ऊपर उठा दिया।" यह कह कर मां ने कनखियों से मेरी ओर देखा। मां की यह बात सुनकर मेरी समझ में आ गया कि वह बल्लियां कैसे अपने आप सीधी हो गईं तथा मां भी शांत हो गईं। मां की-लीला कौन जान सकता है?

हीरक-जयन्ती के अवसर पर मां का तुलादान

(७)

तुलादान का वह अलौकिक अतुलनीय दृश्य मां के हृदय-पटल पर सदा ही अंकित रहेगा।

माँ के कुछ भक्तों के हृदय में यह बड़ी इच्छा थी कि इस शुभ अवसर पर, जब कि अन्य विविध प्रकार के अनुष्ठान आदि हो रहे हैं, मां का चांदी से तुलादान हो। असीम करुणामयी भक्तवत्सला मां की अहैतुकी कृपा से वह इच्छा पूर्ण हुई।

जिस मण्डप को तुलादान के लिए शास्त्रविधि के अनुसार बनाया तथा सजाया गया था, वह भी देखने योग्य था। चारों ओर लकड़ी के खम्भे। ऊपर छत चटाई की, जिस पर तूल मढ़ दी गई थी। ऐसे ही खम्भों पर भी तूल लपेट कर जरी, गोटे, फूलों आदि से उन्हें सजाया गया था। बीच में बड़ी-सी सुन्दर नई तराजू लटकाई गई, उसकी डण्डी पर भी तूल लपेट कर गोटे से व ताजे फूलों से सजाया गया। तराजू की जर्मन-सिल्वर की मोटी चमकती हुई जञ्जीरों में भी टूल की पट्टियां तथा गोटा पिरोया गया था। तराजू के पल्ले बढ़िया पौलिस के सागौन की लकड़ी के बने हुए थे। एक पल्ला साधारण खटोले का-सा था तथा एक पल्ला माँ के विराजने के लिए गद्दी तकिया लगा कर सजाया गया था। नीचे शास्त्रानुसार वेदियां तैयार की गई थीं तथा अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाई गई थीं। सब कुछ ही अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होता था। पंडित लोगों ने तुलादान के पूर्व का पूजन पहले से ही शुरू कर दिया था। दोपहर को २ तथा ३ बजे के बीच में पण्डितों ने मां से पधारने के लिए प्रार्थना करवाई। श्री अवधूतजी महाराज ने जाकर मां से प्रार्थना की कि तुलादान के लिए चलने की कृपा करें। श्री अवधूतजी के साथ ही मां अपने कमरे से बरामदे में निकलीं, (मैं उस समय सौभाग्यवश बरामदे में ही खड़ी थी) तथा अति सुन्दर मन्थरगति से मण्डप में पदार्पण किया उस समय की माँ की वह अतुलनीय अलौकिक तेजोम मूर्ति तथा वह छवि कैसे वर्णन करूँ! चेहरे पर कै अद्भुत, शांत, सौम्य अलौकिक भाव था पलक नी की ओर थीं—दोनों हाथों में मां शालिग्राम, ल गोपाल आदि कई विग्रह लिये हुए थीं। एक पल्ले माँ के विराजने के बाद विविध वस्तुओं से तुलाद आरम्भ हुआ। सबसे पहले अष्टधातु से तुलादान हुआ (अष्टधातु में सुन्दर चांदी के बर्तन, पीतल के सिंहास तांबे के पंचपात्र तथा आचमनी आदि) चमकती हु चीजें पल्ले में सजी हुई बड़ी सुन्दर लग रही थीं। चांदी की सिल से, फूलों से, वस्त्रों से, चीनी व बता से, घी के टिनों से, तिल की बोरियों से बार बार त के पल्ले नीचे ऊपर हो रहे थे। भागवत् में व श्री कृष्ण भगवान् के तुलादान की याद दिला रहे पंडितों द्वारा मंत्रोच्चारण की मधुर ध्वनि से मण्डप रहा था। कुछ भक्त वृंद फोटो तथा चल-चित्र में व्यस्त थे। भीड़ का तो अन्दाज़ लगाना क था। सारा आश्रम ऊपर नीचे खचाखच भरा हुआ जिसको जहां खड़े होने योग्य स्थान मिला अलौ तुलादान देखने लगा। इस भांति पूर्णिमा एवं ग्रहण के दिन, २४ मई सन् १९५६ को यह अद् तुलादान, काशी धाम में श्री भागीरथी के तट पर स हुआ।

बाद में तौली हुई वस्तुएँ सजाकर शामियाने नीचे ब्राह्मणों के गले में फूलों की मालाएँ डाल कर उ भेंट की गईं तो वह भी एक देखने योग्य दृश्य वस्त्र गरीबों को बांटे गए।

बनारस के एक डाक्टर के कुछ अनुभव

काशी में गंगातट के शांत पड़ोस में, नीम की छाया के नीचे, वस्ती के बाहर एक पत्थर के ऊपर एक बहुत बड़ा जटा-जूट धारी नग्न मूर्ति पद्मासन में अविचलित, स्थिर, मुद्रितनयन ध्यानावस्थित थी। यही मानों महाश्मशान के महाकाल की परिकल्पित मुद्रा हो। रोज एक ही भाव से एक ही आसन में बैठा देखता था। अधिकतर निर्वाक निष्कम्प। कभी कभी दो एक बातें भी हो जाती थीं। अन्धे थे परन्तु चलने फिरने में कोई अटक न थी। गंगातट पर बालू की रेती में, अथवा कभी सम्पूर्ण शरीर गंगाजल में डुबाए बालू की तकिया लगाए सोए देखा है। कभी ज्येष्ठ मास की प्रखर दोपहर में तप्त बालू की सुखशैया पर सोए देखा है। रोज शौचादिक क्रिया के लिए इस अन्धे वृद्ध को तैर कर गंगापार करते देखा है। इतने सहज भाव से तैर कर आते-जाते थे कि देख कर भी विश्वास करने की इच्छा नहीं होती थी। घाट के माझियों ने एक दिन कुछ पैसे मांगे।

"क्यों रे ?"

"हरिहर बाबा को खिलावेंगे। प्रायः एक सप्ताह से भूखे हैं।"

"क्यों, कल ही तो मुझसे बातें हुई थीं। कुछ कहा तो नहीं उन्होंने !"

"वह भिक्षा नहीं मांगते। कोई खिला देता है तो खा लेते हैं।"

"यहाँ ब्राह्मण कहां है ? कौन खिलाता है ?"

"छूआछूत का विचार नहीं है। गंगाजल से हाथ धोकर खिला देने से खा लेते हैं।"

"अच्छा, लौटते समय कुछ करूँगा। कह कर काम पर चला गया। लौटते समय पूड़ी इत्यादि बनवा कर ले आया। मांझी भी बड़े प्रसन्न हुए। दो एक साथ ही आए। बाबाजी उसी प्रकार बैठे थे।"

"बाबाजी, इस पत्तल में कुछ भोग लाया हूँ, ग्रहण कीजिए।"

"के रे ! रामनगरिया ! खिला दे। देखता नहीं, अपने हाथ से खाऊं यह रामजी की इच्छा नहीं है इसीसे तो अन्धा कर रक्खा है। मैंने भी इसी लिए अपने हाथ से खाना छोड़ दिया है उसकी मर्जी होगी खिलाएगा, न होगी न खाऊंगा।" बड़ी आफत हुई। फिर से गंगाजल से हाथ धोने, उत्तप्त बालू पर से नंगे पैर, कोट पैट पहने जाना होगा। लोग हंसेंगे। शान के खिलाफ है। बहुत समझाया। डाक्टर हूँ, कितने अछूतों का कितना गंदा काम करके आ रहा हूँ, ऐसे खिलाना तो ठीक नहीं होगा। इन माझियों में से कोई तुम्हें खिला देगा।

"देख रामनगरिया, खिलाना हो खिला, नहीं तो दोना उठाकर गंगा में फेंक दे।"

किंकर्तव्यमूढ़ हो गया। गंगाजल से हाथ धोने गया। तपती हुई बालू से काले साहब के पैरों में मानो अगणित फफोले पड़ गए। गंजी खोपड़ी चटक जाने के भय से हैट नहीं उतारा। कोट मोटर में रख दिया। खाल पतलून और हैट पहने साहब हाथ धोने गंगा किनारे चला। अहं न मालूम कहां था। भूख से पेट कांव कांव कर रहा था। बाबाजी जानबूझ कर और भी धीरे धीरे खाने लगे। धैर्य-परीक्षा ! तब भी प्राणों को अपार

तृप्ति हुई। बाबाजी का भोजन हो गया। पत्ता ही पड़ा रहा। लोगों की आंख बचाकर जूठा पत्ता मोड़कर जेब में रख लिया।

"मुझे गंगा किनारे ले चल, पानी नहीं पिलाएगा ?"

"चलिए।"

वह पानी पीने गये। गर्मी न बरदाश्त कर सकने के कारण मैंने गंगा में एक डुबकी लगा ली।

पत्थर के आसन पर बैठ कर बोले "रामनगरिया, आज बड़ा कष्ट हुआ न रे ? पैर में शायद फफोले पड़ गए न। कभी डाक्टर साहब ने गंगास्नान तो नहीं किया था। इसी बहाने तेरा मुक्तिस्नान हो गया। राम भजो बेटा, राम भजो।"

इसके कई दिनों बाद, एक दिन देखा, बाबाजी उस परिचित आसन पर नहीं है। घाट किनारे नाव पर चढ़ रहा था कि देखा, एक विशाल बजड़े की छत पर बाबाजी विराजमान हैं। आश्चर्य हुआ। सुना मझौली की रानी की मानता थी कि मुकदमा जीतने पर बाबाजी के लिए बजड़ा बनवाएंगी तथा उनके, भोग-राग सेवा-पूजा का समस्त व्यय उठावेंगी। खैर, बाबाजी, को अब वायु और गंगाजल का आहार करके नहीं रहना पड़ेगा। मुझे भी अब बाबाजी को खिलाने की चिंता न करनी पड़ेगी।

भरी बरसात आई। बाढ़ का पानी गंगा के दोनों किनारों के ऊपर फैल गया। बंगाल का पुत्र हूं। नौका से ही रोज आवागमन होता था। बड़ा आनन्द आता था। कभी लग्गी लगाकर, कभी दांड़ा खे कर, कभी पतवार पकड़ कर नाव चलाने में मदद करता था। यही मुख्य और नौकरी गौण समझ में आती थी।

काशी नरेश से सुना कि हिरहर बाबा बीमार हैं। लौटते समय बाबाजी के बजड़े से नौका भिड़ाई।

"क्या हुआ बाबाजी ?"

"चूतड़ पर बड़ा दर्द है। ज्वर मालूम पड़ता है।"

देखा तो ज्वर से शरीर तप रहा है और चूतड़ पर बड़ा सा फोड़ा है।

"बाबाजी, तुम्हारे चूतड़ पर एक फोड़ा हुआ है। नीम के खूब गरम जल से सेंक कर तुतमलंगा की पुलटिस लगाना होगा।

"अरे फोड़ा न होगा, मुझे दिन रात बैठाए रहते हैं। जानता है, मैं भगवान् हो गया हूं। मैं खाता नहीं मेरा भोग लगता है। मेरी आरती होती है। पहले मैं तैर कर उस पार जाता था, अब नाव पर बैठा क ले जाते हैं। बैठा ! भगवान् के चूतड़ में फोड़ा नहीं होगा ? गंगा के शीतल जल में शरीर का ताप जुड़ाता था, अब सर पर गंगाजल डाल कर स्नान, आरती होती है।"

बाबाजी की भाषा मार्जित नहीं थी। सभ्य समा में वर्जित बहुत से वाक्य बाबाजी के मुख से निकल थे। दियासलाई की कांटी की तरह एकबारगी जल क तुरंत बुझ जाते थे। बड़े होने का भी मूल्य चुका पड़ता है।

दूसरे दिन, मेरी नाव बीच गंगा में थी। सह देखता हूं कि, एक विशाल सफेद दाढ़ी गंगा की धार में बही जा रही है। शीघ्र ही नाव दाढ़ी के पास लाया हरिहर बाबा निःशब्द बह रहे हैं।

"बाबाजी, नाव पर आओ तुम्हारे गन्तव्य स्था पर पहुंचा दूंगा।"

"के रामनगरिया, अच्छा ही किया। तैर नहीं रहा हूं। चूतड़ के फोड़े में बड़ा दर्द है। पैर नहीं हि पा रहा हूं। लेकिन गंगामाई ने मेरा ज्वर अच्छा दिया है। तभी तो मां की गोद में चुपचाप कूद पड़ा था।

बाबाजी को नाव पर चढ़ाया। उस पार देखा, बाबाजी के बजड़े पर हलचल मची है। दो नावें इधर को तेजी से आ रही हैं।

इसके बाद, एक दुःखद लज्जास्पद कहानी है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थी समाज में यह बात फैल गई कि हरिहर बाबा के आशीर्वाद देने से ही किला फतह है। बिना पढ़े ही परीक्षा में पास हो जाने का सर्वोत्कृष्ट साधन फिर क्या पूछना! कतार की कतार लड़के वक्त बेवक्त बाबाजी के बजड़े पर पहुंचने लगे। बाबाजी का जीना दूभर हो गया। बाबाजी के अनुचरों के साथ रोज रोज होने वाली कहासुनी एक रोज हाथापाई पर उतर आई। आखिर ढेलेबाजी शुरू हो गई। खबर आग की तरह विश्वविद्यालय में फैल गई। महामना मदनमोहन मालवीय दौड़ आए। गले में दुपट्टा लपेटे साश्रुनयन संतान के अपराध की क्षमा मांगी। बाबाजी के चरणों की धूल से मालवीयजी के कपोल धूसरित हो गए।

"सब रामजी का खेल है। किसी को इसके लिए दण्ड मत देना। साधना में चालाकी रहने से सिद्धि नहीं होती। साधना के सभी मार्ग कांटे से भरे हैं, चाहे वह विद्या की साधना हो चाहे रामजी की।"

"महाराज, आपका हुक्म तामील करूंगा।"

"मैं अब इस घाट पर नहीं रहूँगा। अस्सीघाट पर रहना ही अच्छा है। वाराणसी में रहूँगा। यह भूल मैंने की थी, रामजी ने मुझे समझा दिया।"

मदनमोहनजी का सारा अनुनय-विनय इस बारे में व्यर्थ हुआ। बाबाजी अटल रहे। बजड़ा चला गया अस्सीघाट, वाराणसी की सीमा के अन्दर। बाबाजी ने अंतिम श्वास वहीं छोड़ा। मेरा भी बाबाजी का नित्य दर्शन बन्द हो गया।

The One who is the Eternal, the Atman,
He Himself is the traveller on the path of Immortality,
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

(*Replies to letters from different people at different times*)

92.

The word *manush** (man) itself gives the clue to what man should really be : a being who is self-aware. Even if he has slipped and fallen, is it not his bounden duty to use as lever the very earth to which he has tumbled and raise himself up again ? Besides one does not fall so often. As a man constant effort is his duty. If he does not awaken to the consciousness of his own self, what has he achieved ? He has but wasted his life. How many lives are frittered away, age after age in endless coming and going. Find out who you are ! Discover the significance of the round of births and deaths, its cause and to where it leads ! When man becomes a traveller on the path to his inner Being the distance that separates him from his Goal gradually vanishes. You will most certainly have to undertake this pilgrimage to Immortality, trampling under foot hundreds and hundreds of obstacles and impediments. This is the kind of manliness that has to be awakened. Why should you remain helpless as if paralyzed ? You only repeat over and over again that you cannot, cannot do *sadhana*. Why ? Why ? Why ?

93.

In all forms and conditions, in everything that comes to pass is He alone, He the self of all. Although you are mourning the loss of your father's physical form you should nevertheless invoke God's presence for the sake of of him who has passed away. Whatever God does is for the very best. You father's span of life was over. Tell your mother that this is the nature of th world. She will have to be courageous. According to God's will he carrie out whatever service had been apportioned for him to do and now, by th Almighty's dispensation, he has been called unto Him. It is natural to b upset by bereavement. Sometimes it seems to us that He who is the Suprem Beloved of all is our enemy. Nevertheless what he sends will have to b endured. Dear mother*, listen to the request of this little daughter of yours in these days of affliction and distress call out to God and cry for Him. It i but He who comes to man in the guise of a brother or a husband. Only b invoking Him can peace be found.

---

* *Man* mind, *hush*—conscious.

94.

My friend's† letter is filled with the expression of a beautiful spirit o love and devotion. This friend‡ is ever near her friends. Always rememb that man has been born to do *sadhana* to perform actions that help him t realize God. Therefore dedicate yourself to Him, body mind and heart an endeavour to abide in His Presence at every moment of your life.

95.

It is the will of the Almighty that prevails. By living in harmon with this will and becoming an instrument in His Hands you should try t realize Him.

96.

To attempt to summon the spirit of the departed is not goo Very often some other being responds and the ordinary individual is not i a position to distinguish between a genuine manifestation and a fake. Ther fore it is harmful. Some one who took part in spiritualistic seances becam insane. Against his mother's wishes he continued to do so. To actually g into touch with the spirit of the dead one is difficult for the average perso

---

* Mataji addresses all married people as her fathers and mothers.

† Mataji addresses all children and unmarried people as her friends.

‡ Mataji refers to Herself in this way.

Do not let your mind be occupied with any such matter. On the level of the Self (*Atma*) you are one with Uma.§ In this world happiness invariably alternates with sorrow. Bear in mind that as the Self (*Atma*) she is with you—within you. This is the truth, not fanciful thinking. Birth and death happen in fulfilment of the Divine will. In all shapes and conditions there is but He alone.

97.

Inward *Sannyasa* is real *Sannyasa*. To become a *Sannyasi* is very fortunate, is in fact a matter of supreme rejoicing. But do you feel that the right moment to take such a step has come for you? *Sannyasa* signifies complete renunciation, the annihilation of everything; even the idea of annihilation has to become extinct.

98.

If one does not arrive at a state of stillness the agitation of one's whole system will manifest through every nerve and fibre of the body and render one inefficient. If one's energy is not retained the harmonious functioning of this energy in perfect tranquillity is not possible. Interest in the Supreme Quest and practices performed in search of Truth naturally have a calming effect. The preservation of energy is essential.

If he finds kirtan helpful, he should, at the time when Kirtan is sung, try to sit absolutely still in a fixed posture and concentrate. A disturbed state of mind and body is not favourable.

99.

The realization of Divine Power may be induced by any means that suits a particular person. If one feels inclined that way it may be brought about by initation (*Diksha*); or else it may be effected by the Guru's touch. It is immaterial by which method one chooses to develop the capacity to live a life dedicated to God. The important thing is to remain ever immersed in the contemplation of Him and to derive bliss from it. Indeed this is a cause for great rejoicing.

---

§ The name of his deceased daughter.

100.

What is perceived in this world is in the nature of a dream, similar to that which one sees in dreams. The only difference is that the former takes place in the waking state and the latter during sleep. Albeit I am always with you, mother.

101.

In dreams all kinds of things may be seen : what the mind has been busy with ; also what has not been thought about, but has occurred in the past or will come about in the future. In any case everything that happens belongs to the realms of dream.

MATAJI'S AMARA VANI

(20)*

Quetions : In the book 'Vichar Sagar† we read that a certain Raja's minister named Bharju who inspite of having gained direct knowledge of Truth, was still not free of illusion. Similarly that even though some one has through the Mahavakyas‡ attained to immediate Realization of the *Brahman*, should uncertainty and erroneous notions still persist in him this Realization would not bring about his liberation. I do not understand how when something has become revealed the question of obscuration can still arise ; further in such a case where does the need of instruction come in ?

Mataji : One thing is the full and final Realization of Unveiled Light; but quite another a realization due to some cause in which the possibility of its being obscured once more still exists. At the time when the play of *sadhana* was being manifested through this body it could clearly perceive these various possibilities.

You should understand that if the veil of ignorance has been burnt or dissolved as it were, you will for a certain period of time, have unobstructed vision. Afterwards it becomes blurred again. All the same—what will be the result of such a glimpse ? Ignorance will have become less dense and true knowledge gained greater prominence, in other words, by the momentary lifting of the veil the bondage of the individual will have been loosened. In this condition there is a semblance of the attainment of real knowledge, in fact it is also a state of achievement, although quite different from the state of final Self-Realization. By the power of the Guru the veil has here been suddenly pierced or consumed—just as in the story of the ten men when the Mahatma said : "You are yourself the tenth !"§ But there is a realization after which the possibility of its being obscured again by a reappearance of the veil of ignorance simply cannot be, this is the true and final Self-Realization. Lightning comes in a flash, but the light of day continues steadily.

---

* The Bengali original appeared in Ananda Varta, Vol. IV, No. 4, p. 271.

† 'Vichar Sagar' is a work on Vedanta written in Hindi.

‡ A *Mahavakya* is a profound utterance by the Guru expressing the oneness of the individual with the Universal Self.

§ Mataji refers here to the following well-known Vedantic parable : "Ten men had to ford a river by swimming. To make certain that they had all safely reached the opposite bank, one of them counted the lot and to his consternation counted only nine. To make sure that he had not been mistaken another one of them counted the men with a similar result.

Question : How can anything occur that is not mentioned in the Shastras ?

Mataji : To expound reincarnation, Karma and similar doctrines is mainly the work of the Shastras. Whether anything may occur that is not mentioned in them, remember that He is infinite. Out of your union with this infinity—no matter what form He may be pleased to assume—spring your actions, feelings, and thoughts, at the present time or in the future. This you may not be able to learn from the Shastras ; nevertheless the Shastras are also infinite. Oh, how beautiful is the law of God's creation ! Do you not know the feeling of delight, of deep bliss, when in a new way you discern a glimpse of Him—the eternally new.

Just consider : For one who has entered the *Great Stream* the Infinite is contained in the finite and the finite in the Infinite, the whole in the part and the part in the whole. Indeed what can one enter but one's own Self ! It is not merely a matter of imagination ; through ever fresh channels He is perceived in ever new forms. When that unbroken '*Stream*' has been entered it is only natural the *Yoga*, the hidden union of the individual with the All should become *Mahayoga* : the full awareness of this Union.

Look, everything is contained in the Shastras and yet not everything. Imagine that you are travelling by train to Dehradun. On your journey you will pass through large stations, through towns and villages. Everyone of these has been indicated in the guide-book. But what is seen between the different stations, can it all be described in full detail ? The trees and plants, the animals and Birds, the tiny little ants that are met with on the way, could all these be delineated ? Looked at from this point of view not everything has been written down in the Shastras. Infinite is the diversity of Creation, infinite are its modes of being, its changing movements and its stati

---

Each one of them counted in turn, confirming that there were only nine men left, although they could not make out which of them was missing. A Mahatma passed by and they told him what had happened. He made them stand in a line, hit each one with his staff and asked them to count as he hit. To their joy and amazement they at once realized that none of them had been drowned "Each one of you forgot to include himself." explained the Mahatma.

states that are revealed at every single instant. Besides it is impossible to put into writing all that a seeker after Truth experiences. Furthermore it is quite certain that Reality is beyond speech and thought. Only that which can be expressed in word is being noted down. But what cannot be put into language is That Itself.

When at certain stages you have realizations along your own line of approach, these will of course be within the confines of that particular line. In the event of complete Realization, in all its bearings, can such a thought as "It has not been mentioned in the Shastras" have any meaning? The main stages on the path that you think can be elaborated exhaustively are of course discussed in the Shastras, but the numerous things that you imagine are not set forth there are also included in the Shastras. In accord with the progress of the sadhaka spiritual experiences will occur of themselves. However, where Enlightenment is complete there is no more question of important or less important stages. On reaching the end of one's journey full Enlightenment is bound to take place. If someone has doubt about something because it is not contained in the Shastras, can he have attained to the goal of his pilgrimage? Affirmation and negation are of significance only while one is yet on the way, for there are paths without number, and they cannot be limited to what has been laid down in the Shastras. Where the Infinite is in question the diversity of approaches is equally infinite and like-wise are the revelations along these paths of endless variety. Is it not said: 'There are as many doctrines as there are sages'? Unless one has a view-point of one's own one will not be classed among the sages.

Very well, this is one aspect of the matter.. Now to another: On the level from which it can be said that everything is possible it would be quite senseless to declare that because something is not to be found in the Shastras or in any of the scriptures, it therefore does not and never will occur. Surely all this eager searching has for its aim but the revelation of That which is—of Reality. Could there be such ardent yearning and pining for something that has no existence, that never was or will be?

Some one said: Repetition of the names of Rama, Krishna, Shiva, Durga or any other name is quite useless, with the one exception of the name "*Ma*" (Mother) and that only while thinking of not any 'Ma', but solely the special 'Ma' that a particular group of people is worshipping. Someone else again said : Self-realization cannot be attained by the repetition of an name whatsoever, but only by understanding the processes of the mind Every problem that arises in the mind has to be thought out in this connectio and understood in all its implications and in this way dissolved. If a perso be incapable of doing this for himself, he may seek the help of someone else no matter whom. However by this the relationship that is considered continuous between Guru and disciple will not be established. Who essentiall is the Guru, since all are one ?

In this conection Mataji asked : "*Pitaji*, (Father), when you giv this teaching, do not those who are trying to put it into practice automaticall accept you as their Guru ?"

The person addressed replied . "No, for when their problems have been solved, w are all again on an equal footing".

Mataji : Quite so, thus we are also told that after the Guru ha given *Sannyasa*, he prostrates himself at full length before the disciple i order to demonstrate that there is no difference between Guru and disciple, fo both are indeed one.

There is a stage where one cannot possibly regard oneself as a Guru nor accept anyone else as a Guru. Another stage exists at which there i no way of thinking of the Guru and the disciple as separate from one another There is yet another stage where it appears as follows : Everyone who give teaching or instruction in this world is regarded in the light of a Guru ; ther are innumerable methods and forms, devised for the purpose of helping ma towards Self-realization ; by using any one of them man may advance toward this Goal.

By concentrating on the problems that arise in the mind it may b possible to undo the knots that constitute the ego. For this reason the abo method is not in contradiction to any other method. What has been sai about being on an equal footing is also right, for in this world people hav to assist and teach one another in many walks of life ; therefore it can b truly said that everybody is a Guru. From one point of view one may ca one's Guru every person from whom one has learnt something, no matter ho little. But the real Guru is he whose teaching helps one towards Sel Realization.

Suppose a person is walking in the dark and dog starts suddenly barking furiously quite close to him. What can be the matter ? The man switches on his torch and finds himself confronted with a big poisonous snake. By taking great care the man is now able to escape the fangs of the venomous reptile. Will the dog in this case have to be called the man's Guru or not ? One may certainly object to it, for the dog did not bark for the purpose of making the man aware of the snake. But He who bestows awareness may appear in the guise of a dog.

From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi.

By

Dr. Bithika Mukerji, M. A., Ph. D.

(Continued)

(2)*

There were other obstacles also in the way of Mataji's education. The school was at a short distance away from Her home. Mataji was not allowed to go out anywhere alone; so on the days that Didima could not find an escort for Her, She could not attend school. She did not even possess a whole slate, but had to be content with a broken piece of one! In spite of all these difficulties Mataji always stood first in Her class. There was no mystery about it. When She sat down to prepare Her lessons, the meaning of strange words would spontaneously occur to Her. Mataji relates: "Supposing I came across the word '*hasti.*' I would ponder about for a short while and it would occur to me that it meant 'elephant'. Her guardians hardly ever found time to help Her with Her lessons. So Mataji never really advanced beyond the elementary stage of education.

As far as religious practices wer concerned the instructions She received were equally elementary. He father taught Her to sing devotiona songs and Kirtan and Her mothe allowed Her to help with the preparations for the daily worship of th '*Narayana - Shila.*' Dadamashai's teachings were simple enough. Th first time She was asked to sin *bhajans* the following conversatio took place: "Come and sing with me We shall sing the praises of Hari."

"Who is Hari?"

"The Lord of the Universe. H is very big and great. We are a His children."

"How big? As big as this me dow?"

"Much bigger. We all must wo ship Him and call down His mer upon us. He is kind and takes car of us all. He has very many names Hari is one of them."

---

* See Ananda Varta Vol IV/4 p. 318.

† Her father.

This sufficed for Mataji and She became Her father's regular and faithful companion, whenever he sat down for his devotional singing.

It has already been said that Mataji as a child never seemed to express a desire for anything, neither was She ever unhappy or unruly. But there were occasions when She would cry too. The three small brothers who were born after Her, all died very young. While they were alive Mataji looked after them devotedly, missing school and play in order to take care of them. But when they passed away She not only accepted their loss without complaint, more than that She never let Didima have the chance to indulge in her grief either. Whenever She saw Her much enduring mother mourn the death of her chilren She broke out into such a torrent of heart-rending sobs that Didima perforce had to forget her own tears in order to quieten the little girl. Didima says that these were the only occasions on which Mataji cried during Her childhood.

Mataji had a happy knack of identifying Her own wishes with those of others : or rather, since She did not seem to have any desires Herself the incentives to Her behaviour sometimes arose out of the wishes of Her close companions.

There is an auspicious day during the summer season on which people abstaining from cooked food eat only parched rice mixed with thickened milk and seasoned with ripe mangoes. Once Didima, unable to afford mangoes, was preparing the dish for her children with milk only and while busy with this task thinking how all the other children of the village would be able to enjoy the much loved summer fruit. Suddenly Mataji ran in from outside and gave her a large ripe mango. Didima asked Her sternly : "Did you steal this ? If so you must go and return it at once !" Mataji however replied that She had found it lying in the field near the cottage as if someone had just put it there for the purpose. Although it appeared rather inexplicable how the one mango could arrive there of its own, accord, Didima felt obliged to accept and use it, because she knew that Mataji was an exceptionally truthful child.

Mataji at times relates the following story from Her childhood : "One night my father saw a snake curled round the rafters of our hut. It was raining outside and in the uncertain light of the oil-wick lamp, he did not like the idea of disturbing the snake. Still less did he feel inclined to go to sleep in view of the tantalizing possibility of the snake dropping down on us during the night. So he gathered us children and put us under the bed. Then, having made sure that his family was safe, he himself took refuge behind some other shelter. The thought occurred to me at that moment that man is helpless indeed. He who would protect us could not protect himself, but needs had to seek the protection of something else."

Apart from the lesson Mataji derived from this Her way of reflecting as she did it also revealed the fact that she was something more than just only the simple, docile and lovable little girl Her parents took Her to be.

Another incident recounted by Her shows that Mataji Herself perhaps rather enjoyed the role of a simple little girl. Returning from the pond one day with a pitcher full of water balanced on her hip, She came and stood in front of Didima and said ! "You all call me straight and simple ; look am I not crooked now ?"

Mataji always maintains that there has been no question of development for Her. She always was as She is. The difference observed in Her are due to the understanding of the onlookers. It appears to people that she has passed through the stages of childhood and adolescence to maturity; but these must not be regarded as stages in the process o a gradual development. Developmen implies inadequacy and imperfection the least that can be said about He conduct as a child and a young gi is that it was certainly adequate The phenomenon of a perfect chil is strange enough, but it appears eve more strange that nobody remarke upon it. Mataji says that some o the characteristics of *'bhava'* an *samadhi* (which became such a prominent feature of Her life at a late period) were present even during He early childhood. Most of the tim these states passed unnoticed becaus the people round Her had no comprehension of such things. But sometimes when a state of that kind cam upon Her during meal time, He mother would feel perturbed thinkin it could only be the symptoms of weak mind. She would scold an shake the child and endeavour t draw Her attention back to the foo in front of Her.

At a certain stage during Mataji *Lila* of *sadhana* all places of worshi exercised a magnetic spell on He She would enter temples and touc the Deities. She would even go in *samadhi* if passing near a templ church or mosque or any other sacr place. Sometimes the people tra lling with Mataji would suddenly s

Her withdrawing into such a state without any apparent cause (of course external causes were not always necessary to bring on Mataji's states of *samadhi*, but generally the strains of devotional music or the proximity of sacred places or objects of worship were influential in calling forth changes in Mataji's behaviour.) Later on Her companions would find out that they had been passing a temple which was not visible from the road.

During Her child-hood also this attraction sometimes influenced Her conduct. When She was cleaning the place of worship, somehow or other it would invariably happen that She accidentally touched the *'Narayan-Shila.'*

When Mataji was quite small She was once taken to a neighbour's house to listen to the performance of a Kirtan party. The atmosphere created by the religious music brought on a state of *'bhava'* in Her. Her aunt mistaking the inert condition for sleep, shook Her saying "Why do you sleep? Listen to the *kirtan!*" Didima recollected the incident perfectly when reminded of it by Mataji years later.

So it would seem that no definite line of demarcation can be drawn in Mataji's life anywhere denoting a change from one stage to another. Had there been anyone of capable understanding these supernatural manifestations, events might have taken a different turn, but this was not to be.

Thus mataji grew up in peaceful surroundings as a blithe and winsome little girl. Her sunny disposition earned Her many nicknames such as *'Hashi'* (smiles) or *'Khushir Ma'* (Happy Mother). When She returned to Kheora years later She was at once surrounded by the village folk who started talking and exchanging views most familiarly. They were not at all awe-inspired or embarrassed. Mataji also, in a moment seemed to become one of them. They welcomed Her back as they would a well-beloved daughter returning home after a long absence. In fact the earnest devotees who had accompanied Mataji did not know whether She was more dear to the hearts of the village folk or to their own.

(To be continued)

THE FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF BUDDHISM

Akshay Kumar Datta Gupta, Kaviratna, M. A.

Not trying to be scrupulously accurate in the matter of terminology it may in a general way be said that the fundamental principles of Buddhism are three. These are : (in Pali) (1) *Dukkha* (Sanskrit *duhkha*) meaning sorrow, suffering, affliction and, in a minor key, worry, despair, "the heart-ache and all the thousand natural shocks that flesh is heir to" as the poet has put it ; (2) *Anichcha* (Sanskrit *anitya*) which implies the absence of permanence or an enduring character in anything ; and (3) *Anatta* (Sanskrit *anatma*)meaning the non-existence of a self. Of these the first, *dukkha* goes naturally with Religion, while the other two *anichcha* and *anatta* belong more properly under the rubric of Philosophy. All three are interrelated making, as some Westerners superiorly think, a dismal whole.

Affliction is a fact of universal experience. No life is without it, though in the discrimination of common people sufferings do not altogether crowd out pleasure. But the thinking few know that what the rabble call pleasure is but gilded sorrow.

Sankhara parama dukkha : life unmitigated sorrow, says the *Dhamm pada* XV.7, following the *Gita* V.2 *ye hi samsparasaja bhoga dukkha naya eva te* : all experience born contact of the senses with objects a sources of sorrow.

Buddha made suffering the cardin principle of his religion. "One thi I teach : *dukkha* and its ending," sa he, "Birth is suffering. old age is suf ring, sickness is suffering, separati from that which pleases is sufferi contact with that which displeases suffering, not getting that on whi one has one's heart is suffering." A further "which do you think is t more voluminous: the tears that ha flowed from the eyes of men in th long pilgrimage or the waters that in the four great seas ?" From acute consciousness of the over ab dance of sorrow in life comes impulse to religion. It has been said that religion does not prosper prosperity. It is suffering that ma people fumble for the remedy material specifics do not often the case. This is where religion comes in.

The omnipresence of *dukkha* is not a doctrine first propounded by Buddha. It is an inheritance from the age-old teachers of the race who had garnered a rich stock of philosophical lore. Two other such inheritances are the law of *Kamma* (Sanskrit. *karma*) : deeds and the inescapability of births and rebirths (metempsychosis in philosophical phraseology). One must taste the fruits of one's deeds, however bitter or sweet, in this, and if not, in repeated births. The apparently unmerited afflictions (as well as fortunes) are to be attributed to deeds done in a past incarnation or incarnations and unrequited virtue as well as unpunished misdeeds are to be supposed to bear fruit in future existences. Buddha (and no doubt most of his audience also) took these views for granted and never argued about them. But the enlightened one always tried to make all people conscious of the preponderance of affliction in their and their neighbours' lives.

Many writers of the West at one time (due no doubt to a superiority complex) used to dub not only Buddhism but all Hindu philosophy as absurdly and unhealthily pessimistic and the belief in a long succession of births and deaths as quite ridiculous. But saner writers and thinkers have not failed to notice that Buddha (I am immediately concerned only with Buddhism) not only emphasized the overabundance of sorrow in life, but pointed out its cause which is *tanha* (Skt. *trishna*), morbid craving for pleasures and possessions from which no man is normally free. He also firmly held and taught that it was possible to put an end to both the sufferings and their cause, and pointed out how. It was in fact the mission of his life to teach all people how the consummation so devoutly to be wished could be attained. Is this pessimism ? Surely that is made of much blacker stuff.

The above doctrines viz suffering, its cause, the practicability of its ending, and lastly the means to that end, have been called *chatvari ariya sachchani* (Skt. *Chatvari arya satyani*) the four noble truths. The fourth consisting of eight parts has been separately called *ariyo chatthangiko maggo* (Skt. *aryah ashtangah margah*) the noble eightfold way. *

---

* The eightfold way which I do not propose to elaborate here is composed of the following: *Samma dithi* (right views), *Samma sankappo* (right resolution), *Samma vacha* (right speech), *Samma Kammanto* (right deeds), *Samma ajivo* (right means of livelihood), *Samma Vayamo* (right effort), *Samma Sati* (right meditation) and *Samma Samadhi* (right concentration

Kamma (Skt. Karma) is the law of cause and effect in the spiritual world. A quite recent American author* writing on Hindu civilization describes *Karma* as "the most terrible law of all". "This law of *Karma*", says he, "like the Greek *Moira* or Fate, is above both gods and men; even the gods do not change its absolute operation; or as the theologians put it, *Karma* and the will or action of gods are one. But *Karma* is not Fate; Fate implies the helplessness of man to determine his own lot, *Karma* makes him (taking all his lives as a whole) the creator of his own destiny. Nor do heaven and hell end the work of *Karma*" for after a short or long sojourn in either place according to its deserts "every soul must sooner or later return to earth and live out its *Karma* in new incarnations."

But did not also Christianity teach, "Be not deceived ; God is not mocked, for whatsoever a man soweth that shall he also reap" ? Hindu teachers extended the law backwards holding whatever harvest a man reaps in this world he sowed it in a previous life or lives. How, it may be asked, can one, without accusing God of cruelty and partiality, justify the all too glaring inequalities of possessions and opportunities which are the lot of men in society ? "Believing in the operation of natural justice", says an ardent English admirer and follower of Buddhism;§ "Buddhism would say in reply to the Biblical enquiry : who did sin, this man or his parents that he was born blind ? That it was this man who had 'sinned', that is, had so behaved in a previous life as to cause in the life in question the effect of blindness". He says further, "In the West we say that the child of a musical father is musical (if it be so) because of heredity. In Buddhist lands it would be explained that the child was born into a musical family because it (the child) had developed musical propensities in previous lives and was attracted to an environment suitable for the expression of those 'gifts', a reversal of the western view".

The insistence on *dukkha* togethe with its adjunct, the inexorable law of *karma*, had such a strong and universal appeal that the religio

---

They have also been called "the middle way" the golden mean between extreme austerity and down right epicureanism.

* Will Durant in *"Our Oriental* Heritage."

§ Christmas Humphreys, the founder president of the Buddhist Society in London in *Buddhism*, a Pelicon book.

founded on them by the Enlightened One spread rapidly so as to cover nearly the whole of India in his life time. The fourth "noble truth", "the noble eight fold way" taught how to live a perfectly moral life as also how to train the mind to attain perfect peace. Practical morality was in fact raised to the high altar of religion. Unlike most religions there was not much stress laid on emotion in early Buddhism as represented by the Hinayana School now current in southern Asia. The element of emotion (*bhakti*) developed later under Mahayana which now prevails in northern Asia. Mind training (*yoga*) also became a more pronounced factor of the religion under the same auspices. In the earlier phase though gods were believed in as a superior race of beings, there was no belief in a Divinity as such. Buddha was yet no more than a *guru* or guide who had himself trodden the path and reached perfection. He claimed no inspiration from any higher source, but only enlightenment (*bodhi*) which he had attained by personal exertion.

So much about the first fundamental principle. As regards the second and the third we may at once say that Buddha did not borrow or adopt them from the orthodox speculations of his age, though changeableness (*parinamita* in Hindu philosophy) and therefore impermanence of the phenomenal world had been recognised but with a hard core of reality underlying it. Neither *anichcha* in the sense he taught nor *anatta* were, however, his "inventions". There were many non-conformists and free-thinkers in the Hindu fold in Buddha's time and before him, who swore by a probably mythical teacher, Brihaspati by name and a worthy disciple of his realistically called "Sweet-spoken" (Chārvāk=*charu* fair and *vak* speech) as a thorough-going advocate of epicureanism. They were the modernists of ancient India presumably as proud of their cult as some of the shining lights of the present day secular Indian State. Buddha had his differences with them. He faught and discomfitted them in the person of Màra, the Tempter.

The absence of a permanent character in the phenomenal world is evident to every eye. All is changing constantly whether growing or decaying. Throw a handful of paddy on moist ground. It will change in one way in a few days. Keep it aside in a dry place for some years it will be found to have changed in another way. In the former case it will germinate, in the latter it will crumble if pressed between the fingers. In both cases the change (*parinama*) has occurred imperceptibly, but surely moment by moment. Does not the modern science of physiology tell us also that a man's body is completely renewed in every particle in seven or eight years ? Nothing endures except the law of change. The principle of *anichcha* as applied to the spirit is *anatta.* The earlier teachers taught the existence of an individual soul (*atma* or *jivatma*) in every living being. Buddha stoutly denied it.

In his view a man's personality is composed of five parts (Pali *khanda*, Skt. *skandha*) : (1) *rupa*, form, body, (2) *vedana* sensations, feelings, (3) *sanna* (Skt. sanjuna) perceptions and conceptions, (4) *sankhara* (Skt. sanskara) impressions, tendencies including will, and(5)*vinnana* (Skt. vijnana) consciousness. Beyond or behind them no self is recognised.

But if a man has no abiding self, what is it that undergoes rebirths ? The question is undoubtedly an inconvenient one, and it is open to doubt whether all Buddhists were quite satisfied with the answer offered which was that of the five *kandhas*, although the first three might and in fact did perish at death, the last two would fling themselves into a body suitable to the fruition of the dead man's *karma.* The difficulty is that Buddha sometimes spoke of a self ; as e. g. t a young man whose female companio had run away when they were picnick ing with some friends, and who aske Buddha comming that way whethe he had seen the girl ; "What do yo think, young man, which were bette for you ; to seek for the woman or t seek for the Self ?" and to Anand his dearest disciple, "Take the Self a a lamp, O Ananda, take the Self as refuge"; also to his own son, Rahul "Every form must be regarded thu as it really is by perfect insight : 'Thi is not mine ; not this am I ; this not the Self of me.'"

However that may be, *vinnana*, th last of the five *khandas*, should no be confused with *vijnana* or simpl *jnana* as taught by the Upanishad It is really self consciousness, th *ahankara* of Hindu philosophy, th separatist belief ; I am I. Th delusion of a self called *sakkayaditt* (Skt. *satkayadrishti* : the view that th body is a real thing) persists till t devoted religious practice the fir stage in the upward progress calle *sotapanna* (Skt. *srotah apanna* ; o who has entered the stream) reached. It is the first taste *nibbana* (Skt. *nirvana*). The delusi of self is one of ten fetters which ha to be gradually broken before aspirant reaches the state of an *ar* or adept (answering to *jivanmukta* of Hindu philosophy) which is followed by *nibbana* at death.

The Upanishads taught the existence of two selves, individual and universal, called respectively *atma, jiva*, or *jivatma* and *paramatma*. The first has been variously held by philosophers as a part of or an emanation from or a reflection of the second and even as quite an independent identity. Budhha as we have seen denied the existence of an *atma* or *jiva* i. e. personal self. The Hinayanists carrying the point perhaps too far held that according to Buddha there was and could be no Paramatma also. The fact, however, was that with regard to this last point, the Enlightened One maintained a"noble" imperturbable silence, neither expressly affirming nor denying it. The reason undoubtedly was that if there was such a soul it must (as also taught by the Upanishads) be inexpressible in words and inconceivable by the mind. What use then was it spending time and energy in speculating about it? Both would be better employed in following the noble eightfold way and other useful precepts.

But in a country where philosophical speculation or discussion was almost a passion with the flower of the community, the lacuna could not long have failed to provoke much adverse criticism, and so the giants of the Mahayana school hastened to fill up the gap. But in such a case a satisfactory authority must first be found or fabricated. There was good authority for a story that on one occasion the Enlightened One gathered some leaves lying under forest trees and said that just as those leaves were much fewer than those which were in the trees, so also the lessons he taught were a small fraction of the truths that he had not yet revealed. The Stalwarts of Mahayana said that the Hinayana scriptures which then held the field, represented only the teachings of the Master suitable for the masses that crowded about him wherever he went or stopped. To the elect and the tried he communicated some more doctrines which were of a metaphysical or esoteric nature and therefore beyond the intellectual reach of common folks. The idea at any rate was certainly not fantastic, for in Upanishadic times also great care was taken to choose pupils for instruction in the profounder truths.

Buddha was thus supposed to have taught his more deserving disciples that *vijnana* (Mahayanists wrote in Sanskrit) or individual consciousness was but a partial manifestation of a cosmic entity named *alayavijnana* repository consciousness which was no psychological concept like the fifth of the *skandhas* but a metaphysical Reality universal and infinite in nature. It also represented the true character (*tath at*) of all things. It thus in a way answered to the Paramatma of the Upanishads.

Transferred from metaphysics to religion it was called *dharmadhatu* and *dharmakaya* (substance and body of Dharma). In mythology it became Adi Buddha. Dharmakaya was supposed to be the final goal of all spiritual aspirants as it was also the subtlest and fullest of the three bodi of Buddha. (It is not proposed he to elaborate this last point). It th in a manner dethroned *nirvana*, stre being now laid on the freed soul to b attained than on the not-self to b extinguished. But *nirvana* was no and indeed could not be discarde altogether. It became *sunyata* prese with potential Buddhahood in ever person. These topics are too abstrus to be casually dealt with and are no also relevant to the scope of thi article.

Srijut Ramdas' Letter to Dr. Wenitrob (Vijayananda)

Beloved Ram,

Ramdas received your loving letter of the 26th March.

* * * * *

Ramdas' heart is full when he remembers her. It is difficult to express his love for her in words. She is Ramdas' divine Mother and he is her little child. By saying this Ramdas has put into words as best as he can the overflowing love and reverance he has for this Great Mother. Ramdas' humble pranams at her holy feet.

You may print in the May issue of Ananda Varta what Ramdas has said about Ma Ananda Mayi in the above lines. This is his humble tribute to her greatness and glory. Please convey to her Ramdas' love and pranams.

Love and blessings to you and all others there.

P. O. ANANDASHRAM
Via Kanhangad. S. I. Ry.
5th April, 1957.

Every your Self.
Ramdas

MOTHER COMES, EVER COMES

By Sri Upendra Chandra Dutta,

Day before Shiva Ratri, 1956: A tonga was moving fast along the main road of Brindaban. Attention of the passers-by was drawn by a tumultuous crowd and some cars inside the precincts of a new temple. The tonga stopped at the entrance of the temple and one person went in to make enquiries. All of a sudden a car rushed through the gate and quite unexpectedly halted a few step ahead. Lo ! Mother was there. While passing she caught sight of me sitting in the tonga, stopped the car and called me. I ran to Her and bowed down. Ma enquired what had brought me there. I told Her that I was on an official visit to Mathura and Brindaban. I did not know that she was there, but the scene in the Ashram suggested something unusual and we were waiting for a pleasant surprise. Ma told me that Lord Shiva was going to be installed in the Ashram the next day (Shiva Ratri) and asked me to attend the function. Mother's presence and the prospect of passing some time round about Her struck all the chords of my heart simultaneously. Thus came Mother to Her son.

Again on the eve of Holi some of my relations went to Brindaban and paid their homage to Mother who was then staying there to observe the festival of Love. Centuries ago the Blue Boy played on His flute and danced in tune with the heart-beats of His playmates and milk maids there. Perhaps these associations took visible shapes and Mother decided to pass the occasion on the bank of the Jamuna to put a new life into the old Leela. She observed Holi at Brindaban in 1956 and 1957, and may continue to do so in future as well.

Learning that the visitors were my relatives Mother said to one of them, "Write to Upen that daughter wants to live with her father." I got the message in time and should have run to Brindaban to receive Her blessing, but I could not for various worldly reasons. I wrote to Mother instead, requesting Her to let me know if the Daughter would come to Her father or the son would go to his Mother.

The letter did not reach her for a long time, so the reply was not received. Then I did not know that Mother would actually come to Her son. I had the privilege of Her darshan at Banaras in May, 1956, during Her 60th birthday celebrations. On that festive occasion of unusual type Mother was extremely busy, but she was all sweetness and love. Like a pillar of light she was moving from place to place and bringing joy to all about her. In my presence whenever she met a group of devotees, she would refer to an old incident in a jocular mood and tell them, "I went with this Baba to Dehradun side, but Baba went away leaving me behind." About 28 years ago I accompanied Mother to Sahasradhara. On our way back, as already arranged, I took leave of Her and the party at Rajpur and prepared to go to Mussoorie. I retorted most humbly saying, "A son may leave a mother but a mother can not afford to leave her son. All present including the Mother enjoyed the fun. Like a true mother she had fed me sumptuously before I left Varanasi. I cast my last lingering look at her lotus feet. The whole atmosphere seemed to have been surcharged with Her spirit—everything seemed to have been softened with Her overflowing love.

In 1957 before the Holi R. B. Seth G. M. Modi, Chairman, Modi Industries and the Modi Textile and founder of Modinagar, told me that Mothe would pass a week at Modinagar ju after the Holi and more than 10 Sadhus and devotees would accompa Her from Brindaban. My joy kne no bounds. I was waiting impatientl for 17th March when Mothe would come. An elaborate arrang ment was made to receive Her in garden house outside the town. Th Summer House in the garden wa given a finishing touch. A big panda was erected on an extensive lawn f Rasa Leela, lectures, Bhajan, etc. an at some distance a Shamiana wa ready for Akhand Kirtan. Good man tents were pitched to accommodat some 400 persons. Hundreds of mang trees smiling through blossoms an multi-coloured flower-beds dancing i breeze called visitors to a place of res My feeling of joy was not unmix with that of sorrow, for Board's exan nations would begin from 20th Mar and I would be almost a prisoner i one of the biggest examination centr Mother with the party arrived on 17 evening. At Her bidding the p cession was abandoned. A big crow headed by Modi Sahab accorded H a most respectful welcome with g lands and Arti. I saw Her from distance and kept behind. A stre of people got into Her room for d shan and came out one by one. M Sahab saw me stand outside and cal me in. Mother gave a broad smile to see me and said, "I knew you are here, someone told me. Did you write to me ?" I replied that I wrote long ago, not now. I was thinking of going to Brindaban this time during the Holi festival, but could not. Mother said, "Why did you not go ? There was Maha Rasa". I kept quiet and requested Her to visit our Colleges (Boys' and Girls'). She agreed to do so during the week of her stay. I felt happy to think that the colleges would be sanctified by Her hallowed presence, they would be Tirthas.

Programme for the week was quite attractive :

Hari Baba's Kirtan–4 A.M.
Rasa Lila–8-30 A.M.–11-30 A.M.

Lectures & Bhajan-2 P.M.–5-30 P.M. Mother received visitors anytime when free, after 10 A. M. till late hours at night. After lectures in the pandal at about 5-15 P. M. She led a Kirtan chanting in melodious tone divine names for about 15 minutes. Everyone present responded to it in a state of self-forgetfulness, so to speak. The name was in their lips and the Form was before their eyes. A crowd of several thousands behaved like one man. They seemed to have lost their identity in a living presence of the Divine. Hari Baba's life was a lesson to all. He would follow his programme like the hand of a clock and would remain all absorbed in what he said. He remained oblivious of the world outside. He lived and moved in a world of his own. He fanned the actors considered as Krishna and his companions at the Leela, rang a big bell at Kirtan and talked about the glories of devotees in his discourses. His single-pointed devotion, self-forgetfulness and tenacity of purpose marked him out as a saint of outstanding nature and ability. In fact, he was the master of ceremony there.

On 19th afternoon some of us were sitting in Mother's room. Ma hinted at self-knowledge as the supreme knowledge. It is essential. Bhajan is the means, but it becomes spontaneous. No-one can do it. Does she mean that Bhajan goes on automatically once the spiritual energy is roused by the grace of Guru ? Then Ma said, "What about death ? Death has to die. It has got to be killed". At this stage Modi Sahab ushered two gentlemen into Mother's presence. One was Raj Pandit of Patiala Darbar and another was Seth Narain Das Bajoria, a man of culture and learning. They were introduced and Mother began to talk of Supreme Knowledge. What exists is One. It has become many. It appears in so many forms. You have come to yourself.

Pandit—Are you Maitreyi ?

Mother—I am your little daughter.

Pandit—You are Gargi who had discussion with Yajnyavalkya.

Mother—I am what you like to call your little girl. I know nothing and often talk nonsense.

Pandit—No. You are Gayatri.

Pandit recited some slokas in great joy and took leave. Sri Bajoria, who as a rule, avoids the company of women sat there quietly in all humility. Afterwards he told me that when he saw Mother for the first time at Hardwar sometime back, he saw his own mother, who died long ago, in Mother and he could not restrain his tears. He wept bitterly for about half an hour. He feels the presence of Divine Mother in her.

From 20th March I was detained in the college for conducting examinations and felt very sorry to think that when Ma had come too close to me, I could hardly have Her darshan. But, to my great joy, I got a message that Ma would visit the college on 22nd at 10 A.M. and I should arrange for Her rception. Mother arrived in time, rather a few minutes earlier. She was accompanied by some Sanyasis and Brahmacharis and Mrs. G. M. Modi. I conducted the party to Geeta Bhawan, a hall with life size wall-paintings of saints and patriots, besides some gods and goddesses She and her companions were seated on a raised platform and adored with Arti, stotras, sandal pas and garlands. Then began Ramdhu in accompaniment with music. M took the lead and all of us—teacher students and examinees-followed He In a short speech I informed th audience how about 28 years ago had the privilege of watching He in a state of deep trance (Samadh that continued for hours at Hardwa and how she was brought down to normal condition with great difficul by uttering the Divine Name into H ear, and how spiritual symptoms (Sat vik lakshans) manifested themselves i the process of her descent to normal Further, I told, on Her own statemen that Ma had no previous birth n would she have any in future. 'Th what was she ?' Most humbly I r quested Ma to tell us who she wa As usual she avoided the answer a said softly, "What shall I say ?" our request she addressed the studen on their duties and advised thu "Get up early in the morning a take the Divine Name that appe to you, touch the feet of paren attend your studies, obey your elde speak the truth and play as much you like". Like a simple child s looked at me and told me that s had nothing more to say. Out of H infinite grace Mother came to college and turned the temple learning into a Tirth (pilgrimag with the touch of Her lotus feet.

I became free on Sunday, the 24th March. I reached the Summer House in the morning and spent the whole day there, attending the Rasa Leela, taking part in the Bhandara, listening to lectures and Kirtan. I could see Mother from a distance. She was sitting like a statue at the Rasa and then chanting the Divine Name moving in a circle with a party of singers that had come from Delhi. In the afternoon I came to learn from a reliable source that a respectable lady pressed Mother to show her some supernatural form. Ma told her that in that case she would lose all touch with the world. The lady persisted. As a result she is reported to have seen a dazzling light (Jyoti) and screamed loudly. On enquiry the lady said that it was all Mother's grace.

After the sunset I met a brahmachari who conducted me to Mother. His Holiness Swami Sadananda Tirtha of Shankar Math, Uttar Kashi, was there. I told Ma that I would retire in July next and reminded Her that more than six years back when I was coming here, she advised me that I should serve only One. "Yes, you should serve One only after taking penson", was Her prompt reply. We had the following conversation.

"Where will you settle ?" "I have got a small house at Kashi and may stay there." "Oh yes, Kashi is an excellent place. Gopi Babu is there. When I go there, we shall meet in the evening." "Then I shall go to Kashi."

"Yes, you do. You have seen all about this life."

According to the Yogis Kashi is the centre of illumination-Ajnachakra, the seat of Shiva and Shakti, above the earthly existence. The word evening is significant. Does it mean the evening of life ? A child plays the whole day and longs for the mother when darkness gathers with the approach of night. 'Sunset and evening star, one clear call for me'. Mother's call is clearly heard when the bustle and din of life subside. She call us day and night. Who cares to hear ? She comes without fail. Who cares to see ? She knocks at the door again and again. Who cares to open ? She goes back with tears in Her eyes. Who cares to know ? The child plays with toys in a doll house, awfully busy, no time to spare for Her. Wife and children, gold and fame absorb our attention. We ignore the presence of Mother. She comes, ever comes as sights and sounds, as thoughts and feelings, as pleasure and pain.

Wise people say that Ma is a temporal expression of the eternal spirit, a special creation of the Divine, an emanation of the ultimate Reality, whose manifestation is the universe. She is in and beyond everything. Her vast immensity overwhelms me and creates a gap between a tiny creature like me and a mighty one who transcends all limits. These ideas are indispensable to those who move in and build up a system of ideas with reference to a Universe of discourse. They dive deep into the mystery of life and present the world with bright gems of pure wisdom. I am a fool with very little understanding and dare not measure the immeasurable. I want a mother mostly human, a mother who can move on my level and respond to my feelings. It is enough that I have got One. I am not at all anxious to know if she had any Guru human o divine, if She is ever established i Brahman as a part of Her natur I do not bother about Her actua position in the hierarchy of gods angels or exalted souls. She is mother who lives for children an fills up gaps in their lives. If we fe thirsty, let us take a glass of wate What is the use knowing the amou of water in a river ? If we cann do without Mother, Mother to cannot do without us. If we leave th toys and cling to Her, she appea everywhere—in the blue above an in the green below. Her smilin face is seen through every visib form and every mental state. Sh comes, comes, ever comes.

Christmas poem for Dear Ma

(Elwood Decker)

O my mind, meditate on Thy MOTHER !
Like a doll pressed against the heart of a little girl
Be still ! Be not a wiggly paper doll, or a rag doll to thrown around ; but a solid doll firmly made, and painted with the glorious colours of love.
Smile ! And stay where you're put !
Be still ! Or be a waxen doll which will melt in the sun of knowledge.
Be stil, and wait for the Sun to Shine.
The Sun of knowledge will Shine in the Heart
For the Sun of Knowledge Shines with the Presence of My MOTHER, WHO Is made of Love alone !
The heart is the drawing room, where MOTHER entertains visitors.
O SHE Loves company
SHE will Show you Unimaginable Treasures of Beauty.
And SHE will Tell you Stories no one e *can* tell you.
Be sltll ! And wait for HER...and Be sil
While SHE is Talking.
Now this is a strange thing...
In the Land of our MOTHER, if we t wish to
Really *see* each other, we sit quite still and wait.
But if we *try* to see each other, noth comes of it.
Be Still. Do nothing. And have a visit..
a doll's Visits with our MOTHER.

ĀNANDA - VĀRTĀ

Dr. Roma Chaudhuri.

One of the most fundamental and difficult problems of Philosophy is that of Creation. The ordinary monotheistic view, as ably propounded by monotheist Vedantin, Ramanuja, Nimbarka and others, is that *Brahman* or *Isvara*, is both the *Upadana-Karana* and *Nimitta-Karana* of the universe. That is, He, as both the material and the efficient cause of the universe of souls and matter, Himself transforms Himself in the form of the world Hence, our Upanisads assert beautifully :—

> "He desired to be many."
> (Chandogya Up. 6-2-3)
> "He Himself created Himself.
> Hence, He is called a Self-Creator."
> (Tattiriya Up. 2-7-1)

This is the famous Doctrine of Transformation or *Parinama-Vada* of the Monotheistic Schools of the Vedanta.

But an objection against this *Parinama-Vada* may be raised here. For a question may legitimately be asked as to why Brahman should create the world. It is well-known that every voluntary action of a rational being is due to a motive, *i. e.* to a feeling of want, an idea of an object capable of removing that want, and a desire for that object. In other words, our voluntary actions are nothing but our strivings for attaining unattained ends, gratifying ungratified desires and none but an insane person who has lost his reason, or a child whose reasoning faculty is still immature, acts without a motive. Hence, the activities of God, too, who is *Jnana-svarupa* or knowledge in essence, cannot be motiveless. For this reason, the fundamental question naturally arises as to the motive behind His great cosmic act of Creation, Sustenances and Destruction. He is, by common consent,

> *Nitya-Shuddha, Nitya-Buddha*
> *Nitya-Mukta, Nitya-Tripta*—

Eternally Pure, Eternally Knowing, Eternally Free, Eternally Satisfied. Accordingly, there cannot be any unattained end or ungratified desire in His case. If that be so, what can at all be the motive behind His Act of Creation ?

In reply, the Monotheistic Vedantists have propounded the celebrated Vedanta doctrine of 'Lila'. According to this view, the creation of the world is nothing but '*Lila*' or a play, a sport on His part.. '*Lila*' or sport springs not from *Abhava*, but from *Svabhava*, that is not from any want or imperfection, but, on the contrary, from fulness and perfection. Hence, while dealing with the problem of creation, the *Brahma-Sutras* say :—

"*Lokavat-tu Lila-Kaivalyam*"
(Br. Su. 2-1-32)

This means that the world-creation is only a play on the part of God, as also found in the world in other cases. This is beautifully explained as follows :—

It is often found in the world that an all-powerful, supreme, sovereign owner of all lands, engages himself in various kinds of sports and pastimes. Such sports are, evidently, not undertaken by him for attaining an unattained end or for fulfilling an unfulfilled desire. On the contrary after all his ends have been attained, after all his heart's desires have been fulfilled, after all his duties have been done, after all his responsibilities have been discharged, then alone can he, with full ease and joy, indulge in all those pastimes, mirth-making, frolicking, sports and games. Thus, sport etc. do not indicate any want or defect on the part of one who engages himself in those sports ; on the contrary these are but signs that there is nothing wrong with him, that he has no wants or defects to work or grieve for. In the very same manner, this universe is nothing but the outer manifestation of the ever-flowing, ever-full, Bliss of Brahman. Bliss has a natural tendency to overflow, to express itself, to permeate all things around. When we are fully happy, that happiness can be seen from our every expression, every gait, every gesture, every act. Similarly, Brahman, in the, everperfectness of His Nature, in the everfulness of His Bliss, in the ever-satisfaction of His Being, naturally, i.e. by force of inner nature and not by that of outer necessity, manifests His ever-perfectness, ever-fulness, in one word, His infinite, supreme and sublime Bliss in the form of the universe. Hence it is that Tattiriya Upanisad, explaining the cause of creation, says :—

"From *Ananda* or Bliss, verily, all these beings arise; having so arisen they are sustained by Bliss, then they re-enter into and return to Bliss again" (Tait. Up. 3, 6).

This is the most exhilarating, fundamental Indian conception of *Brahman* as *Ananda* or Bliss. It is in this conception that we find the greatest and the sweetest *Ananda Varta* of the world. What is this sublime, yet simple '*Ananda Varta*' or Message of Joy and Hope to all and sundry ? It is noth ing but the infinitely solacing message that although the universe is apparently so full of pains and sufferings, impurities and imperfections, yet, being the effect, the transformation, the manifestation of the All-Blissful, All-Pure, and All-Perfect *Brahman* it is really Bliss, Purity and Perfection in essence. The world is nothing apart from God, nothing different from Him. On the contrary, as God Himself as cause, has transformed Himself into the world, as effect, it is He who animates and permeates its each and every part, it is He who in fact, is the world. That is why, the universe is divine through and through, whatever its mere outer appearances may be.

Of course, we ordinary individuals, with our vision dimmed by ignorance or *Avidya*, and our hearts deadened by desire or *Kamana*, fail to realise the real nature, the inner essence of our own existence, as well as of that of the world. And so, we are misled into thinking, on the one hand, that we are the most sinful and most sorrowful beings on earth, and on the other, that this world, with its apparently glittering and gladdening array of things, affords us the only escape from this endless series of frustrations and miseries that seem to be our only lot on earth. But those who, through *Sadhana and Tapasya*, spiritual strivings and sublime penances, have captured the *Ananda* or Bliss of Brahman in their heart of hearts, stretch a helpful hand to us and give us the inspiring calls to a life Eternal, Life Beautiful, Life Blissful, thus :—

"Hear, ye all, the children of the Immortal, residing in the Divine Abode" (Svet. Up. 2-5.)

Thus when the Divine Light restores the light our eyes and illumines the innermost core of our hearts, we with the real Seers, the *Satyadrsta Rsis*, see the Divine Being everywhere, feel the Divine Bliss everywhere catch the Divine Image in our innermost beings. Then only, with the Seers of the *Taittiriya Upanishad*, do we realise that Brahman and his essence, the world, is "*Rasa*" (Juice), "*Madhu*" (Honey), "*Amrita*" (Nectar), "*Ananda*" (Bliss) and "*Aloka*" (Light), thus :—

"Verily, He is the *Juice*. He who tastes this Juice, alone is blissful"
(Tait. Up. 2-7-3)

"This world is the *Honey* of all beings, all beings are the *Honey* of this world" (Brh. Up. 2, 5, 1).

"The Winds blow *Honey*, the rivers pour *Honey*" (Brh. Up. 6, 3, 5).

"Through deep knowledge the wise Perceive Him who shines forth as *Bliss* and *Nectar*, as the Immortal."
(Mund. 2, 2, 7).

"He is *White*, the *Light* of lights, whom the knowers of self know."

(Mund. 2, 2, 9).

In fact, the aim of all our '*Sadhanas*', all our spiritual hankerings and strivings, is to realise this eternal '*Ananda Varta*' this eternal Message of Bliss, Peace and Salvation that is being sent to us incessantly from all sides by the Divine Being Himself, as well as, by the Universe, His image and soul. The earth and the water, the fire and the air, the ether, no less, all the elements, all the objects, great or small, are constantly calling us to open our hearts, uncover our eyes, stretch our ears, so that we may receive, realize and hear this lofty and magnificent, yet simple and sweet, "*Ananda-Varta*" viz that God, Soul and Matter are one and the same, are in fact, nothing but three sides of the same universal Mass of Peace and Bliss, Purity and Perfection.

Let us, then, have an optimistic outlook on life ; and instead of wasting away our time and energy in vain, narrow, worldly pursuits, let us be constantly up and doing, and fulfil our eternal destiny, viz. *Atmopalabdhi*, *Atma-Vikasa*, *Atmonnati*, i. e. Self realisation, Self manifestation, Self-advancement. It is the *Atman* or the Self that alone counts in life ; or, it is we ourselves who are the only makers of our destiny, the only architects of our Fa Hence declares the *Bhagavad-Gita*—

"Work out the Salvation of t Self by the Self alone. For, the S verily is the best Friend of the Se again, the Self, verily, is the wo Enemy of the Self". (*Gita 6-5*).

Let us all undertake a new G *Mata-Vrata* or Great vow of Self-fai Self-dependence, Self-striving. It not only in *knowing*, not even in *feel* but in constant *doing*, that our salv tion lies. Let us take to heart t eternal message of our Holy Ṛsis, a keep to it eternally :—

"One who moves about, gets t honey ; one who moves about, tas the sweet fruit. Look at the eter glory of the sun, who, while movi about, never dozes for a moment.

So, only move on ; keep o moving on.

"When one lies down that is t Kaliyuga ; when one wakes up, th is the *Dvapara-Yuga* ; when one sta up, that is the *Treta-Yuga* ; and wh one begins to move, that is *Satya-Yuga*.

So, only move on ; keep o moving on !"

(Aitereya Brahmana)

May this Holy *Satya-Yuga*, the of *Satyam, Sivam, Sundaram* ; the Ag Truth, Beauty and Goodness, d upon us all through our own effor

MOTHER ANANDAMAYEE

(By M. M. V.)

I confess I felt somewhat tantalized by the kind and persistent invitation of the Editor of the *Anand Varta* to contribute an article on Mother Anandmayee. Readers may naturally expect a writer to tell who is this unique woman saint, about whom various beliefs are held by devotees and other spiritual savants who have come into contact with her; about her mission; her modes of living and work, and about her teaching.

But I do not find myself competent to write about any of these things. As regards teachings, my mind happens to be cast in a different mould, having received instruction in the rational ways of the mind from other sources. To the abundant rituals and religious ceremonials filling her surroundings I am unfortunately not particularly adapted. Of her mission in the world I do not know. Who she is, I dare not speculate.

What, then, can I write?

I can only write of what Mother is to me.

The Divine has all the qualities which men attribute to Him according to their natures and wants; but He has not only those attributes and qualities but has an infinity of attributes and qualities. Every seed derives what it needs from the earth, the sun and the air; but it does not mean that it has known all that there is in the earth, in the sun and in the air.

So, what is it in Mother that calls forth my devotion and draws me so close to her?

The Divine fulfils Himself in many ways. In a state when the mind was stunned in the process of being knocked inwards from outside, while yet refusing to retreat within, Mother Anandmayee seems to have appeared on the scene to comfort by her compassion and to impart a glimpse of what the poor mind has been after throughout the cycle of time and space.

Indeed, she gives a vision of that "fourth dimension" of Reality, for which the mind would seem to have been throbbing in its long-drawn agony.

One reads and hears of the transcendence of the Divine; but that does not carry one very far. The taste of the sugar-cane consists in the eating thereof.

Mother Anandmayee comes to me as a veritable *Vibhuti* of the Divine Mother, of *Satyam, Shivam, Sundaram.* She comes as a gleam of light in the dark cavern of the mind.

In the game of hide and seek she appears as the heroine.

She gives no teaching to me. The arduous *sadhanas* that her praiseworthy devotees carry out all the time evoke my admiration and even envy, but little practical response from me, if only because perhaps I am *tired* and have little strength to undergo such *sadhanas.*

I do not know her mission.

I do not know who she is.

And yet, she comes to me as a Magnet of Love, drawing even the rustiest steel of my being to Her.

I cannot look forward to any 'wages' of *sadhana,* for I have no assets of *sadhana* to my credit. Yet Mother's Grace bestows upon me a feeling of *kinship* with her, which seems to me to be of a much richer stuff than any fruit that *sadhana* could yield.

To Her 'littlest' infant She beckons-Love, Beauty, Joy.

On such unearned Grace (अहैतु की कृपा) and Motherly Love I stake my all. I can be no loser, for that all is the nothing that I am.

I surrender myself—my nothi
ness to Her, and even She can
longer make me believe that I could
unacceptable to Her because I am
filthy rags. She may remain hidd
from me for a while, but not
quality of Mercy !

What more shall I say ? Let
conclude with the classical pra
which a great one seems to ha
composed for me ; as it were :

न मंत्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम् ॥

(Alas, I do not know either T
Mantra or Yantra nor songs of pra
to Thee, nor how to welcome Th
or meditate upon Thee ; neither do
know words of praise to Thee, n
Thy Mudra, nor how to inform Th
of my distress ; but this much I kno
O Mother, that to take refuge in Th
is to destory all my miseries.)

मत्समः पातकी नास्ति·
पापघ्नी त्वत्समा नहि ।
एवं ज्ञात्वा महादेवि
यथायोग्यं तथा कुरु ॥

(There is not such a sinner
me, neither such a destroyer of
as Thou. O Mahadevi, having kno
all this do as Thou thinkest fit.)

DIARY LEAVES

By

ATMANANDA

(12)

During Mataji's stay at Kishenpur and Hardwar in April 1957, an American lady asked a number of questions of general interest. These questions and the gist of Mataji's answers were taken down afterwards from memory.

Question : When waking in the morning I feel near God ; but by the time I have got up and sat down for meditation this mood has evaporated to a certain extent. Is it all right to meditate lying down ?

Mataji : When you learn something by heart it is irrelevant in what position you do so. Some people learn better while sitting, some while lying down and others while walking up and down. If you find it easy to keep your mind on God while lying, you may do so, lying straight. But the best position for meditation is to sit straight and absolutely still in the posture which is most comfortable for any particular person.

Question : Is it good to sleep in the day ?

Mataji : Ordinarily life is in any case a kind of sleep from which one has to wake up ; it is therefore good to keep awake as much as possible. Brahmacharis and Sadhus are not allowed ever to sleep during the day. As one progresses in one's meditation one needs less and less sleep. The ordinary person contacts his Self in deep sleep only, while at all other times he is separated from it. This contact is unconscious, yes, it is there and this makes life bearable. Therefore sleep is absolutely necessary for the average individual. The aim of all *sadhana* is to become fully conscious of one's Self, when this has been accomplished a state has been attained which transcends both sleep and what is commonly called waking.

In sleep the body rests and recuperates, this is why people are given sleeping draughts when they are ill. When you are very interested in something you do not feel sleepy, you are able to stay up till late at night, but afterwards you get a reaction and have to make up for lost sleep. When you become really interested in the Quest of God or Truth you will find ever greater joy in meditation and need less and less sleep. The time of sleeping should be reduced gradually, but not forcibly.

The necessity of sleep has to decrease spontaneously, otherwise one will feel tired and be unable to do one's work well. However by taking say 10 minutes off one's 6 hours of sleep there will be no adverse effect. The need of sleep depends to a certain degree on one's state of health and on the quality and quantity of one's food.

Question : Many people beg out of habit even when they are not really in need. Should one give to such beggars ?

Mataji : If one happens to know that they are not in need one should definitely not give. For if they misuse the gift part of the evil results will have to be borne by the donor. Sometimes one feels intuitively whether a beggar is in need or not, but by no means always. Often there is no way of finding out. In such cases one should give with the thought that it is God in that guise who is asking for alms. When giving with this attitude no evil consequences for oneself will follow one's gift.

Question : If a person lives alone and therefore feels that he or she should keep a pet dog or cat, will it be a help, since every creature is essentially God in one shape, or will on the contrary one's affection be directed outwards instead of turning towards God ?

Mataji : If someone has to live alone and wishes to keep a watch dog there is no harm; for he is not likely to get attached to the animal. Bu if he keeps it as a pet and is all th time busy looking after it, it wi disturb his meditation. What on thinks about, that one becomes Already you are bound to attend t your own physical needs, by takin on a pet you will only multiply you material duties.

This reminds me of a story, althoug it is not quite to the point : " sadhaka complained to his Guru tha he was quite incapable of concentrat ing on his meditation. The Gur tried in vain all sorts of devices Finally he asked the disciple : 'Who do you love most ?' 'My buffal was the reply. 'Very well', said, th Guru, 'sit down and concentrate o the buffalo.'. The disciple arrange for the animal's food and drin and then locked himself into h room. To engage himself in th contemplation of his beloved buffa was easy enough for him and he co tinued to do so until he forgot ever thing else and become absorbed *Dhyan*. The next day the Guru cam to see how the disciple was farin but could not find him anywhe He called his name several times the disciple did not hear. After mu calling and knocking he was at l roused from his meditation. 'O the door and come outside,' shou the Guru. 'How am I to get o replied the disciple, 'my horns won't go through door !' 'You see, What you think about that you become. This is why it is said that one should meditate on the Self (*Atma*) rather than on any particular form. Nevertheless if there is no other means of concentrating, this also may be a way. The disciple having learnt one-pointed concentration, later was able to go beyond the form of the buffalo and attained to real Union.

Another incident was reported to me some years ago. A European lady had been deserted by her husband whom she loved dearly. She found it impossible to get over the loss of him and in a state of acute mental distress approached a saint with the request to teach her how to forget her sorrow. The saint advised her to sit before her husband's photo and contemplate it with the idea that it was an image of God. The lady did as had been suggested to her and got much solace from her meditation, as she felt closer and closer united with her husband's soul while the physical separation seemed to matter less and less. After a few years her husband repented of his behaviour and returned to her. But the woman refused to live with him and asked him to leave her again. She had contacted something real that remained with her always and consequently lost her attachment to the physical form which comes and goes.

Question : I still don't know whether to take on a pet animal or not ?

Mataji : Practise meditation for some time and see how you feel. Rather than caring for a dog or cat turn your thoughts to the Divine.

Question : Is it necessary for grown-ups to drink milk ?

Mataji : Milk and ghi are necessary not only for children but also for grown-ups ; old people become like children again when their teeth fall out, so they need milk as a matter of course,

Question . Is it good to take buffalo's milk ?

Mataji : You worship Gopal, don't you ? Gopal was a cowherd not a buffaloherd. Cow's milk and milk products are best.

Question : A buffalo is a lazy heavy animal. Are these qualities, absorbed into man when he drinks its milk ?

Mataji : Certainly, these qualities will be communicated to those who drink the milk.

Question : In India the custom is for parent to arrange for their children's marriages ; in the west young people choose their own partners. Which is the better method ?

Someone from the audience : For India arranged marriage in more suitable and for the West to choose for oneself.

Mataji : Parents love their children and are eager to see them happy ;

besides they have the advantage of many years of experience of the *Grihasthashrama*. Young people are likely to be deluded by mere physical attraction which is temporary. Love marriages are therefore often a failure. Marriage that is arranged by wise parents is best.

Question : Sometimes young people are being married who mix like oil and water. How can the parents know beforehand whether this will not be the case especially when the bride and bride-groom have never even met before the wedding ?

Mataji : Parents have a very good chance of knowing intuitively what is right for their children and they will think very carefully before deciding on their child's husband or wife, and children (in India at least) have great faith that whatever their parents do is for their best. Moreover the *mantra* which is pronounced at the wedding to unite them and the ceremony itself establish a bond between the couple. Their union is consecrated to god and the wife is called the husband's *sahadharmini*. Their life together is meant to help them towards the goal of human life which is Self-realization. If they see each other for the first time during the ceremony after their union has been consecreated, this will be an aid to their living the *Grihasthashrma* in the right spirit. If on the other hand they have seen each other beforehand, they have as it were had a foretaste o mutual enjoyment, before their unio has been sanctified before God. Th ideal marriage which in our days can hardly be found at all is when afte one or two sons and daughters hav been born, husband and wife adopt th *Vanaprasthashrama* and live togethe like brother and sister or father an daughter. The Rishis of ancient time were married and had children. They lived as what is called 'marrie Brahmacharies'. In our times ther are quite a number of unmarrie Brahmacharies, but married Brahmacharies' are very exceptional indeed.

Question : If one has surrendered to Go completely, is it right to take legal action i case of a misappropriation of one's possession

Mataji : The fact that you as whether you should go to law cour shows that you should do so. At th moment you probably feel that i would be nicer not to take any actio but later when you may be in nee of what has been taken away yo will regret that you kept quiet an it will worry you. But when seekin your right you should do it in a strictl lawful way, always speaking the tru etc. If you had really surrendered t God completely you would never as such a question.

Question : Some people say that a th steals only from a thief. Surely, I am no thief.

Mataji: When some one secretly removes what belongs to you, you call him a thief. But there is a stage of spiritual achievement where God is perceived in all forms and actions. What then will be the significance of "I" and "mine"? Find out who you are and what belongs to you! Then when someone removes anything without your knowledge you will not feel that it has been stolen. If there is only ONE ATMA, how can there be a thief.

There is another state where one may say such and such a person is a thief, without judgment and without resentment, for at the same time one will also see that it is the ONE who expresses in countless ways, that God's hand is in everything that happens.

SRI MATA

(Miss Monika Schlatholter)

O Mother, surely Thou art greatest,
Of all that's living Thou art best—
Thou art Divine, O give Thy blessing!
Render us Peace in times of warring.

O Ma, I'll never know Thy real greatness
Infinite Depth!—Yet I kneel in weakness
At Thy Holy feet: I seek Thy Grace—
And cry again: give Peace to our race!

Once, O only once I long to be
Within Thy healing presence, Mataji!
One thought of thee alone brings happiness,
Feeling Thy LOVE is soothing in distress.
O may this bleeding world for long be blest
With Mother's sacred Feet on it to rest.
Through Ma we may reach our final goal at last
Sustained by motherly Love poured out on us.

MATRI-LILA

(February—April, 1957)

On January 31st Mataji left Varanasi, reaching Bombay on February 1st. There She stayed quietly at Vile Parle till February 12th. Only once She went out to attend the inauguration ceremony of the Sadhubela Ashram, which was held at the Vallabhai Stadium. On February 13th She arrived in Ahmedabad leaving again on the 15th morning and alighting at Jaipur late that night. Two days later She proceeded to Kuchaman where the Raja Sahib of Kuchaman, an old devotee of Ma had invited Her. She was given a royal reception here and even guns were fired in Her honour. At Jaipur Shree Ma and Party were the guests of Shri Madan Mohan Varma, who had made arrangements for their stay at the *ashrama* of the late Swami Lachhi Ram Ji— a renowned Vaidya of Jaipur and a *yogi*. The *ashrama* is dedicated to the DADU line of saints, and is used only for select religious purposes. It is situated in a large garden, amidst peaceful surroundings. Mother's stay in Jaipur, though all too short, enabled many a devotee to have her *darshan* and enjoy Her holy *satsang*. There used to be devotional songs and *kirtan* in the evening, followed by a gathering of spiritual aspirants in Mother's room, at which Mother was pleased to favour those present with her utterances full of love and wisdom. She was also pleased to grant interviews to individual aspirants and enquirers.

At the same time, Pujya Hari Baba and his *Ras* and *kirtan* parties have also come to Jaipur from Vrindaban a couple of days earlier, to join Shri Ma. *Kirtan*, *satsang* and *Ras* used to be held at Shri Varma's residence (where Shri Hari Baba and his party were staying) both in the morning and the afternoon, which Mother graced by her presence both the times. One morning *Ras* was also celebrated at Poddar Park (residence of Seth Ram Nath Poddar), which too Mother graced by her presence.

Jaipur indeed felt blessed by Mother's visit. Many persons still feel having been simply *charmed* by the benediction of Mother's *darshan* and *satsang*. And many who could not get news of Mother's visit in time have since expressed a feeling of tantalization ! Jaipur people hope that Mother will be blessing Jaipur again with her visit at no distant time. Then She visited Jodhpur and after another few hours at Kuchaman travelled to Vrindaban reaching there on the morning of the 24th February. Several people from Jaipur and Kuchman followed Her to Vrindaban. Bhaktas arrived in ever increasing number from Varanasi, Calcutta, Allahabad, Kanpur, Delhi, Bombay, Ahmedabad and other places to attend the Shiva Ratri and Holi festivals and the Bhagavata Saptaha that was held in between.

The Vrindaban Ashram has recently

been enlarged by two beautifully designed and well-planned buildings. The one is a hall called *Bhagavata Bhavan*, measuring 76 square feet, adjoining the two temples that are dedicated to Shiva and to Nitai–Gouranga respectively. The cost of the hall has been donated by a Rani In memory of her deceased husband. it is open practically on all sides supported by pillars with a large room on one side which serves as a dressing-room when the *Rasa Lila* or other dramatic performances are staged and otherwise as a store-room. Just outside of it there is a large glass cupboard in which the Srimad Bhagavata is being permanently kept. Every day throughout the year portions of the *Bhagavata* will be read out in the hall and on every fullmoon night '*Rasa Lila*' will be performed there. Beneath the hall a number of rooms that are partly below ground level have been constructed, which can accommodate many guests and will be especially useful in the heat of summer.

The second new building is a guest house called '*Gita Bhavan*', donated by another royal widow. It is situated between the main Ashram and the entrance of the compound. So far it consists of one storey as well as underground rooms ; a second storey is to be added as soon as funds permit. One room of *Gita Bhavan* has been set apart for the daily reading of the *Bhagavad Gita* and *satsang* in general. The ceremonial opening of both buildings took place on the 27th February, *Shiva-Ratri* day early morning in Mataji's presence.

Shiva Ratri was celebrated in the beautiful new hall in the usual way by four *Pujas* throughout the night and Kirtan in between. *Siva-Ratri* is always a very special occasion of an extraordinarily grave dignity and a concentrated pervading peace that makes an indelible impression on all present. Mataji remained in the hall from about 6 p. m. to 4 a. m. Some beautiful, soft and delicate songs sung by a few South Indian ladies that had come from Delhi especially to spend that holy night in Mataji's blissful presence, gave their added charm to the festival.

From March 3rd to 10th a *Bhagavata Saptaha* on a most unusual scale was held, followed by *Havan* on the 11th. In fact two *Bhagavata Saptahas* were going on simultaneously : one in the large hall where 108 pandits clad in bright orange silk shawls chanted the *Bhagavata* in Sanskrit every morning for 3-4 hours, followed by explanatory discourses in Hindi in the afternoon and another reading in the *Gita-Bhavan* followed by Bengali discourses. In both places Kirtan was sung right through the interval at midday and again after the *Arati* in the evening. Apart from the large number of guests who had come from outside, visitors from Vrindavan and Mathura assembled daily during the whole of the week. But in that enormous hall there was ample space for all. Only on the evenings when the *Rasa Lila* or similar dramatic performances were staged even the hall proved inadequate.

Sri Hari Babaji Maharaj's birthday falls on Holi; but it was celebrated in our Ashram a day earlier in great style in the packed hall. The whole Ashram compound had been decorated with flags and garlands and sweets were distributed to all present.

On *Holi* morning, March 15th, there was once more a ceremony to install the holy scriptures in their respective permanent places. This time the *Gita* was recited 108 times, not by Pandits but by about 55 ashramites and guests, a few of them taking two or even three turns. Mataji was in and out of *Gita-Bhavan* distributing garlands, fruits and sweets and encouraging the readers who had spread out all over the veranda as well as the room. Before midday the joyous task of chanting the Gita 108 times had been accomplished and Mataji was begged to start the *Holi* play. Since Her health was not very good at the time She just sat in the hall in front of a large bucket with coloured water squirting a few shots on each one of the dense crowd that surrounded Her and wished to receive Her blessing in this way. Throughout the day very lively and enthusiastic Kirtan was being kept up.

During the whole of Mataji's sojourn of three weeks perpetual meditation was sustained day and night, people taking turns of one or two hours each.

On March 17th Mataji left for Modinagar and every-body dispersed. By the evening the Ashram seemed deserted with only the few permanent residents remaining behind. Modinagar is an industrial town about 20 miles from Delhi on the way to Meerut. Mr. Modi, the industrialist after whom the town has been named, had arranged for a *Nama Yajna*, that is perpetual Kirtan without a break for a whole week. Mataji, Sri Haribabaji Maharaj and Sri Krishnananda Avadhutaji had accepted his invitation to be present throughout the week. Elaborate arrangements had been ma to ensure the comforts of all gue But untimely rain and heavy thu derstorms played havoc with pand and tents. Inspite of the bad weat very many visitors kept on comi from Delhi and other places and t atmosphere of abounding joy cou not be damped by the inclemency the elements. The *Nama Yajna* v brought to a successful completion.

On March 25th Mataji proceed to Hapur and from there to Vindhy chal where She arrived on the 2 late at night.

On April 1st She motored Varanasi where Vasanti Puja v celebrated from the 6th to the 9 Mataji however left on the 8th (*Ash* day) for Barabanki where She attend a function on the 9th, reaching Deh dun on the 10th morning.

At Dehradun there are four Anandamayi Ashrams, two at Raip near the Shiva temple where Mat stayed for several months with Bho nathji and Bhaiji when She left Ben for the first time in 1932, and two Kishenpur on the road to Mussoo This time Mataji during the first days of Her visit chose to reside *'Kalyanvan'* which is about three longs further up than the older Kish pur Ashram. *'Kalyanvan'* was origina intended to become the site of *'Vidyapith'*, the Boy's School for Br macharis run by the Sri Sri Anan mayi Sangha at Almora. Instead this it has developed into a beau fruit and flower garden. It is a qu secluded spot with a charming v of the Mussoorie Hills. Usually w Mataji comes to Kishenpur the cottages at Kalyanvan are occup by Sannyasis and a few Brahmachar

Last year a large platform was built in front of the upper cottage. There Mataji would sit or walk about in the cool of evening, people coming from all over Dehradun and surroundings for Her Darshan amongst roses and jasmines. Sometimes She was in a communicative mood and would reply to questions or tell stories, one after another till it got dark and everyone had to hurry back either homes or to the main Ashram for the evening Kirtan.

* * * *

On April 13th 1939, *chaitre Sankranti*, which is the New Year's Eve of the Bengali year, Srimati Mokshada Sundary Bhattacharya, Mataji's mother lovingly called 'Didima' by all the thousands of Mataji s children was initiated into Sannyasa by Mahamandaleswar Sri Mangalananda Giri Maharaj at Hardwar and thence became Swami Muktananda Giri. Last year for the first time this happy and auspicious event was celebrated solemnly at the Varanasi Ashram by a full programme of Kirtan, Arati, the reading of Scriptures etc. This year the celebration was to be held once more at Varanasi, when towards the end of Mataji's stay at Vrindaban it was decided to observe it at Kishenpur for the convenience of Giriji's devoted disciples at Dehradun. Gurupriya Devi with a few others had already gone to Kishenpur from Vrindaban on March 17th and when Mataji left Modinagar 8 days later a number of Sannyasis & Brahmacharis joined Gurupriya Devi at Kishenpur and readily undertook to help with the preparations, for the festivities were to be on a much larger scale than in the previous year. In fact a preliminary function was already held at Varanasi on the 5th of April. Invitations were printed and an elaborate provisional programme drawn up starting from 4-30 a.m. on the 13th and continuing without a break till 6 a. m. on the 14th. Until almost the last moment it was quite uncertain whether it would be possible to attract enough experienced singers to keep up the long hours of Kirtan and whether the co-operation of some learned Mahatmas could be secured who would deliver talks worthy of the occasion. Moreover some *Sannyasis* were to be entertained with choice food and presents and a feast given to all who cared to be present. Only during the very last days before the function, funds began to pour in abundantly, justifying to the full the faith of the disciples. Encouraged by Mataji who often stresses the importance of devotion and complete surrender to the Guru as God, they felt that a celebration in honour of their Guru must needs be crowned with success. Didima herself, who by nature is extremely shy and reserved and dislikes nothing in the world as much as she does to be the centre of attention, seemed to feel visibly uneasy at the thought of a big celebration in her honour. But Mataji said : "The festivel has nothing to do with Didima. Giriji's becoming a Sannyasi will be commemorated by her disciples, that is all". It was to be taken completely impersonally.

Actually the whole day and night passed in such harmony and deep joy, one item of the programme spontaneously following another one could not help feeling interested and inspired. Some visitors who had come only out of politeness and intended to stay just for a short while could not tear themselves away and remained for hours together and many sat up all night for Kirtan.

The whole Ashram including the garden and the gate had been gaily and tastefully decorated and during the night there was a blare of coloured lights that could be seen from a considerable distance. On the 12th evening two Sannyasis belonging to the Ashram were sent to Hardwar and Rishikesh to invite several Mahatmas to grace the function with their presence and enlighten the audience with their discourses Three of them responded, namely Mandaleswar Sri Sri 108 Maheshwarananda Maharaj from Bombay, Sri Sukhadevanandji of *Paramarthaniketan* at Rishikesh and Sri Krishnananda Avadhutaji. They each chose their own time and a car was therefore put at the disposal of each of the Mahatmas.

Punctually at 4-30 a.m. the Kirtan started with a circumambulation of the Ashram. At about 8 a.m every one present went to '*Kalyanvan*' and Didima, Mataji and Didi were taken in procession to the Ashram in a car decorated with gerua coloured cloth, a tigerskin and garlands. Even the police band had been called for the occasion. They marched in front followed by bhaktas and disciples who sang. "*Satyam Jnanam Anantam Brahman*" all the way, surrounding the car which was driven at walking speed by the Raja of Amb. The traditional reading of portions from Gita, Upanishad etc. was followed by a talk by Sree Sukhadevanandaji Maharaj. He as well as the Mandaleshwar and the Avadhutji who spoke in the afternoon, enlarged on significance of *Sannyasis*, and gave stances from the Scriptures of lightened women *Sannyasis*, such *Gargi* and *Bak* mentioned in *Durga Sapta Shati*. Opinions am learned men vary as to whether wo are entitled to take *Sannyasa*. It pointed out that *Sannyasi* is a st in which the question of a pers sex cannot arise. *Sannyasa* me complete renunciation of everyth that is fleeting; this is possible o for one who has had at least glimpse of real Knowledge, a ta of Divine Joy, which automati evokes *Vairagya*, indifference to wor ly pleasures and enticements, for the Light of Reality those things felt to be savourless and unallur A true *Sannyasi* is desireless beca the one thing in which he is interes is *Brahmvidya*, the Knowledge of Supreme. Therefore the questi whether he happens to be a man or woman does not arise. Unaffected pleasure and pain, heat and co praise and blame, intent only on Realization of the One in every be and beyond all beings, he natur becomes an example, a guide, a bea light to those who are stumbl and groping in the dark. This the significance of the function its purpose to bring it home to that we all are travellers on the P of Immortality. By various ways methods Mataji keeps on remind us of our Divine calling. Indeed a day and a night spent in intense, concentrated atmosphere, fused by a heavenly bliss, our p worries, cares and quarrels seem of proportion; we have been li into happier, clearer and lighter sp

To pay homage to Didima's outstanding kindness and concern for all who come within her orb, her disciples had decided that everyone who came to the Ashram on that day, without exception or distinction should be asked to partake of the very delicious meal served to all alike from about 12 p.m. to 8 or 9 p.m The Swamis of the Sri Rama Krishna Mission at Kishenpur, many neighbours and all bhaktas of Dehradun had been invited for the feast.

The next day, as a sequel to the celebration, the inhabitants, men women and children, of two villages near the Ashram were entertained to two maunds of '*khichuri*' with an adequate quantity of vegetables and curds.

The all-night-Kirtan was brought to its happy close when, at about 7 a.m. on April 14th, all present went to *Kalyanvan* to offer flowers at Mataji's feet and receive Her Blessing for the New year. That night Sri Giriji's disciples (several of them are Sannyasi) assembled in Mataji's room and She told them that they were an '*Ananda Vardhana Sabha*', that is association for the promotion of real Joy, the Joy that is eternal, that is Beyond the opposites of happiness and sorrow and comes with the realization of the *Brahman*, of THAT which IS. Unattached and without craving for anything of this world or the next the *Sannyasi* has to pursue the knowledge of the Absolute and do service wherever required, remembering that it is the Supreme who is served in every creature. Didima added that infinite patience was the virtue that is the most beautiful adornment of every Sannyasi.

Giriji's Sannyasa Utsava was celebrated also at the Ashrams in Varanasi, Vrindaban, Delhi and Rajgriha.

Mataji remained in Dehradun till April 25th when She motored to Hardwar. From there She went on to Vrindaban on the 27th leaving again on the 29th for Ahmedabad where Her 62nd birthday will be celebrated from May 2nd to 17th. A *Bhagwata Saptaha* will form part of the celebration.

NOTES & COMMENTS

On behalf of Shree Shree Anandamayee Sangha, Varanasi and the 62nd Birthday Celibration Committee, Ahmedabad, we have great pleasure in announcing that the 62nd Birthday Celebration of Shree Shree Anandamaye Ma will be observed from May 2-17, 1957 at Ahmedabad according to the programme given below :

At the premises of Sri Kanti Bhai Munshaw, Sarkhaj Road, Ahmedabad-7.
Phone - 7227.

2nd May 1957. (3rd May according to English Calendar at about 3-30 A. M.)	Beginning of the celebration including Puja of Mother, Akhanda Japa etc.
11th to 16th May'57 Daily morning 8 to 11-30 a. m. and after noon 3 to 7-30 p.m.	Bhajan, Mother's Puja, Chandi Path Parayan and Kirtan by Sri 108 Hari Babaji Maharaj and religious discourses by eminent Mahatmas and learned scholars.
16th May 1957 (17th according to English Calendar at about 3-30 A.M.)	Tithi Puja of Mother.

At the premises of Sri Mukund Madhav Thakore, B.A., LL. B., Principal, Law College, Ahmedabad, "Ananda Lahari," Ambavadi, Ellis Bridge, Ahmedabad.

2nd May to 9th May 1957, Daily morning 8 to 11-30 a. m. and after-noon 3 to 7-30 p. m.	Bhagawat Saptah Samuha Parayan and religious discourses by eminent Mahatmas and learned scholars.
10th May 1957.	Bhagawat Saptah Havan and Purnahuti.

List of Publications from Shree Shree Anandamayee Ashram

B 2/94, BHADAINI, BANARAS.

Name of Books	Language	Author	Price		
Matri Darshan	Bengali	Bhaiji	2	0	0
Matri Darshan	Hindi	,,	2	0	0
Matri Darshan	Gujrati	,,	2	0	0
Matri Darshanam	Sanskrit	,,	1	8	0
Mother as Revealed to Me (English Version of Matri Darshan)	English	,,	2	0	0
Sadvani	Bengali	Bhaiji	1	0	0
Sadvani	Hindi	,,	1	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	Bengali I	Gurupriya Devi	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, V	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VI	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VII	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VIII	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IX	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	Hindi I	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2	0	0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2	0	0
Ma Anandamayi	Hindi	Dr. Pannalal	2	0	0
Matri Lila Sankirtan	Bengali	,,	0	5	0
Matri Lila Sankirtan	Hindi	,,	0	5	0
Akhanda Mahayajna	Bengali	Gurupriya Devi	2	8	0
Akhanda Mahayajna	Hindi	,,	2	8	0
Ma Anandamayi Upadeshamrita	Bengali	,,	1	8	0
Ma Anandamayi Upadeshamrita	Hindi	,,	1	8	0
Mother as seen by Her Devotees	English	Devotees	3	0	0
Kirtan Rasaswarup	Bengali		2	0	0
Sanobali Mayer Katha (for Children)	,,		1	8	0
Nandini Ma			1	0	0
Do			0	8	0
Anandavarta					

PHOTOS & BLOCK PRINTS OF SRI SRI MA

Album (Photo Print)	Rs. 50/-	7.	Photo Print	Rs. 1/8/-
,, (,,)	Rs. 30/-	8.	,, ,,	Re. 1/-
,, (Block Print)	Rs. 1/8/-	9.	,, ,,	As. -/8/-
Photo Prints	Rs. 15/-	10.	Marble Blocks	Rs. 5/-
,, ,,	Rs. 10/-	11.	Block Print (Seashore)	Re. 1/-
,, ,,	Rs. 5/-	12.	,, ,, (Chuda)	Re. 1/-

Ananda Varta

LIBRARY
No. ....
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

श्री श्री आनन्दमयी संघ

ॐ मा

मातृ शरणं

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

AUGUST, 1957.

VOL V NO. 2

HINDI & ENGLISH

CONTENTS

HINDI SECTION

Page No.
1 मातृ-वाणी ... 81
2 श्री श्री माँ की अमर वाणी—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज कृत व्याख्या सहित 84
3 माँ को खोकर माँ को पाया—गोपाल ... 95
4 शक्ति का जागरण—महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज ... 101
5 अनुकम्पा धारा—श्री चरणकमलाश्रिता ... 107
6 मातृ-सत्सङ्ग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी ... 113
7 एक डाक्टर के कुछ अनुभव ... 120 (a)

ENGLISH SECTION

Page No.
1. Matri Vani 121
2. Mataji's Amaravani 124
3. The Unforgettable 'Holi' day
—N. Chowdhuri 12
4. The Universality of Consciousness
—Lama Anagarika Govinda ... 135
5. Sri Mata Anandamayi and the Spiritual Problem of the Age
—Prof. Madan Gopal, M. A. (Alld.)
D. Litt. (Oxon) ... 14
6. From The Life of Sri Sri Ma Anandamayi ... 15
7. Sixty Second Birthday of Shri Ma Anandamayi ... 15
8. Some Incidents During The Birthday Celebration
at Ahmedabad—Vijaiananda ... ... 160 (
9. Notes—Vijaiananda ... ... 160 (
10. Notes & Comments ... ... 160 (

Price : Rs. 1/8
Annual subscription (for four issue) India Rs. 4/-, Foreign Rs. 5/.

Published by—Brahmachary Kamal Bhattacharjee
for Shree Shree Anandamayee Sangh, Banaras.
Printed by—Sri B. Dutta at the Eureka Printing Works Private Ltd., Banaras.

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
[illegible]

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमरपन्थी—अपने में आप

VOL. V AUGUST—1957 No. 2

—मातृ-वाणी—

(विभिन्न लोगों के प्रश्नों के उत्तर में श्री श्री माँ ने जो उपदेश दिये हैं उनका संक्षिप्त संकलन)

(१४९)

सभी विषयों में भगवान् के ऊपर निर्भर रहना चाहिये। उनके हाथ की चीज है वे जो चाहें करें। अपनी इच्छा रखना ही दुःख का कारण है। दूसरे के ऊपर निर्भर रहना पड़ेगा ऐसा विचार कर मन को क्यों खराव करते हो ? शरीर को क्या स्वयं तैयार किया है ? जिनका शरीर है उनकी स्वतन्त्रेच्छा के ही वह अधीन है। वे जो चाहें करें न। यथासंभव धैर्य रख कर देखते जाने की चेष्टा करनी चाहिये। मन अच्छा रखने पर जल्दी-जल्दी आराम होता है। चक्रधारी के चक्र से इस तरह की दुर्घटना घट गई है क्या किया जाय ? जो हो गया है (ठीक है), भगवान् की इच्छा ही पूर्ण हो ऐसा भाव रखना चाहिये। इस अवस्था में सिर्फ उन्हीं का स्मरण करना चाहिये।

(१५०)

भगवान् की कृपा से ही प्रकाश मिलता है न। सदा उन्हीं का स्मरण करना चाहिये। पिताजी को और कुछ चिन्तन नहीं करना चाहिये। एकमात्र भगवान् का ही ध्यान करना चाहिये।

(१५१)

मनुष्य मात्र का ही सुसमय या दुःसमय एकतार से नहीं जाता। वह सुसमय भी जैसे नहीं रहा, यह समय भी क्या रहेगा ? इस परिस्थिति में धैर्य के अवलम्बन से भगवान के ऊपर निर्भर होकर चलने का यत्न करना चाहिये। इच्छामय की इच्छा ही पूर्ण होती है। उन्हीं का सब अवस्थाओं में स्मरण रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

(१५२)

कर्मचक्र से मनुष्य की यह दुर्गति होती है। सत्कर्म करना चाहिये। कर्म का फल तो भगवान् छुड़ाते नहीं। पिता माता धर्मनिष्ठ हैं। ये लोग सब कुछ रक्षा करते हुए चलेंगे। इस दुःखकर समय में भगवान् का ही स्मरण करना चाहिये।

(१५३)

छोटी जीवनरूपी वीणा इतने अधिक तारों से बंधी है। उन्हें काट देना ही ठीक है। उन बहुत तारों में बंधना तो सार नहीं है। असार में बंधे तार में बंधना ठीक नहीं है। मूर्ख का काम क्यों किया जाय ? असार संसार में आना बार बार। यदि कोई हृदय से समझ ले कि कोई किसी का नहीं है तो फिर क्यों इतना दु ख सहन करना पड़े। हाँ, सदा मोह के प्रभाव से भीतर ही भीतर ज्ञान नहीं होता। तीती दवा के जबरदस्ती इन्जेक्सन से भी तो कोई कोई अच्छे हो जाते हैं।

(१५४)

सब में सब हैं। एकमात्र सत्यस्वरूप जहाँ हैं वहाँ मिथ्या का तो प्रश्न ही नहीं है। जो मिथ्या है वह मिथ्या ही है। वे (भगवान्) तो अनेक रूपों में हैं, इसी भाव से यह दर्शन उन्होंने दिया है। सब रूपों में तो भगवान् ही हैं। आध्यात्मिक के सिवा तो कुछ भी नहीं है। इसलिए उस ओर से सब कुछ सत्य है।

(१५५)

वास्तव में भगवान् के निकट प्रार्थना करने पर पूरण होता है। क्योंकि वे मङ्गलमय हैं। जो मङ्गल है उसी का विधान करते हैं। भगवान् का जो मङ्गलमय विधान है उसे समझने की क्षमता साधारण लोगों में कहाँ ? इच्छामय की इच्छा ही पूर्ण हो सदा मन में यह भाव रखना चाहिये।

(१५६)

यदि गृहस्थी करनी हो तो नाना भावों के भीतर से जाना पड़ता है। भगवान् के चिन्तन में मन लगाना चाहिये। तब जाकर सम्पूर्ण शान्ति की आशा है। असली पास करने के लिये जो पढ़ना है वही भगवत्चिन्तन है। जिस पास करने से पाशमुक्ति हो जाय उसका त्याग नहीं करना चाहिये।

(१५७)

किसी किसी व्यक्ति का स्वभाव ही नई दुनियां की रचना करना है। उस ओर मन न लगाकर जहाँ मन लगाने पर पूर्ण शान्ति की आशा है वहाँ मन लगाना चाहिये। अभ्यासी होना ही मनुष्य का कर्तव्य है।

(१५८)

भगवान् की सृष्टि है, उनके विधान से जगत् में सब कुछ है। उनका सब कुछ अपना है। कर्म गति की जहाँ जिस अवस्था में आवश्यकता होती है वहाँ प्रकाश हो जाता है। उसी के ऊपर निर्भर रह

चाहिये। भगवान् का ही स्मरण सब अवस्थाओं में करना चाहिये। वे विपत्ति से विपत्ति का विनाश करते हैं। दुःखहरण, कालहरण, जो हैं उन्हीं की शरण लेनी चाहिये। तभी शान्ति की आशा है।

(१५९)

भगवान् की दिशा से ही मनुष्य को शान्ति की आशा है, संसार का रूप ऐसा ही है। संसार में शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। मन में यदि सरलता न हो तो धर्म की दिशा को भी यथार्थतः पहचान न सकने के कारण बहुधा मस्तिष्क की ऐसी अवस्था हो सकती है। किसी ओर ठीक ठीक निश्चय नहीं कर पाता। सब अवस्थाओं में कर्तव्य है भगवान् के ऊपर निर्भर रहना। उनके निकट प्रार्थना करना।

(१६०)

अनेक झंझटों में रहने पर भी भगवान् के ऊपर निर्भर रहना चाहिये। जप, ध्यान करना चाहिये। आत्मोन्नत्ति की चेष्टा करनी चाहिये। संसार को भावरूप समझ सुखी होकर कभी किसी को भगवत्प्राप्ति नहीं होती। जिनका ध्यान करने, जिनका रूप हृदय में रखने से शान्ति होती है उन्हीं का स्मरण करना चाहिये। तब तक उन्हीं का अवलम्बन कर रहने की चेष्टा करनी चाहिये।

श्री श्री मां की अमर वाणी

(महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज, एम्. ए., डी-लिट्. कृत व्याख्या सहित)

मां—दान करो, सेवा करो, प्रणाम करो, स्वयं ही जान जाओगे कि कौन भाव लेकर किया जा रहा है। यह भाव रखना चाहिये कि चाहे जिसी अवस्था में क्यों न रहूं वहीं से प्रकाश होगा। कभी भी यह नहीं सोचना चाहिये कि अरे मैं इन सब कुकर्मों से लिप्त रहा हूं, मेरा कुछ भी नहीं होगा। सदा, सब अवस्थाओं में भगवान् के रास्ते में चलने के लिए तैयार रहना चाहिये। कौन जाने कब तुम्हारा वह दान, सेवा और प्रणाम (सफल) हो जाय। सब कुछ संभव है। दीक्षा की बात पूछते हो, जिनसे दीक्षा ली जाय, वे जितनी दूर तक पहुँच चुके हों उतनी दूर तक पहुँचा देंगे। जैसे भगवत्कथा सुनते हो—वक्ता (कथावाचक) में जितनी शक्ति रहती है उसके साथ तुम्हें जोड़ देता है। एक है सत्कथा का फल और जो कहने वाला है उसकी शक्ति—इन दोनों को वह पा जाता है। ग्रहीता यदि वैसा शक्तिशाली हो तो उपदेशप्राप्तिमात्र से ज्ञान का उदय होता है।

मन्त्रदीक्षा, स्पर्शदीक्षा, दृष्टि के द्वारा दीक्षा, उपदेश के द्वारा दीक्षा। महान् पुरुष के स्पर्श का फल होता है। जिसका जैसा भाव रहता है तदनुसार उसे लाभ होता है। और एक बात है, वह है विशेष कृपा, उससे विशेष शक्तिलाभ होता है। फिर ऐसा भी होता है कि स्पर्श तो किया परन्तु शक्तिपात नहीं हुआ। जो शक्तिशाली हैं, वे उस पर कन्ट्रोल कर स हैं। देना-लेना उनकी इच्छा पर निर्भर रहता है।

उपदेश के द्वारा, जिस उपदेश से निर्ग्रं (ग्रन्थिरहित) हुआ जाता है। यदि ऐसा हो उसी क्षण में दीक्षा का काम पूरा हो जाता है।

मन्त्रदीक्षा कान में देते हैं, जितनी शक्ति हो उतनी ही देंगे। गुरु यदि शक्तिशाली हों तो स्पर्श साथ ही साथ अथवा दृष्टि के साथ ही साथ लक्ष्य का स्थान है वहीं पहुँचा देंगे। यदि इत शक्ति न रहे तो जिनमें जितनी शक्ति हो, जहां त वह पहुँचे हों उतनी दूर तक ले जा सकते हैं। गुरु पास जो धन है उसी को तो वे शिष्य को दे सकते है जिसे मन्त्र दिया, जब तक उसे असली गन्त स्थान में पहुँचाया न जाय तब तक वह रास्ते में है गुरु यदि आगे न बढ़ें तो शिष्य भी आगे नहीं सकता। इसीलिए शिष्य को राह में तब त प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि गुरु अग्रगा नहीं होते। जो भगवान् को पाने की चेष्टा कर हैं और इसी बीच में दीक्षा देना आरम्भ किया उसी स्थान पर पड़ा रहना पड़ेगा।

ऐसा भी है कि शिष्य गुरु से आगे भी पहुँच सकता है। पूर्वजन्म के संस्कार के अनुसार दी लेकर उसकी अपनी अन्तःशक्ति इतनी बढ़ जाती कि गुरु के आगे चला जा सकता है। दीक्षा जो

उसका केवल इतना ही पाना शेष था। जिस गुरु के निकट दीक्षा ली, उसके ऊपर यदि पूर्णरूप से निर्भर रहना पड़े तो गुरु के साथ साथ शिष्य को चलना पड़ेगा। और जिस स्थिति में मेरे गुरु जगद्गुरु हैं, जगद्गुरु मेरे गुरु हैं—यह भाव है, जगत् माने गति, और जो बद्ध है वही जीव है। जीव और जगत् से उद्धार करते हैं—मैं कौन हूं? मैं दास हूं, मैं आत्मा हूं, मैं अंश हूं, जिसकी जो लाइन हो।

मेरे गुरु क्या करके जगद्गुरु हुए? गुरु का स्थान तो है न। जैसे रसोइया कौन है? निर्दिष्ट किसी का नाम तो नहीं है, जो रसोई बना सकता है वही रसोइया है। इसी प्रकार जगद्गुरु का जो स्थान है उसका प्रकाश होना। इसलिए व्यक्ति की बात नहीं है—वही जगद्गुरु है। जहाँ गुरुशक्ति का प्रकाश हो सकता है, 'मैं कौन हूं' इसका प्रकाश। इस शक्ति को जो दे सकता है वही जगद्गुरु है। गाढ़ अन्धकार में से जो निगूढ़ तत्त्व को प्रकट कर सकते हैं, वही तो गुरु हैं। मेरे गुरु हर एक रूप में प्रत्येक के निकट हैं और प्रत्येक के गुरु मेरे ही गुरु हैं—किन्तु देखो, गुरु एक ही हो गये।

जिसके अनुष्ठान, क्रिया आदि चल रहें हैं वह रास्ते में है वह आत्मस्थ हो गया हो सो बात नहीं है। अभी भी वह प्रयत्नशील है। वह गुरु कहाँ? क्रियातीत तो वह नहीं हुआ। साधारण भाषा में इष्ट-गोष्ठी कही जाती है न—जगत् के सब लोगों का इष्ट जो है वही मेरा इष्ट है, मेरा जो इष्ट है वही जगत् का इष्ट है। गुरुशब्द तो साधारण नहीं; जो भवसागर से उबार सकते हैं, वही गुरु हैं। किसने कहाँ से दीक्षा ली है—वह जो कहा गया. इतना शक्तिशाली नहीं है, तब तो समझना चाहिये कि उन्हें इतनी दूर आकर अभी ठहरना होगा। भविष्य में ऐसा कोई संयोग हो सकता है—चाहे वह अपनी व्याकुलता से हो अथवा पूर्वजन्म के संस्कार से हो या ये सब कुछ भी न हों, महान् की कृपाप्राप्ति हो ऐसा कोई स्थान आ जा सकता है तो—उपदेश, स्पर्श, दृष्टि अथवा मन्त्र जिस किसी उपाय से संयोग बन जाने पर शक्तिपात होता है, और तब वह आगे बढ़ने लगता है। जैसे बाढ़ आ जाने पर इस पेड़ को बचाना चाहिये अथवा इसको डुबा देना चाहिये इस तरह की चर्चा संभव नहीं है। वह सभी को एक साथ बहा ले जाती है इस तरह के क्षेत्र में विचार का प्रश्न नहीं उठता। यहां अपने में ही आप है।

फिर ऐसा भी होता है उपदेश नहीं, दृष्टि नहीं, स्पर्श नहीं और मन्त्र नहीं—जिसमें शक्तिपात हुआ है वह संभवतः तभी जान सकता और बहुत दिनों के बाद भी जान सकता है कि कहां से शक्तिपात हुआ। बाढ़ में जैसे सब बहा कर ले जाये जाते हैं, वैसे ही सबको बहा ले जाता है। यहाँ स्वभाव—अपने में अपना कर लेना। उस समय संभवतः इसने दूसरे से दीक्षा ली है—यहां से नहीं ली यह बात फिर टिकती नहीं। उन्हीं की (भगवान् की ही, है न? वे (भगवान्) ही हैं न? इसीलिए बाढ़ जैसे सबको समानरूप से बहा ले जाती है वैसे ही वह महान् व्यक्ति स्वाभाविक रीति से अपने को अपना कर लेते हैं। यहाँ 'तेरा मेरा' नहीं है। स्व-स्वप्रकाश, स्व ही एकमात्र है। जैसे मां ऐसी सूची नहीं रखती कि संतान के लिए यह करती हूं वह करती हूं—अपना ही तो है वैसे ही वहाँ यह बात नहीं रहती कि इतना शक्तिपात किया जा रहा है।

एक आदमी ने एक गुरु से दीक्षा ली, फिर उसे एक महात्मा के दर्शन हुए। उनके निकट भी वह आना जाना करने लगा। महात्मा उसको अच्छे लगे। गुरु यह सुन कर चिढ़ने लगे—अरे मैंने यह बगीचा लगाया पर तुमने इसे दूसर को खिला दिया है। शिष्य ने उत्तर दिया, इन महात्मा के निकट आवागमन से मेरी गुरुनिष्ठा बढ़ गई है। किन्तु गुरु ने यह बात समझी नहीं। जगत् और जगद्-अतीत उनके निकट सब बराबर थे, सम-स्व-मय थे। उनके निकट आने अथवा न आने पर समभाव से वे बहा ले जाते हैं। इसलिए कहा गया था—इसका दूसरा गुरु है यह बात नहीं है, समभाव से शक्तिपात होता है। फिर यह बात भी कहने की नहीं है कि उसे इतना शक्तिपात किया गया है। जैसे अग्नि भड़कने पर यह प्रश्न नहीं उठता कि उसे सुखाना होगा और उसे नहीं। स्वाभाविक उपदेश, स्पर्श, दृष्टि और मन्त्र के द्वारा वह जो दीक्षा है, वह हो ही जाती है। यहाँ 'तेरा' 'मेरा' कुछ नहीं रहता। Control तथा समान रीति से प्रदान—सब कुछ उनके हाथ में है।

प्रश्न—जितने मत उतने नाम, या एक मत एक नाम ?

माँ—तुम्हारा क्या मत है कहिये तो पिताजी।

एक व्यक्ति—मत और पथ। पर सब पथ एक ही जगह पहुँचते हैं।

माँ—वाद-विवाद पथ पर खड़े होकर ही होता है, अपने अपने घर में सब हैं। एक मार्ग सबके लिए नहीं है। एक घर में पाँच लड़के हैं, रुचि सबकी भिन्न है। देखो न, किसी की वेदान्त में रुचि है, कोई वैष्णव है और कोई शाक्त है। इसलिए पथ एक नहीं कहा जाता। असल में सत्यप्राप्ति की जो इच्छा है उसकी गठन भी भिन्न होगी, किन्तु जा पड़ेगा सत्य के द्वार से ही।

प्रश्न—तब मत भी क्या भिन्न हैं ?

माँ—प्रत्यक्ष देखते हो एक गुरु हैं, उनके हैं अने शिष्य। एकमत में लाने की कोशिश करते हो न किन्तु मठ स्थापित हुए कितने ?—अपने अपने म का त्याग करके भी। पिताजी, तुम जो कहते अतिसत्य बात है। कहाँ ? जहाँ समस्त है त्याग कर जिसे जो सूझा। क्या सूझा ?—क सूझा, वे ही सूझे।

प्रश्न—मेरा जो मत है वह सुनी हुई बात है। पं जनों के निकट सुन सुन कर कहता हूँ।

माँ—यह मत तुमने किस प्रकार से लिया है यह शरीर इस दिशा से लेता है—ऋषि-मुनियों जो गति और धारा दी है वही। लौकिक दृष्टि से अन मत हैं, उनसे काम नहीं चलेगा। गुरु जिस मत देते हैं उसी को लेना होगा, उसी धारा में जा समुद्र में गिरना होगा।

प्रश्न—अन्तमें सब समुद्र में जाकर ही गिरेंगे न ! ऐ स्थिति में जहाँ लक्ष्य भिन्न भिन्न रहते हैं, जैसे वैष्णवों सालोक्य आदि, वेदान्तियों की स्वरूप स्थिति इत्यादि ये सब अन्त समय में एक ही समुद्र में कैसे गिरेंगे ?

एक व्यक्ति—जिसका नाम भूजा चावल है उसी नाम फरवी है।

माँ—भूजा चावल और फरवी एक होते भी नाम दो क्यों ? इसलिए किसी न किसी में वे भिन्न हैं। किन्तु मूल में चावल ही है। तुम्ह भी रहा मेरा भी रहा, क्या कहते हो पिताजी ? (हँ जहाँ मत लेकर, पथ लेकर बात होती है—पथ बात पथ ही में है।

प्रश्न—जितने मत उतने पथों के बाद फिर वक्तृता रहती नहीं।

माँ—'रहती नहीं' उसमें रहता है। न रहने पर प्रकट कैसे होता है ? जैसे कहते हैं हम उस सम्प्रदाय के हैं, जहाँ मत और वादविवाद नहीं है। वहाँ मूल में वही है। वही इन नाना आकारों में है। जहाँ अनन्त और एक कहा जायगा वहाँ दृष्टि की बात है। एक बीज रोपने पर पेड़ पैदा हुआ। अनन्त फल, अनन्त पत्ते, अनन्त गति और अनन्त स्थिति हुई। किन्तु मूल में एक ही है।

जितने मत हैं उनके पथ भी हैं। जब तक एक पथ पर चलते हो तबतक के लिए एक पथ है। अच्छा यह तो पूरा हुआ। तुमने क्या कहा था पिताजी, अन्त समय में कैसे गिरेगा ?—शेष रहने पर काल है और काल रहने पर अकाल है। यह शेष और काल का जहाँ प्रश्न नहीं रहेगा वहाँ मिलोगे।

एक व्यक्ति—जब तक चर्चा की जाती है तब तक एक गोल रहता है।

माँ—हाँ, जो चर्चा करते हैं, जिसकी चर्चा होती है—जागतिक चर्चा, प्राकृतिक चर्चा—वह काल के मध्य में है। किन्तु वहाँ तो बोलने का प्रश्न ही नहीं है। इसी से तुम जगद्गुरु आचार्य से ये बातें नहीं कह सकते हो। जो जगद्गुरु हैं उनकी बात इस जगत् के तुल्य नहीं है।

प्रश्न—सांसारिक सुख और ईश्वरीय सुख इन दोनों को समझा कर कहें।

माँ—ईश्वरीय सुख वह है, जिसे तुम लोग 'परमसुखदम्' कहते हो—केवल सुख ही उसका स्वरूप है।

प्रश्न—क्यों संसार में भी तो सुख है ?

माँ—तब फिर कहते क्यों हो ?

प्रश्न—लोग इस सांसारिक सुख के पीछे क्यों दौड़ते हैं ?

माँ—तुम यह सुख पाते हो, इसलिए पूछती हूं। किन्तु भगवान् करुणामय हैं न, वे जता देते हैं, यह सुख सुख नहीं है। ज्वाला जगा देते हैं, यह भगवद्भाव का अभाव है। यह जो जगत् का सुख है यह तो भगवान् का नाना रूप है। अरे त्यागी त्यागी कहा करते हो, सर्वस्व का त्याग करके बैठे हो। सर्वस्व क्या है ?—भगवान्। उनका त्याग कर सभी तो महात्यागी बन कर बैठे हो (हँसी)।

अभाव का जागरण होना स्वाभाविक है। विदेश में बहुत बड़ी सुख सुविधा में रहकर भी मन में आता है कब घर जाऊँ। सुख होकर भी असुख, अपना होकर भी अपना नहीं यह जता देते हैं। कहते हैं न मुक्का खाने पर होश आता है, धक्का खाने पर शिक्षा मिलती है।

यह जो जगत् के सुख के रूप में भगवान् प्रकाशित होते हैं इससे तृप्ति नहीं होती। यहाँ अभावरूप में भी वे साथ रहते हैं। यह सुख जो भगवत्सुख के लेश का लेशमात्र है वही छोड़ा नहीं जाता फिर असल जहाँ सुख है जहाँ जाने पर अपने को पाया जाता है, वही परमानन्द है, जिसे पाने पर फिर पाना बाकी नहीं रहता, अभाव का फिर जागरण नहीं होता, हृदय की ज्वाला शान्त हो जाती है।

इस धक्के से—इतना सा लेकर सुखी न होओ, पूर्ण होओ, पूर्णाङ्गीण होकर मुझे प्राप्त करो।

व्याख्या

(२२)

१—सब अवस्थाओं में प्रकाश—

यहाँ 'प्रकाश' कहने से पूर्णसत्ता का प्रकाश समझना चाहिये। पूर्णसत्ता स्वतन्त्र, स्वयंप्रकाश और निरपेक्ष है। यह अपने को प्रकाशित करने के लिए किसी साधन अथवा किसी उपाय की अपेक्षा नहीं करती। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि वह साधना द्वारा उच्च स्तर पर नहीं पहुंच सकता, उसको पूर्ण आत्मा का प्रकाश होना संभव नहीं है तो यह उसकी भूल होगी। साधना की आवश्यकता है, क्योंकि कर्तृत्वाभिमान हटाने के लिए साधना की जरूरत है। कर्म करके साक्षात्‌रूप से कुछ न मिलने पर भी अपना अभिमान चूर हो जाता है, यही कर्म का मुख्य फल है। परम वस्तु अपनी साधना या चेष्टा के अधीन नहीं है, यह जता देना ही कर्म का फल है। इसलिए वास्तविक सत्य उपदेश यह है कि प्रत्येक मनुष्य को सदा उस महाप्रकाश की प्रतीक्षा में रहना चाहिये। अपनी अयोग्यता या दुर्बलता सोच कर अपने को प्रकाश का पात्र न मानना बुद्धिमानी नहीं है। खण्ड प्रकाश में तो क्रम और योग्यता का एक निर्दिष्ट स्थान है। किन्तु अखण्ड प्रकाश बाहरी किसी साधन पर निर्भर नहीं रहता, जब वह अपने को प्रकाश में लाने को उद्यत होता है तब कोई भी बाधा उसे रोक नहीं सकती। योग्यता न रहने पर भी योग्यता का आधान महाकरुणा से होने में कितनी देर लगती है। इसलिए साधारण नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को उस महासत्य के अभिनन्दन के लिए तैयार रहना चाहिये।

विद्वान्, अविद्वान्, धनी, निर्धन, स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, उद्यमी, निरुद्यमी किसी प्रकार का भेद मानने की जरूरत यहां नहीं है। इसलिए मां ने कहा है, "भाव यह रखना चाहिये कि चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहूँ, वहीं प्रकाश होगा। कभी भी यह न सोचना चाहिये कि अरे मैं इन सब दुष्कर्मों में लिप्त रहा हूं—मेरा कुछ भी नहीं होगा। सदा भगवान् के पथ पर चलने के लिए तैयार रहना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि महाप्रकाश का कब आविर्भाव होगा यह कोई नहीं जानता। जिस किसी क्षेत्र में उसका आविर्भाव हो सकता है। इसलिए प्रत्येक को उसके आवाहन के लिए तैयार रहना आवश्यक है। ताकि जब वह महाप्रकाश बाढ़ की भाँति आ जायगा तब कोई सोया न रह जाय। शिवरात्रि की रात्रि में जैसे जागरण किया जाता है वैसे ही सब को इस महाप्रकाश के लिए जागरूक रहना चाहिये। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति के राज्य में असम्भव कुछ भी नहीं है।

२—दीक्षा—

दीक्षा के सम्बन्ध में शास्त्रों में कहा गया है कि आध्यात्मिक जीवन के पथ पर यदि उन्नति प्राप्त करनी हो तो दीक्षा लेना साधारणरूप से अत्यन्त आवश्यक है। जीव वास्तव में शिव से अभिन्न है। क्योंकि भगवान् स्वयं ही लीलावश जीव का स्वांग बना कर साधक-

में प्रकट हुए हैं। और जिस मत में जीवस्वरूप नित्य और भगवत्स्वरूप का अंशरूप है उस मत में भी अनादिकाल से ही इस मायिक जगत् में जीव चक्कर लगा रहा है। इसीलिए आचार्यों ने जीव को अनादि वहिर्मुख कहा है। दोनों ही मतों में जीव के नित्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान गुरु से ही मिलता है। जिस रीति से गुरु शिष्य को यह अपरोक्ष ज्ञान प्रदान करते हैं उसी का नाम दीक्षा है। कुलार्णव तन्त्र में कहा है—

दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्म वासना ।
तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता ज्ञानिभिस्तन्त्रवेदिभिः ॥

अर्थात् विमल ज्ञान की प्राप्ति और कर्मवासना का क्षय—इन दोनों की प्राप्ति के बिना दीक्षा की वास्तविक सार्थकता सिद्ध नहीं होती। किसी किसी तन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि पापक्षय और शिवत्वप्राप्ति ये दोनों व्यापार दीक्षा के लक्षण हैं। अर्थात् जिस ज्ञान के सम्बन्ध से पापक्षय होता है और शिवत्व प्राप्त होता है वही वास्तविक दिव्य ज्ञान है। कैवल्य मुक्ति दीक्षा का फल नहीं है। क्योंकि दीक्षा के बिना भी आत्मा और अनात्मा का विवेक ज्ञान होने पर आत्मा को कैवल्य मुक्ति प्राप्त हो सकती है। किन्तु उसमें परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। इसलिए शिवस्वरूप जीवात्मा को इस प्रकार कैवल्य परम पुरुषार्थ रूप हो सकता है, ऐसा विवेचित नहीं हो सकता। शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि जीव दीक्षा के सिवा अन्य किसी उपाय से पौरुष अज्ञान से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता एवं यह भी सत्य है कि पौरुष अज्ञान के हटे बिना शिवरूपी जीव की शिवत्वप्राप्ति असंभव है। पौरुष अज्ञान के हट जाने पर भी जब तक बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक जीव को दीक्षा से प्राप्त हुए अपने शिवत्व की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए साधना के द्वारा बौद्ध ज्ञान को उत्पन्न कर बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति की जाती है। तब गुरुकृपा से प्राप्त अपना शिवस्वरूप अपने सामने व्यक्त होता है। तब जीव अपने को शिवस्वरूप जानता है एवं जीवन्मुक्ति का रसास्वादन करता है। प्रारब्ध भोग के अन्त में देहत्याग के समय पौरुष ज्ञान का उदय होता है। तब वास्तविक शिवस्वरूप में स्थिति होती है। यह दीक्षा का व्यापार आत्मा के अपने दिव्य ज्ञान के उन्मेष का द्वाररूप है। षट्चक्रभेद का जो फल है सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा का भी वही फल है। अर्थात् ज्ञानचक्षु का खुलना। षट्चक्रभेद—प्रक्रिया में स्वयं परिश्रम कर कुण्डलिनी को जाग्रत् कर चक्र के बाद चक्र का भेद करना पड़ता है। किन्तु सद्गुरु द्वारा दी गई दीक्षा में गुरुकृपा से ही जीव के आवरण की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु जब तक चित्त निर्मल नहीं होता तब तक जीव इस निरावरण सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। इसके लिए योगादि साधनों की आवश्यकता होती है।

३—गुरु और सद्गुरु—

गुरु और सद्गुरु दोनों एक ही हैं। क्योंकि असद्गुरु कोई वस्तु नहीं है। परन्तु समझाने की सुविधा के लिए गुरु से सद्गुरु की विलक्षणता दिखलाई जाती है। जिनकी कृपा से पूर्ण सत्य का रूप प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रत्यक्ष के बाद फिर कोई आवरण नहीं रहता वे ही सद्गुरु हैं। जो आवरण की आंशिक निवृत्ति में सहायक होते हैं वे गुरु कहे जाते हैं। जो आवरण की अंशतः भी निवृत्ति करने में सहायता नहीं कर सकते उन्हें गुरु नहीं कहा जा सकता। तान्त्रिक रीति से जो दीक्षा देते हैं वे ही गुरु हैं।

वास्तव में गुरु एकमात्र भगवान् ही हैं दूसरा कोई भी गुरु नहीं है। किन्तु जीव साक्षात् उन्हें पहचान नहीं सकता, इसलिए वे योग्य आचार्य में शिष्य के उद्धार के लिए प्रकट होते हैं। आचार्य भी इस कारण गुरु कहे जाते हैं। दुर्गाजी की प्रतिमा में जैसे महाशक्ति जगदम्बा का अधिष्ठान होने से प्रतिमा दुर्गा कही जाती है वैसे ही जिस शरीर का अवलम्बन कर नित्य गुरुशक्ति कार्य करती है उस शरीर को भी गुरु कहा जाता है। यही आचार्यदेह है। आचार्य के साथ परमेश्वर का साक्षात् अथवा परम्परा से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना आचार्य भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं होते। आचार्य जीवों के उद्धार के काम में केवल निमित्तमात्र हैं। वास्तव में गुरुरूपी भगवान् ही यथार्थ कर्ताधर्ता हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि इस तरह निमित्त का आसरा लिये बिना क्या भगवान् अनुग्रह नहीं कर सकते? इसका उत्तर यह है कि अवश्य कर सकते हैं। परन्तु साधारणतः वे वैसा नहीं करते। उनका अनुग्रह प्रदान दो तरह का जानना चाहिये। एक को साधिष्ठान-अनुग्रह कहते हैं और दूसरे को कहते हैं निरधिष्ठान अनुग्रह। भगवान् स्वरूप से वास्तविक माया या महामाया के अतीत हैं। इसलिए उनके स्वरूप से अनुग्रह-लाभ सबके भाग्य में बदा नहीं रहता। जो जीव प्राकृतिक या मायिक देह में बँधे हैं वे भगवत्स्वरूप से निकली हुई अनुग्रहशक्ति को धारण नहीं कर सकते। जो जीव विवेकज्ञान के प्रभाव से प्रकृति अथवा माया से पृथक् हो चुके हैं और जिनका जीवत्व या पशुत्व दिव्य ज्ञान प्राप्त न होने के कारण अब भी निवृत्त नहीं हुआ उन सब विदेह कैवल्य आत्माओं में जिनका मन परिपक्व हो चुका उनके ऊपर मलपाक के तारतम्य के अनुसार नवीन सृष्टि के पहले भगवा स्वयं अनुग्रह करते हैं। अर्थात् दीक्षाप्रदान करते हैं यह निरधिष्ठान दीक्षा देने का दृष्टान्त है। इस आचार्य की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि य सृष्टि के पूर्व की अवस्था की बात है। सृष्टि के अन्तर्ग जीव साधारणतः आचार्य से ही दिव्य ज्ञान प्राप्त कर हैं। अवश्य स्वातन्त्र्यमय परमेश्वर के लिए सदा स कुछ संभव है। हम साधारणतः जिस आचार्य गु की चर्चा कर रहे हैं उनका शरीर मनुष्यस्तर के अन्तर्ग है। किन्तु ध्यान रखना होगा कि सिद्ध औ दिव्यस्तर में भी गुरुशरीर रह सकता है ए वर्तमानयुग में भी अनेक लोग उस तरह के गुरुओं दीक्षा प्राप्त करते हैं।

गुरु खण्ड होने पर भी यदि परम तत्त्व का साक्षात्कार न हुआ हो तो उन्हें सद्गुरु नहीं कहा जाता किन्तु खण्डगुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान में पूर्णता के अभा से एक क्रमिक भाव या तारतम्य विद्यमान रहता है तदनुसार यह कहा जाता है कि गुरु स्वयं जिस स्त पर रहते हैं शिष्यको भी दीक्षा द्वारा वहां तक पहुँ दे सकते हैं। गुरुका ज्ञान यदि खण्ड न हो तो य शङ्का नहीं उठ सकती।

४—दीक्षा की प्रणालियां—

शास्त्रानुसार दीक्षा या शक्तिपात में साधारण से कुछ कुछ भेद दरसाया जाता है। क्योंकि शक्ति पात होता है साक्षात् परमेश्वर से। उन सिवा अनुग्रह करने की क्षमता और किसी में भी न है। सापेक्ष अनुग्रह निम्नस्तर में हो सकता है। कि परम अनुग्रह करने की योग्यता एकमात्र भगवान् ही है। परम अनुग्रह से नाना प्रकार की उ अवस्थाएं प्राप्त हो सकती हैं। जिस जीव में शक्ति

पात हो चुका हो एकमात्र वही जीव दीक्षाप्राप्ति का उपयुक्त पात्र है। आचार्य गुरु यदि ज्ञानी हों तो वे दृष्टिमात्र से जान सकते हैं कि किस को शक्तिपात हुआ है और किस को नहीं। जिसमें शक्तिपात नहीं हुआ ऐसे जीव को ज्ञानी गुरु कदापि दीक्षा नहीं देते। दीक्षा क्रियाशक्ति का कार्य है। मूल में यह परिपूर्ण ज्ञान और कर्म की अभिन्नतामय चित्-शक्ति का काम है। सृष्टि से पहले विदेह आत्मा को भगवान् स्वयं दीक्षा देते हैं वहां ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति में भेद नहीं रहता। यद्यपि आधार के भेद के अनुसार संचारित शक्ति की मात्रा में तारतम्य रहता है। सृष्टि के अन्दर देहविशिष्ट जीव पर यदि अनुग्रह करना हो तो आचार्य को कर्मशक्ति के व्यापार का आसरा लेना पड़ता है, इसलिए शक्तिपात का मूल-भूत व्यापार केवल भगवत्सापेक्ष रहता है। शक्तिपात का आशय यह है कि किसी जीव को उत्कर्ष में पहुँचाने के लिए भगवान् ने इच्छा की। अर्थात् किसी भाग्यशाली जीव के ऊपर कृपार्द्र दृष्टि से उसकी ओर लक्ष्य करके ही आचार्य दीक्षा देने को अग्रसर होते हैं। दीक्षा से ज्ञान और क्रिया दोनों ही शक्तियों का संचार होता है। ज्ञानशक्ति की मात्रा आंशिक रहती है। आधार के आपेक्षिक बलाबल के ऊपर निर्भर होकर संचारित शक्ति के तारतम्य का निरूपण करना चाहिये। अर्थात् दीक्षा के साथ ही साथ पूर्णरूप से ज्ञान प्राप्ति होने पर भी क्रियाशक्ति में कमी रहने पर उस ज्ञान के साथ संसृष्ट ऐश्वर्य में तारतम्य रहता है। जब ज्ञान और कर्म दोनों ही पूर्ण होते हैं एकमात्र तभी शिवत्व अवस्था की अभिव्यक्ति होती है उससे पहले नहीं।

दीक्षा मूल में एक ही है, किन्तु प्रणाली अथवा प्रक्रिया के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार हैं। माँ ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में मन्त्रदीक्षा, स्पर्शदीक्षा, दृष्टिदीक्षा और उपदेशदीक्षा की बात कही है। ये सब दीक्षा के प्रकार भेद हैं। शास्त्र में कहा है, दीक्षा दो प्रकार की है। बाह्य दीक्षा और आन्तर दीक्षा। बाह्य दीक्षा का नाम क्रियादीक्षा है और आन्तर दीक्षा का नाम वेधदीक्षा। दीक्षा के प्रसङ्ग में पञ्चभूतों की आवश्यकता होती है। पहले जो बाह्य दीक्षा की बात कही गई है वह पृथ्वी और जल के उपकरण स्थान में जाननी चाहिये। किन्तु भीतरी दीक्षा में इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके बजाय तेज, वायु, आकाश और मन की आवश्यकता होती है। तेज के संचार से जो दीक्षा सम्पन्न होती है उसका नाम चाक्षुषी दीक्षा है। उसी का दूसरा नाम दृष्टिदीक्षा है। क्योंकि गुरु की करुणापूर्ण दृष्टि से निकले हुए एक विशेष तेज से वह दीक्षा सम्पन्न होती है। वैसे ही वायु के द्वारा जो दीक्षा कार्य सम्पन्न होता है उसका नाम स्पर्शदीक्षा है। स्पर्श वायु का ही धर्म है। आकाश का धर्म शब्द है। इसलिए आकाशधर्म शब्द द्वारा जो दीक्षा निष्पन्न होती है वह शाब्दिक दीक्षा है। मन्त्रदीक्षा इसीके अन्तर्गत है। मन के द्वारा दीक्षा कार्य होने पर उसे ध्यानदीक्षा कहते हैं। चाक्षुषी दीक्षा से स्पर्शदीक्षा सूक्ष्म है। स्पर्शदीक्षा से शब्ददीक्षा सूक्ष्म है। शब्द दीक्षा से मानसिक दीक्षा सूक्ष्म है। ये सब तेज या शक्ति आदि जड़ शक्ति में परिगणित हैं। चित् शक्ति ही मुख्य शक्ति है। दीक्षा वास्तव में उसीकी क्रिया है।

क्रियादीक्षा में होम आदि बाह्यक्रिया की जरूरत पड़ती है। किन्तु सूक्ष्म दीक्षा में उसकी जरूरत नहीं होती। चाक्षुषी क्रिया गुरु के शिष्य की ओर दृष्टि डालने से होती है। मछली जैसे अपने अण्डे की

ओर दृष्टि डालकर अण्डे को फोड़ डालती है एवं उसके बाद भी प्रकट हुए सन्तान का दृष्टि से ही पोषण करती है गुरु भी ठीक वैसा ही करते हैं। कुलार्णव तन्त्र में कहा है, "स्वापत्यानि यथा मत्स्यो वीक्षणेनैव पोषयेत्। दृग्भ्यां दीक्षोपदेशश्च तादृशः परेश्वरि ॥" स्पर्शदीक्षास्थल में गुरु अपने हस्त आदि द्वारा शिष्य-शरीर के किसी अङ्ग का स्पर्श कर उसका संसार से उद्धार करते हैं। इस दीक्षा का दृष्टान्त पक्षी है। चिड़िया अपने पंखों के स्पर्श से अण्डे के भीतर से बच्चे को बाहर निकालती हैं एवं ऐसे स्पर्श से ही उसका पोषण करती हैं। जिसे मानसी दीक्षा कहा गया है, वही वेधदीक्षा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें गुरु केवल ध्यानस्थ होकर दीक्षाप्रदान करते हैं। कूर्म या कछुवा जैसे स्वयं जल में रहकर भी तीर की मिट्टी के भीतर छिपाये हुए अपने अण्डों को केवल मानसिक चिन्तन से फोड़ डालता है यह कुछ अंशों में वैसा ही है। योगवासिष्ठ रामायण में कहा है,

"दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्य देहके।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि दैशिकः॥"

अर्थात् जो दृष्टि द्वारा, स्पर्श द्वारा, अथवा शब्द द्वारा कृपापूर्वक शिष्यदेह में शिवावेश का उत्पादन करने में समर्थ हों वे ही वास्तविक गुरु हैं। यहां मूल है कृपा। उसके बाद दर्शन, स्पर्श और शब्द ये तीन कृपा प्रयोग के भेदमात्र हैं। शिवपुराण में लिखा है—

"गुरोः आलोकमात्रेण स्पर्शाद् सम्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोः पाशोपक्षयकारिणी।"

यहांपर भी पूर्वोक्त ही तीन प्रकार कहे गये हैं। माँ ने भी इस प्रसंग में इन्हीं सब भेदों की बात कही है।

५—दीक्षादान का समय—

बहुत से लोग यह सोचते हैं कि जो आध्यात्मि मार्ग में साधना कर रहे हों वे दूसरे को दीक्षा दे उसकी सहायता कर सकते हैं। परन्तु यह सोच भूल है। दीक्षा पाने पर ही दीक्षा नहीं दी सकती। स्वयं दीक्षा न पाने पर तो बात ही क्या है दीक्षा पाने के बाद जब तक सिद्धि प्राप्त न हो जाय तब त अर्थात् लक्ष्य स्थान तक न पहुँचने तक दूसरों दीक्षा देने की योग्यता पैदा नहीं होती। साथ साथ यह भी सत्य है कि सिद्धि प्राप्त करने पर दीक्षा देने का अधिकार निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता यह कहना भी नहीं बनता। शक्तिसंचार करने का ए विशेष अधिकार होता है। शक्तिलाभ हुए बिना तो होता ही नहीं किन्तु शक्तिलाभ करने पर भी जब तक श को नियन्त्रित न किया जाय तब तक उसका संचार न किया जा सकता। जिन्होंने भगवान् को प्राप्त कर का मार्ग अपनाया है उनके लिए भगवत्प्राप्ति के शक्ति का अपव्यय करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि उससे दूसरों की भगवत्प्राप्ति में उपकार होता नहीं किन्तु अपनी भगवत्प्राप्ति की सिद्धि में भी बा पड़ती है। भगवत्प्राप्ति के पहले दीक्षा देने पर अप उन्नति के मार्ग में प्रचुर विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती है भगवत्प्राप्ति हो जाने पर उनके निर्देशानुसार या उ समाविष्ट होकर दीक्षा देना अलग बात है। उ अपनी कोई हानि नहीं होती और दूसरे का कल्या होता है।

६—गुरु और जगद्गुरु—

जो गुरु के पद पर आसीन हों वे यदि जगद्गुरु साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करें तो उस

देह के द्वारा ही जगद्गुरु की क्रिया करते हैं। किन्तु जगद्गुरु के साथ तादात्म्य वोध न रहने पर वास्तविक गुरु ही नहीं हुआ जाता। तथापि यदि कोई गुरुका काम करें एवं उनके ऊपर यदि शिष्य पूर्णरूप से निर्भर रहे तो विशेष उन्नति का मार्ग एक प्रकार से रुक जाता है। क्योंकि गुरुके अग्रसर हुए विना उसके आश्रित शिष्य के लिए अग्रसर होना संभव नहीं है। किसी विशेष कारण से गुरु यदि कुछ दिनों तक गतिहीन शुद्ध अवस्था में रहें तो शिष्य को भी वैसी अवस्था में रहना पड़ेगा। शिष्य गुरुको लांघकर आगे नहीं बढ़ सकता। किन्तु शिष्य यदि गुरु का जगद्गुरुके रूप में विश्वास करे तो उसके लिए उन्नति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। अनेकों जगह गुरुके सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व शिष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसी लिए शास्त्र में सर्वत्र गुरु पर भगवान् के रूप में विश्वास करने की व्यवस्था है। गुरु अपने साधन के वल से यदि भगवत्ता प्राप्त न भी करें तो भी शिष्य अपने विश्वास के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

(२३)

१—पथ और पथ का अन्त—

साधारणतः सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि विभिन्न मत या पथ परस्पर भिन्न होने पर ही सत्य हो सकते हैं। किसी एक के सत्य होने पर भी दूसरा उससे भिन्न होने के कारण असत्य हो जायगा ऐसी कोई वात नहीं है। यह यदि जानना हो तो दोनों ओर से ही विचार करना होगा। एक ओर लक्ष्य का भेद और दूसरी ओर लक्ष्य का ऐक्य। जहां लक्ष्य भिन्न है वहां पथ यदि भिन्न हो तो विरोध का कोई प्रश्न ही न उठे। क्योंकि जिसका जो लक्ष्य है वह उस लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय का मार्ग ही ग्रहण करता है। लक्ष्य के भेद से पथ का भेद स्वाभाविक है। इस सरल सत्य को समझने में किसी को असुविधा नहीं होगी। किन्तु यह भी सत्य है कि लक्ष्य एक होने पर भी पथ भिन्न हो सकते हैं। यदि एक विश्वनाथ मन्दिर में जाना हो तो नाना मार्गों से जाया जा सकता है। यह मिथ्या वात नहीं है। किन्तु इस प्रसङ्ग में यह स्मरण रखना चाहिये कि यात्री कहां हैं और कैसी उनकी रुचि है। साधक की व्यक्तिगत रुचि, संस्कार, सामर्थ्य आदि के अनुसार मार्ग निर्धारित होता है। महिम्न-स्तोत्र में लिखा है—पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए नाना प्रस्थान हैं। पथिकों की आवश्यकता और योग्यता के अनुसार अधिकारभेदवश उनमें कोई किसी का हितावह और उपकारी होता है। कोई सीधे मार्ग से जाता है तो कोई टेढ़े मार्ग से घूम कर जाता है। इसमें भी रुचिकी विचित्रता काम करती है। किन्तु उससे एक लक्ष्य में पहुँचने में बाधा नहीं होती। पर समय अधिक लगता है, यह सत्य है। सब नदियां जैसे घूम फिर कर समुद्र में जा गिरती हैं वैसे ही सभी पथ सीधे न होने पर भी घूम फिर कर गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाते हैं। 'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'। इस प्रसङ्ग में प्रश्न उठता है कि लक्ष्य पृथक् रहने पर भी परम लक्ष्य एक कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि स्थूल दृष्टि से लक्ष्य का भेद रहने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। सालोक्य, सामीप्य, लीलाप्रवेश, निर्वाण जो भी क्यों न कहा जाय सब कुछ परम लक्ष्य के अन्तर्गत हैं। अन्त में परम लक्ष्य की प्राप्ति न होने तक एक तरह से मार्ग में रहना हुआ, कहना पड़ेगा। इसीलिए मां ने कहा है,—'जहां मत और वादविवाद नहीं है वहां मूल में वही है। वही इन नाना आकारों में है।" उन्होंने आगे और कहा है—"अन्त रहने पर

काल है और काल रहने पर अकाल है। यह अन्त और काल का जहां प्रश्न नहीं रहता वहां मिलोगे।

२—सांसारिक सुख और ईश्वरीय सुख—

सांसारिक सुख यथार्थ सुख नहीं है। क्योंकि इस सुख में भी दुःख है, साथ साथ में भी वह है एवं पहले और पीछे भी है। ईश्वरीय सुख ही वास्तविक सुख है। वही परम सुखद परमानन्द है, वह निरवच्छिन्न आनन्द है। उसमें अभाव का लेशमात्र भी नहीं रहता। यद्यपि सांसारिक सुख भी स्वरूपतः ब्रह्मानन्द से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है तथापि वह भगवत्सुख के कण का कणमात्र है। ईश्वरीय सुखका स्वरूप य कि इस सुखकी प्राप्ति के साथ ही साथ अपनी प्र हो जाती है। अपनी प्राप्ति होने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इसी लिए फिर अभाव जागता, दुःख पास में नहीं आता। वस्तुतः पूर्णत्वलाभ है। इसी लिए माँ ने उपदेश देते हुए है "थोड़ा लेकर सुखी मत होओ। पूर्ण हो पूर्णाङ्गीण होकर मुझे पाओ।" इसके द्वारा उ यही सूचित किया कि पूर्ण हुए बिना माँ को पाया जाता अर्थात् अपने को पाया नहीं जाता। क माँ भी निज स्वरूप से अभिन्न हैं।

मां को खोकर मां को पाया

—गोपाल—

(गतांक से आगे)

चार

माँ,
अज्ञानान्धकार में सुप्त, मग्न
था माया के मोहजाल में
भोग-व्यसन में, मन डूबा था
अहं-सलिल से पूर्ण ताल में
छिन्न हुए मेरी वीना के तार—
बीती थी बस आधी रात।
असह, अवह पीड़ा ने,
चेतना को किया सचेत,
देकर आघात।
विह्वल हो,
भूलुण्ठित हो,
देख रहा हूँ चारों ओर,
मिलेगा क्या,
सब सहने को धीरज,
दैन्य की ग्लानि मिटाने का उपचार।
किसी ने कहा—
रो मत
माँ आई, करने को प्यार—
तप्त, व्यथित को, धीरज देने
हर लेने को अश्रुभार।
विमल किरण फैलाकर आरति
शरद-ज्योत्सना करती
स्वागत गीत गूंजते नभ में
माँ जो उतरी धरती।
मातृचरण पर शेफाली ने
चाहा अर्घ्य चढ़ाना
श्यामल आसन दूर्वादल ने
धरती पर है ताना।
जीवन आया बाद मरण के
हृत होगा दैन्य, शोक।
मां आई आनन्दमयी,
करने को कृपा विस्तार
ले जायगा तम के पार
ज्ञान का शुभ्र आलोक।
शरण दो माँ
अभया,
भवानी,
अपने चरण में।

घटना छोटी किन्तु मर्मस्पर्शिनी और करुण है।

खबर आई, भारतधर्म महामण्डल के प्रतिष्ठाता श्रीमद् ज्ञानानन्द स्वामीजी बहुत बीमार हैं, एक बार देखने जाना होगा। गया।

शान्त, सौम्यमूर्ति। श्वेतकेशी वृद्ध, गौरवर्ण, नाटे कद के पुरुष। वेदनाकुण्ठित मुख। दो दिनों से पेशाब बन्द है। मूत्राशय आधे पेट तक फूला हुआ है। समझ गया कि प्रोस्टेट ग्रन्थि ने मूत्रनाली को बन्द कर दिया है। वय एक सौ पाँच वर्ष! निश्चय ही असह्य वेदना थी। मूत्राशय फटा चाहता था। अत्यन्त कष्टदायी मृत्यु—।

आपरेशन करना भी खतरनाक था फिर भी कष्ट निश्चय ही कम हो जायगा। सब समझाया। राजी हो गए। कहा, "मैं जानता हूँ तुम सर्जरी नहीं करते। खैर, जो चाहो करो पर तुम्हें मेरे पास बैठे रहना होगा।" आपरेशन हुआ; स्वामीजी के सर के पास हाथ पकड़े बैठा रहा। पेशाब हो गया, कष्ट कम हुआ। किन्तु नाड़ी की गति से मालूम पड़ता था कि शायद आपरेशन का धक्का संभाल कर उठ नहीं पावेंगे। तब भी उपाय में किसी प्रकार की त्रुटि न होने पावे इसकी चेष्टा में व्यस्त था।

तीन दिनों बाद—मालूम हो गया कि स्वामीजी के इस शरीर को बचाया नहीं जा सकता।

शाम को।

"बेटा, मैं तुम्हारा मुँह देख कर ही समझ गया हूँ कि जाने का समय हो गया है। तुम्हारी निष्ठापूर्ण सेवा से मैं मुग्ध हूँ। इसी लिए तुमसे कुछ मांगना चाहता हूँ—मांगूं ?"

मुँह से कोई उत्तर नहीं निकला। सम्मतिसूचक सर हिलाया।

"मेरी अन्तिम इच्छा एक बार माँ आनन्दमयी का दर्शन करने की है। तुम यह काम कर सकते हो। मैं जानता हूँ, तुम्हारे कहने से माँ आनन्दमयी निश्चय ही आकर मेरे अन्त समय में दर्शन दे जायँगी।"

मैं तुरन्त उठा। मोटर से दौड़ गया माँ के आश्रम। पहुँच कर सुना कि माँ मोटर पर कहीं बाहर निकल गई हैं। कहाँ गई हैं, कोई ठीक बता नहीं सका। हृदय बैठ गया। कारण, स्वामीजी रात काट सकेंगे या नहीं—सन्देह था। आश्रम में ही प्रतीक्षा करने लगा। प्रायः डेढ़ घंटे बाद माँ आईं।

मुझे देखते ही माँ ने हँस कर कहा, "पि
ज्ञानानन्द स्वामीजी को देख आई।"

माँ की ओर ताकता ही रह गया। बोल
फूटा। काफी देर बाद प्रकृतिस्थ हुआ। "माँ,
तुम ज्ञानानन्द स्वामीजी को जानती थीं,
देखा था ?"

"नहीं पिताजी, कभी देखा नहीं था। आज
प्रथम बार देखा है। हाँ नाम सुना था।"

"वह बीमार हैं, यह तुम जानती थीं ?"

"नहीं।"

"तब तुम आज सहसा गईं क्यों ?"

"उसी ओर से जा रही थी, सहसा ऐसा विचार
कि जाऊँ पिताजी को देख आऊँ। देख आई।"

माँ की बातचीत से पता चला कि माँ
विंध्याचल में थीं तथा स्वामीजी को देखने का
विंध्याचल में ही उठा। मालूम पड़ता है, जब स्वा
व्याकुल हो कर माँ के दर्शन की चर्चा कर रहे थे
माँ को उन्हें देखने की इच्छा हुई।

"और मैं तुम्हें उन्हीं बाबाजी के पास लिवा
लिए यहां आकर बैठा हूँ।"

कैसा हँसीं माँ! यह दुर्ज्ञेय हँसी समझ नहीं
इसी लिए बीच बीच में क्रोध आ जाता है।

लौट गया।

स्वामीजी के पास पहुँचते ही, दोनों हाथ
मुझे पकड़ कर मेरा माथा अपनी छाती पर उन्होंने
लिया। कैसा आदर, कितना आशीर्वाद!

निश्वास की गति से ही समझ गया: अब
समय नहीं है।

हृदय फाड़ कर रुलाई आने लगी। चाह
कह नहीं पाया—

"स्वामीजी, मैं तुम्हारे आदर, आशीर्वाद का अधिकारी नहीं हूँ। माँ स्वयं ही अपने पुत्र का रुदन सुनकर दर्शन दे गईं अंतिम यात्रा का अमूल्य पाथेय–"

अंतिम प्रणाम कर लौट आया।

लौट कर माँ को प्रणाम नहीं किया—रूठ गया। मेरी तारीफ़ मारी गई थी न।

माँ,
बिना सुनाए व्यथा हृदय की
तुम जब सब कुछ लेती जान
अपने मन के भाव
नहीं छिपाऊँगा
तुम अन्तर्यामी।
सूक्ष्म रूप से
हृदय जगत में
तुम रहती हो सदा सजग
संशय भागें दूर, सुनाना
ऐसी अभय वाणी।
तुम आद्याशक्ति
जगत जननी
माँ आनन्दमयी
करुणा की खान
तुम्हें प्रणाम
कल्याणी, करुणामयी
स्नेहमयी सन्तान को
सिखलाओ सेवा विधि,
अहंकार कर दूर जनों का
दो चरणों में स्थान।
मां,
तुमने मुझको प्रेम किया
अयाचित असीम करुणा
शत अपराध क्षमा कर
असह वेदना हरकर
दिया सांत्वना।
सोची तुमने मेरी बात
स्नेहसिंचित मधुमिष्ट स्वरों से,
मुझे पुकारा,
आकर मेरे हृदय द्वार।
मैं यदि दूर हटा,
फिर भी खींच लिया
शरण में।
कभी भूलकर तुमको,
बालू का प्रासाद बनाया
तोड़ उसी क्षण, मुझको
किया सचेतन।
जन्म जन्म की माँ तुम मेरी
मेरे मन को है विश्वास
अन्य न कोई मेरा,
अपने को अब सौंप चरण में
तेरे, मैं भी बैठा।

* * *

मातृ मुख सुधा वानी

श्री गोपाल ठाकुर कथित कहानी

एक तीर्थयात्री, मातृदर्शनाभिलाषी, श्री श्री हिंगुलेश्वरी की यात्रा कर रहा था। दिन डूबने पर घने जंगल में रास्ता भूल गया। निकट ही कोई कुटिया मालूम पड़ी। द्वार पर आकर आश्रय की प्रार्थना की।

एक साधक बाहर निकल आए, "आश्रय चाहते हैं? आइए।" आदरपूर्वक अभ्यागत अतिथि की परिचर्या की।

"कहां जा रहे हैं?"

"श्रीहिंगुलेश्वरी के पीठस्थान को।"

"क्यों?"

"माता का दर्शन करने।"

"केवल यदि मां के दर्शन की ही कामना है तो इतनी दूर कष्ट करके जाने की क्या आवश्यकता है? इस सन्तान पर हिंगुलेश्वरी माता की असीम कृपा है। रोज़ ही सवेरे जब कार्यवश बाहर जाता हूँ तभी मेरी हिंगुलेश्वरी माता स्वयं आकर आश्रम के सारे काम स्वयं अपने हाथ से कर जाती हैं। आप यहीं कल सवेरे माता का दर्शन पावेंगे।"

दूसरे दिन पौ फटते ही आश्रम के स्वामी अज्ञात कार्यवश घने जंगल में चले गए। मातृ-दर्शनाभिलाषी उत्सुकतापूर्वक मातृ-आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ देर बाद हल्का सा साधारण वस्त्र पहने एक पहाड़ी लड़की आई। बिना कुछ बोले स्वच्छन्दतापूर्वक आश्रम का सारा घरेलू काम करने लगी। बर्तन मांजना, कपड़ा कचारना, झाड़ू लगाना इत्यादि।

तीर्थयात्री निर्विवाक!

यह क्या हिंगुलेश्वरी मां हैं? मां का विश्वविमोहिनी रूप कहां है? मां का षट् ऐश्वर्य कहां है? यह क्या—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः। महामोहा च भवती महादेवी महासुरी? हैं।

नहीं, नहीं! इतनी सामान्य दासी, नीच जाति की लड़की को मैं मां कैसे पुकार सकता हूँ।

आभिजात्य के अहंकार की प्राचीर दुर्लंघ्य है। मां को पुकारा नहीं।

संध्या को—

"क्या बात है ऐसा मन मारे क्यों बैठे हैं?"

"माँ हिंगुलेश्वरी को तो देखा नहीं, देखा एक नीच जाति की स्त्री, दासी को।"

"अरे, वहीं तो हिंगुलेश्वरी माता थीं। आभिजात के अहंकार को छोड़ो, देखोगे वही हिंगुलेश्वरी माता है।

दूसरे दिन,

"तुम क्या हिंगुलेश्वरी माता हो?"

"वह कौन है जी? मैं तो साधारण मजदूर हूँ। मेरी सन्तानें मुझे केवल माँ पुकारती हैं। मूर्ख स्त्री हूँ, यह सब क्या कहते हो, समझती नहीं।"

यही तो! माँ तो स्वाहा हैं! माँ तो स्वधा हैं! माँ तो गायत्री हैं! यह निरक्षर, त्रिगुणधारिणी, बुद् और ज्ञान स्वरूपा कैसे हो सकती है?

"छलनामयी माँ के मोहावरण का भेद नहीं पाए? ऐकान्तिक भक्ति और अटल विश्वास चाहि भाई, तभी माँ का दर्शन पाओगे।"

"आज मैं नहीं छोड़ूगा। तुम माँ हो, चरण स्पर्श देना ही पड़ेगा।"

"छिः छिः। तुम कैसे मर्द हो। इस निर्जन वन परपुरुष हो कर एक अबला नारी का चरण छूने आ हो? यही क्या तुम्हारी साधना है?"

सच ही तो, यह मैं क्या कर रहा था—महापाप पतित होने जा रहा था। धिक्कार है मुझे सौ ब धिक्कार है।

"क्यों भाई, आज भी माँ को नहीं पहचान सके?"

अनुताप से दग्ध साधक के नेत्रों से जल की धा बह चली।

"तुम्हारी वृत्तियाँ अभी तक मरी नहीं हैं। इस लिए यह भाव है। पुरुष क्या? और पर पुरुष क्या माँ के निकट तो सभी शिशु हैं। काम की गन्ध नहीं है। माँ के निकट सन्तान को पुरुषत्व-ज्ञान अभिमान कहाँ है? मत छोड़ो उन चरणों को छोड़ो! शिशु की भाँति आँखों में जल भर कर

के चरणों को कस कर पकड़ लो—छोड़ो मत। तभी न माँ दर्शन देंगी, तभी न माँ गोद में लेंगी।"

चौथे दिन—

आज आभिजात्य का अहंकार नहीं है।
आज सन्देह की गुञ्जायश नहीं है।
आज सन्दिग्ध भक्ति नहीं है।
आज पुरुषत्व का बोध नहीं है।
आज है नम्र विनय की दृढ़ता।
आज है विश्वास का अचल हिमालय।
आज है भक्ति की एकाग्र निष्ठा।
आज है शिशु का वात्सल्यभाव,
मातृ-प्रेम सुधा।

"नहीं छोड़ूंगा माँ, नहीं छोड़ूंगा। ये चरण नहीं छोड़ूँगा। मुझे दर्शन देना ही पड़ेगा, मुझे शरण देनी ही पड़ेगा, मुझे गोद में लेना ही पड़ेगी।"

छलनामयी की छलना का कुहरा फट गया।

प्रकाशित हो गया—

सौम्यासौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।
मानस का तम मिटा,
दिशाएँ हुईं प्रकाशित।
आत्मसमर्पण कर हुआ
पद धूल धूसरित।
मिटा आत्म अभिमान
अहं गया,
चरन धूल में मिला
काम भस्म हो गया
शरणागति से धन्य हुआ,
मातृ नयन की आभा ने,
हर ली वेदना सन्तति की।

पंचम दिन—

"क्यों भाई हिंगुलेश्वरी नहीं जाओगे?"

"नहीं। माँ को तो पाही गया हूँ। क्या सोच रहा था, जानते हो? इन्हीं चरणों में आजन्म अपने को विलीन कर दूँ। किन्तु ऐसा किया नहीं। मन में एक प्रश्न उठता है। तुम माँ को पाकर भी रोज जंगल में किस की साधना करने जाते हो? माँ को पाने पर भी और कुछ क्या पाने को बाकी रह जाता है? क्या मुझे बतलाओगे?"

माँ तो—

विसृष्टौ-सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥

"फिर भी सन्तान हूँ; स्नेहमयी माँ तो सन्तान के लिए दिन-रात व्यस्त रहती हैं। क्या सन्तान का कोई कर्त्तव्य नहीं? माँ की इच्छा पूर्ण करना ही तो श्रेष्ठ पूजा है। माँ को इतना ही पा लेना तो अन्तिम नहीं है; माँ को और अधिक पाना अभी बाकी है।"

माँ मेरी,
भ्रम मिटा
अब तुमको पहचाना।
अब न तुम्हारी शरण छोड़कर
मुझे न और स्थल जाना।
तुम हो पृथ्वी
सबका भार उठाए।
मारो जिसको, लेकर उसको
भी हो कण्ठ लगाए।
स्नेह हृदय से विगलित होकर,
गंगा सी बह जाए
हँसी तुम्हारी शुभ्र चाँदनी
धरती पर फैलाए।

सृष्टि, स्थिति, लय,
तुम्हारे शक्ति रूप की क्रीड़ा
दांए हाथ अभय वर तेरे
और, ध्वंस की लीला ।
शक्ति उत्स उमानन्द
शान्त सौम्य स्थिर
शक्तिमयी स्तब्ध छन्द
लज्जा नत शिर ।
महाव्योम में उड़ते
विखरे केश ।
तुम्हीं सृष्टि की आदि मूल
अब न करूँगा भूल ।

शक्ति का जागरण

(महामहोपाध्याय श्रीयुक्त गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी-लिट्)

मनुष्यजीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है? मनुष्यजीवन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है यह जान कर उस स्वरूप की प्राप्ति के लिए चेष्टा करना मनुष्य का कर्तव्य है। बहुत लोग सोचते हैं कि प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर चित्स्वरूप आत्मा के अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य सफल हुआ यह कहना बनता है। विवेकज्ञान के प्रभाव से मनुष्य जड़ से अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति से अपने को पृथक्रूप में पहचान सकता है। यह स्वरूप द्रष्टा का स्वरूप है। इस प्रकार अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने पर कर्मबीज जल जाते हैं। इस अवस्था में शरीर नहीं रहता, अर्थात् देह का बोध स्पष्टरूप से नहीं रहता। केवल निष्क्रिय आत्मस्वरूपमात्र स्वप्रकाशरूप में विद्यमान रहता है। देह-बीज के जल जाने पर फिर नूतन शरीर ग्रहण करने की जरूरत नहीं होती। यह अवस्था साधारणतः विदेह-कैवल्य के नाम से पुकारी जाती है। इस स्थिति की प्राप्ति के अनन्तर जन्म-मृत्यु के प्रवाह से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

दूसरे पक्ष का कहना है कि इस प्रकार की विदेह कैवल्यप्राप्ति मनुष्यजीवन का परम उद्देश्य नहीं हो सकता। इस पक्ष के समर्थक विद्वान् कहते हैं कि मनुष्य परमेश्वर-स्वभावविशिष्ट है। जीव वास्तव में शिव से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। इस मत के अनुसार मनुष्य जब तक अन्दर छिपी हुई भगवत्ता को जाग्रत् नहीं कर सकेगा तब तक उसके जीवन का उद्देश्य अपूर्ण ही रहेगा। 'भगवत्ता' माने अनन्त शक्तिसम्पन्न शिवत्व समझना चाहिये। शिव अर्थात् परमेश्वर ने लीलावश अपनी स्वतन्त्रता से अपने को संकुचित कर पशुभाव अर्थात् जीवभाव धारण किया है। उनका स्वभाव इस संकोच के कारण पशु-अवस्था में अत्यन्त संकुचित हो पड़ा है। इसीलिए उनका स्वभावसिद्ध षाड्गुण्य परिच्छिन्न हो पड़ा है। वे स्वरूप से सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, विभु, नित्य और आप्तकाम होने पर भी इस संकोच के प्रभाव से अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, परिच्छिन्न देह से परिमित और आयुविशिष्ट होने के कारण निर्दिष्ट काल के अधीन एवं भाँति भाँति की वासनाओं द्वारा कलङ्कित हैं। जीवावस्था में यही स्वाभाविक है। यद्यपि विदेह कैवल्य में यह सीमाबद्ध परिधि नहीं रहती तथापि अपरिच्छिन्न ज्ञानक्रियाशक्ति का उन्मेष भी नहीं हो सकता। अतएव इन सब दिव्य गुणों का पूर्णविकास न होने केवल कैवल्य-लाभ करने पर ही मनुष्य को पूर्णत्व-लाभ हुआ यह कहना नहीं बनता। पूर्णत्व-लाभ के लिए अपरिच्छिन्न शक्ति का नित्य संयोग रहना आवश्यक है। मूल में भगवत्-शक्ति के चित्-शक्ति और आनन्दशक्ति के रूप में रहने पर भी वस्तुतः इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति उस मूल अव्यक्त शक्ति के ही केवल अभिव्यक्त प्रकाशमात्र हैं। भगवान् की अनन्त शक्तियां चित् और आनन्द इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप में प्रधानतः विभक्त हैं। इनमें चित् और आनन्द उनके स्वरूप के अन्तर्गत

हैं एवं इच्छा, ज्ञान और क्रिया उनके स्वरूप से अभिन्न होने पर भी प्रमाता, प्रमेय के सम्बन्ध से इच्छादि रूप में नित्य समवेत होकर विराजमान है। मूल-शक्ति चित्-शक्ति ही है यह कहना व्यर्थ है।

यह चित्शक्ति मनुष्य-शरीर में सब की अपेक्षा अन्तरतम शक्ति के रूप में विराजमान है। आनन्द इस चित् का स्वाभिमुख विश्राममात्र है। स्वतन्त्रता वश चित् जैसे आनन्द रूप में परिणत होती है वैसे ही आनन्द बाहर को छलकने पर क्रमशः इच्छा, ज्ञान और सबके अन्त में क्रिया के रूप में परिणत होता है। जिसे हम लोग वर्णमातृका (Letters of alphabets) कहते हैं ये सभी पृथक् पृथक् भावों के शाब्दिक द्योतनामात्र हैं। तदनुसार 'अ' है अणूत्तर या चित्शक्ति, आ—आनन्दशक्ति, इ—इच्छा-शक्ति, उ—उन्मेष या ज्ञानशक्ति एवं ए, ऐ, ओ, औ—अस्फुट, स्फुट आदि विभिन्न क्रिया-शक्तियां हैं। क्रियाशक्ति के बाद फिर शक्ति का विस्तार नहीं होता। तब वह कुण्ठित होकर मध्यवर्ती सब शक्तियाँ लपेट कर समष्टिरूप में बिन्दु अवस्था को प्राप्त होती है एवं वह बिन्दु अणूत्तर चित्-शक्ति के साथ मिलता है। वस्तुतः यह शिव बिन्दु ही है इसमें सन्देह नहीं। वह बिन्दु अपने को विभक्त सा बना कर दो बिन्दुओं के रूप में प्रकट होता है। यही बिन्दु की विसर्गलीला है। इस विसर्गलीला में तत्त्व और भुवनों की सृष्टि होती है एवं शिवबिन्दु विसर्ग के प्रभाव से हकार तक फैल कर अहंभाव का विकास करता है। यहीपूर्ण अहन्ता है। इस अहं के प्रतियोगी रूप से इदं का विकास उस समय भी नहीं होता। इदं भाव ही विश्व का प्रतीक है। सर्वप्रथम स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अहं से पृथक् न होकर भी पृथक् रूप से इदं प्रकट होता है। यही महा समष्टि सृष्टि का पूर्वाभास है। इदं का यह
रूप महाशून्य के भी परे परम शून्य के
मान लिया जा सकता है। महासमष्टि सृष्टि
समष्टि तथा समष्टि से व्यष्टि का उदय क्रमशः होता
भिन्न भिन्न स्तरों में विभक्त शून्य के आगे
प्राण, मन, इन्द्रिय और विषय क्रमशः सजे
हैं। इसके भीतर से सृष्टि की बहिर्मुख धारा बह रही
प्रकृति के सदृश परिणाम से विसदृश परिणाम का
ही विषय सृष्टि का हेतु है। यह जानना
इसका विस्तार यहां अनावश्यक है।

(२)

पहले जिस चित्-शक्ति या अणूत्तर की चर्चा
गई है अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वही
स्वरूप की आदिभूत कौलिकी शक्ति है। यह
शक्ति कुलकुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है।
विसर्गशक्ति का ही सूक्ष्मतम रूप है इसमें कोई
नहीं है। समग्र विश्व का स्फुरण इस शक्ति
होता है। सृष्टि के भेद, भेदाभेद और अभेद
तीन प्रकार हैं। भेदसृष्टि स्थूल है इसका
आणव विसर्ग है, भेदाभेद सृष्टि सूक्ष्म है
नाम शाक्तविसर्ग है एवं अभेद सृष्टि परम
सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इसका नाम शाम्भव विसर्ग
इन तीनों में स्थूल विसर्ग संकुचित ज्ञानात्मक
का विसर्गमात्र है। जिस स्फुरण में
अवस्था जाग्रत् रहती है, उसमें प्रमाता, प्रमेय
समग्र विश्व ही सृष्टि के विषय रूप से प्रकट
है। सूक्ष्म विसर्ग को चित्त का संबोध कहते
इस अवस्था में चित्त अपने निष्कल स्वरूप में
समर्पण करने को उद्यत होता है। इस
अखण्ड प्रकाश में सम्पूर्ण चराचर की

रही है ऐसा प्रतीत होता है। यही शक्ति की अवस्था है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विसर्ग में चित्त नहीं रहता। वह आनन्दात्मक अभेद अवस्था है। इस अवस्था में चित्त विलीन हो जाता है। संवित् या चैतन्यमात्र विद्यमान रहता है।

यह विसर्ग शक्ति अखण्ड प्रकाश की परा शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह परप्रमाता के साथ अभिन्न रूप से विद्यमान रहती हैं। यदि अतिसूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह इच्छा के रूप में वर्णित होने योग्य है। कामकलाविज्ञान में यही कामकला के रूप में गृहीत होती है। कामकला का स्वरूप तत्त्वसृष्टि की पूर्व अवस्था की बात है। यह इच्छा जब बाहर की ओर उन्मुख होती है तब इसे विसर्ग कहते हैं। इसका कारण क्षोभ है। क्षोभ की पूर्वावस्था 'अ' और परावस्था 'आ' है। 'अ' चित्-शक्ति और 'आ' आनन्द-शक्ति धीरे धीरे क्रिया तक विस्तार को प्राप्त होकर यह बाह्योलास क्रीड़ा करती हैं।

(३)

यह पराशक्ति 'अ' है इसकी चर्चा की जा चुकी है, इसी का दूसरा नाम सप्तदशी कला अमा है। यह नित्य उदित है, क्योंकि इसका तिरोधान कभी नहीं होता, यही अमृत कला है। यही अन्तःकरण आदि सोलह कलाओं का आप्यायन करती है। विसर्ग दो हैं। जो पर विसर्ग है वही आनन्द या 'आ' है और जो अपर विसर्ग है, वही 'ह' है। इन दो विसर्गों के स्वस्वरूपस्थ या आत्मभूत दो विन्दु हैं। इन दो बिन्दुओं की गति के द्वारा अर्थात् दो विन्दुओं के अवभासनपूर्वक प्रसृत होकर अमा कला उल्लसित होती है। अर्थात् 'अ' तत्तत् रूपों के अवभासन पूर्वक इच्छा पूर्वक बहिर्मुख प्रवाहित होता है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस अमा कला से अभिन्न हैं। तथापि अमा कला उन्हें तत्-तत् रूप से, भिन्न-भिन्न नियत प्रकाशरूप से प्रकाशित करती है।

यह अमा कला जब विसर्ग होती है अर्थात् जब यह बहिर्मुख नहीं रहती तब यह शक्ति कुण्डलिनी कही जाती है। सोये हुए सर्प के आकार की यह अपने में विश्रान्त परा संवित् है। विसर्ग के दोनों छोरों पर दो कुण्डलिनियां हैं। आदि छोर पर जो कुण्डलिनी है उसका नाम प्राणकुण्डलिनी है। क्योंकि बहिर्मुख में संवित् वहां पर प्राणरूप में ही प्रकाशित होती है। अन्तिम कोटि में जो कुण्डलिनी है उसका नाम परा कुण्डलिनी है। यह अपने में विश्रान्त परा संवित् है। यह अभ्यन्तरोन्मुख है। यह सप्तदशी कला शिव-व्योम, परब्रह्म अथवा शुद्धात्म स्थान के नाम से वर्णित है।

यदि संवित् के सिवा और कुछ नहीं रहता हो तो परा शक्ति किसकी सृष्टि या संहार करे यह ध्यानपूर्वक विचारने योग्य विषय है। हम जिस अवस्था की चर्चा कर रहे हैं वहां माया, प्रकृति आदि भिन्न उपादानों (उपकरणों) का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि आत्मा अपने से सृष्टि करते हैं, अपने में ही करते हैं (क्योंकि देश, काल आदि उनसे भिन्न नहीं हैं) एवं अपने को ही स्रष्टव्य विषय के रूप में बाहर फेंकते हैं। जिस किसी प्रमाता या प्रमेय की सृष्टि क्यों न हो, वस्तुतः सभी निज स्वरूप से अभिन्न हैं, यह स्वतन्त्र पूर्ण चैतन्यशक्ति क्रमशः 'अ' से 'ह' तक स्फुरित होती है।

(४)

मनुष्य-देह में सुप्ताकार में यह कुण्डलिनीशक्ति विद्यमान रहती है। यह सुप्त शक्ति जागकर क्रम से ऊपर की ओर उठती है। इस क्रमिक उत्थान के समय मनुष्य के

विकास के विरोधी सब विकल्प ज्ञान शान्त हो जाते हैं। एक चक्र के बाद दूसरे चक्र के भेद का यही उद्देश्य है। कई एक चक्रों का भेद होने पर आत्मा का तृतीय नेत्र मलहीन होकर स्वच्छ और प्रसन्न रूप धारण करता है। विकल्पों की निवृत्ति होने से निर्विकल्प स्वरूप का दर्शन अपने आप सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् तब ज्ञाननेत्र खुल जाता है और 'शिवोऽहम्' के रूप में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है।

शिवरूपी आत्मा ने जब सृष्टि के आदि में पशु का स्वांग धारण किया था तब मातृकाओं की सहायता से ही वह अपने स्वरूप का गोपन करने में समर्थ हुए थे। मातृकाएं स्वभावसिद्ध रूप में 'अ' से लेकर 'ह' तक उल्लसित होती हैं। इस उल्लास में कोई वैषम्य नहीं रहता, क्रम नहीं रहता एवं वेग की मन्दता या तीव्रता भी नहीं रहती। यही अहन्तारूपी महाशक्ति का प्रकाश हैं, जिसमें सब शक्तियों का समावेश रहता है। पशु स्वांग धारण करते समय यह उल्लास खण्ड और विषम रूप में रहता है। इसी से पशु में रहने वाली अनन्त प्रकार की प्रकृति का विकास होता है। ये सभी प्रकृतियां पशुप्रकृतियां हैं। पशुस्थल में शिवत्व छिप जाता है एवं स्वातन्त्र्य के बदले पारतन्त्र्य आ जाता है। वस्तुतः शिव निज शक्ति के द्वारा व्यामोहित होकर ही पशु का स्वांग धारण करते हैं एवं पशुत्वत्याग के साथ ही साथ शिवत्व का उन्मेष चमक उठता है। तन्त्र में लिखा है—

"शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तमिभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥

इसका तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रूप से स्फुरित होने वाला अकारादि निज अवयवसमूह ही कला कहा जाता है। आत्मा के ऐश्वर्य का तात्पर्य यह है कि उसमें सब वर्ण भीतर रहते हैं। पूर्वोक्त कला के प्रभाव विषम स्फुरण के कारण आत्मा का यह स्वाभाविक ऐ लुप्त हो जाता है। तब यह आत्मा दीनता को होता है एवं अपने स्वरूप से उत्पन्न शक्तियों के अ हो जाता है। पशु अवस्था में यही स्वाभाविक है।

कुण्डलिनी के जागने पर चित्शक्ति अपने सं रूप मात्र को प्रगट करती है। यह अतिप्रबल अ स्वरूप है। यही चिदग्नि कही जाती है। गुरु ईश्वर-कृपा, काल के परिपाक, पुरुषार्थ अथवा अ किसी कारण से यह शक्ति जाग सकती है। जागरण का हेतु प्राण और अपान शक्ति का सा स्थापन कहना चाहिये। प्राण और अपान से यहां विरुद्ध शक्तियां समझनी चाहिये। विरुद्ध शक्तियों साम्यभाव का नाम ही समान वायु की क्रिया की प्राप्ति है। उस समय सोई हुई कुलकुण्डलिनी उठती हैं एवं साधक के मन और प्राण इस जा कुण्डलिनीरूप अग्निशक्ति के साथ मिल कर एक हो हैं। इस सम्मिलित शक्ति से देहस्थित छहों चक्रों में प्रत्येक चक्र को अपने आयत्त करना पड़ता है। ये चक्र पञ्चभूत और चित्त के प्रतीक हैं। इन छह में क्रिया होने के माने हैं पञ्चभूतों का शोधन और उ साथ ही साथ चित्त का शोधन। पञ्चभूतों की शु होने पर उसके फलस्वरूप चित्त शुद्ध होता है चित्त विशुद्ध होने पर उसके फलस्वरूप पञ्चभूतों शुद्धि होती है। वास्तव में ये छह चक्र भौतिक चैत्य के विकल्प जाल के प्रसार क्षेत्र हैं। इन चक्रों जाग्रत् कुण्डलिनी रूप चैतन्य शक्ति से भरना चाहि सृष्टि के क्रम से बिन्दु, नाद और कला अर्थात् इन तीन स्तरों का परिचय प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक दैहिक चक्र को यदि बाहरी दृष्टि से देखा जा

वह कमल के आकार का मालूम पड़ेगा। उसमें से कमल की पांखुड़ी के रूप में मातृका वर्ण किरणों के आकार में निकलते हैं। इसके बाद एक व्यापक प्रकाश ऊर्ध्वमुख रूप नाद का स्थान जाता है। सबके अन्त में कमल की कर्णिका में विन्दु के रूप में चक्रेश्वर और चक्रेश्वरी का आसन स्थित है। जाग्रत् चित्शक्ति देह से निकल कर प्रत्येक चक्र पर आक्रमण करती है। पहले मूलाधार चक्र पर यह आक्रमण होता हैं। इससे चक्रस्थ चार वर्ण उक्त चिदग्नि के प्रभाव से गल जाते हैं। प्रदक्षिण क्रम से धारा बहती है। यह धारा अपने प्रभाव से आगे आगे के चार वर्णों को जगा कर एवं अपने साथ मिला कर मध्य विन्दु की ओर शीघ्र अथवा मन्द वेग से अग्रसर होती है। मध्य विन्दु में प्रविष्ट होने पर नाद उपसंहृत होकर विन्दु के रूप में परिणत होता हैं। प्रत्येक चक्र का बिन्दु नीचे ऊपर प्रवाहित होने वाले मध्यमार्ग या शून्यपथ में विराजमान होता है। वर्ण, नाद और विन्दु प्रत्येक कमल में विद्यमान रहते हैं। प्रथम कमल का विन्दु सारे कमल को निगलने के बाद ब्रह्मनाड़ी के ऊर्ध्ववाहिनी होने के कारण ऊपर के चक्र में प्रविष्ट होकर पूर्व चक्र की तरह इसके वर्ण, नाद और विन्दु को गला कर और अपने में मिला कर पहले की तरह मध्य नाड़ी के मिले हुए विन्दु मार्ग से ब्रह्मनाड़ी के ऊर्ध्व प्रवाह के कारण ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। पृथक् पृथक् विन्दु तब एक बिन्दु में ही पर्यवसित होते हैं। इस तरह वह बिन्दु भी अन्य विन्दुओं के साथ अभिन्न होकर जीव के कल्याण के लिए क्रमशः मध्य नाड़ी की ओर दौड़ता है। पञ्चभूतात्मक पांच चक्र और मनोमय छठा चक्र विध्वस्त हो जाते हैं। पञ्चभूत और योगी का चित्त शुद्ध होकर निर्विकल्प स्वच्छ प्रज्ञा में डूब जाते हैं। उसके बाद आज्ञाचक्र के ऊपर दिव्य ज्ञान का केन्द्र खुलता है। यह वास्तव में कुण्डलिनी शक्ति की ही उन्मेष को प्राप्त अवस्था है।

षट्चक्र भेद के बाद भ्रूमध्य में निम्न देश से सब विकल्प तिरोहित हो जाते हैं। तब ललाट में देहाभिमान के जर्जरित होने से परम ज्योति के अनुभव करने की शक्ति उत्पन्न होती है। प्रतिदिन उस महाज्योति के आकर्षण से आकृष्ट होने पर क्रमशः अन्तरतम भाव से महाशून्य में सहस्रदल कमल का आभास दिखाई देता है। भ्रूमध्यस्थित बिन्दु से सहस्रार के महाबिन्दु तक अनेक स्तर हैं। इन सब स्तरों को क्रमशः लांघ कर महाशक्ति महाबिन्दुस्थ परम शिव का आलिंगन करती है। सुदीर्घकाल के विरह के बाद शिव और शक्ति का यह महा मिलन सम्पन्न होता है। तब कुण्डलिनी शक्ति अपनी कुण्डलता (कुण्डलाकारता) का त्याग कर दण्डरूप धारण करती है एवं अन्त में महाविन्दु में परम शिव के साथ समरसता को प्राप्त हो जाती है। इस मिलन से जो अमृत-धारा निकलती है उस सुशीतल धारा से मन और प्राण अभिषिक्त होते हैं और ऊर्ध्वमुख होकर उस धारा का पान करते हैं। समान वायु की क्रिया के बाद उदान वायु की क्रिया से कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति होती है। यह ऊर्ध्वगति वस्तुतः सहस्रार में समाप्त न होकर ब्रह्मरन्ध्र तक चली जाती है। इसके बाद ऊर्ध्वगति फिर आगे नहीं होती। तब व्यान शक्ति के प्रभाव से अपनी खण्ड सत्ता अनन्त व्यापक रूप धारण करती है। यही संक्षेपतः आत्मा का अपने स्वरूप में लौट जाने का इतिहास है। विश्वपिता, विश्वमाता और सन्तान एक ही महासत्ता के रूप में प्रकाशित होते हैं। यही परिपूर्ण अद्वैत स्थिति एवं अपनी पूर्णता की प्राप्ति है।

कुण्डलिनी के जाग्रत् हुए बिना इस महापथ पर चलना कदापि सम्भव नहीं है, परम लक्ष्य की प्राप्ति तो दूर की बात है। मनुष्यजीवन का यही यथार्थ उद्देश्य है। केवल खण्ड कैवल्य प्राप्त कर जन्म-मृत्यु के आवर्त से ऊपर स्थान की प्राप्ति मनुष्यजीवन का लक्ष्य नहीं है। अपनी दबी हुई भगवत्ता को पूर्णरूप से विकसित न कर डालने तक मनुष्यजीवन की वास्तविक सफलता कहाँ ? कुण्डलिनी के जागे बिना चित् और अचित् का नहीं मिट सकता। विवेक ज्ञानपथ में आरूढ़ होने एक सोपान मात्र है। शक्ति की साधना के बिना भाव की प्राप्ति दुर्घट है एवं कुण्डलिनी जागरण बिना शक्ति साधना का कोई अङ्ग ही नहीं होता।

ॐ

अनुकम्पा-धारा

श्रीचरणकमलाश्रिता

(१) माँ के प्रथम दर्शन—

मां के दर्शन होने के अनेकों वर्ष पूर्व की बात है। ऐसी याद पड़ती है किसी हिन्दी की मैगज़ीनमें, एक छोटा सा लेख, मां के बारे में पढ़ा था—उसमें क्या लिखा था यह भी विशेष कुछ याद नहीं पर ऐसा स्मरण है कि उसको पढ़ कर हृदय में मां के दर्शनों की इच्छा हुई थी। उसके पश्चात् मां के बारे में न तो फिर किसी से कुछ सुना ही और न कुछ उनके बारे में और पढ़ने का सुयोग ही प्राप्त हुआ। जो कुछ लाइनें उस मैगज़ीन में पढ़ी थीं वे भी स्मृतिपटल पर धुंधली हो चली थीं।

सन् १९४२ में कुछ ऐसे कारण आ उपस्थित हुए कि मुझे अपने भाई के पास, जो उन दिनों देहरादून में थे, जाना पड़ा। मेरी माताजी भी उन दिनों भाई के पास ही थीं। एक दिन भाई ने दफ्तर से लौट कर उनसे कहा कि यहां एक माताजी आई हुई हैं जिनके दर्शनों के लिए बहुत लोग जा रहे हैं यदि वे चाहें तो दर्शन करने चलें। मेरी माताजी तो धार्मिक विचार की थीं ही—कहा अवश्य चलूंगी। मैंने कहा मैं भी चलूंगी। देहरादून से ४-५ मील पर रायपुर नाम का एक बड़ा मनोरम स्थान है। चारों ओर सुन्दर पहाड़ी दृश्य। पता लगाते लगाते हम लोग कार से रायपुर पहुँचे। एक छोटी सी पहाड़ी पर, शिवमन्दिर में मां ठहरी हुई थीं। हम लोग एक हौल में बैठाए गए जहां मां के लिए एक ओर तख्त लगा हुआ था। माँ थोड़ी देर में वहां पधारेंगी सुन कर उनके आने की बाट जोहने लगे। हौल में कुछ और लोग भी मां की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिनमें मां के भक्त एक वृद्ध मुसलमान भी थे। मेरे भाई उन्हीं से माताजी के बारे में बात-चीत करने लगे। उन वृद्ध महाशय ने यह भी बताया कि वे मां को साक्षात् मुहम्मद के रूप में देखते हैं। थोड़ी देर बाद मां ने सामने के द्वार से हौल में पदार्पण किया। हम लोग मां के चरण स्पर्श करने को आगे बढ़े तो मालूम हुआ कि मां को अलग से ही प्रणाम किया जाता है—चरण छू कर प्रणाम करने का निषेध है परन्तु मैं यह जानने के पहलेही मां के चरणस्पर्श कर चुकी थी। मां तख्त पर बैठ गईं और मैं मंत्रमुग्ध सी एकटक उन्हें देखती ही रह गई। कभी लगे यह इस लोक की नहीं हैं—कभी विचार में आवे यह तो तो चलती फिरतीं गीता ही हैं—कभी सोचूँ कैसी अलौकिक तेजोमयी, करुणामयी सौम्यमूर्ति है! (मां का शरीर तो मुझे इतना पवित्र लगा कि बहुत दिनों तक मुझे ऐसा लगे कि अपने अपवित्र हाथों से कैसे स्पर्श करूँ।) सांसारिक सुख मुझे बहुत कुछ प्राप्त होते हुए भी अन्तर में एक प्रकार का अभाव सा प्रतीत होता था। उस दिन ऐसा लगा कि जैसे यही अभाव बोध होता था सो पूरा हो गया। अन्तर शायद ऐसा

ही शान्त पवित्र वातावरण ढूंढ़ रहा था सो मां के पास मुझे मिल गया, यद्यपि इस बार शायद मां से मेरी बातचीत नहीं हुई। पर कितनी शान्ति!

मैंने सुन रखा था आश्रमों में प्रायः कीर्तन-भजन होते हैं पर इससे पूर्व मुझे किसी आश्रम में जाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। मुझको बचपन से ही कीर्तन, भजनादि अच्छा लगता था। मैं मन में सोच रही थी शायद कीर्तन हो, (अब देखती हूँ कि आश्रम में दोपहर के समय तो प्रायः कीर्तन नहीं होता है। प्रातःकाल तथा सायंकाल ही होता है) मां ने अवश्य ही मेरे हृदय की बात जान कर किसी से, (शायद श्री स्वामी अखण्डानन्दजी से) कहा, "थोड़ा नाम कर लो।" कीर्तन होने लगा। इसी प्रकार कुछ घण्टे महान् आनन्द में कट गये। उसके पश्चात् घर के लोग चलने के लिए तैयार हुए तो मुझे मां को छोड़ कर आते हुए बहुत बुरा लगा। घर पहुँच कर यही चिन्ता कि फिर कैसे मां के दर्शन हों।

एक दिन घर पर एक कश्मीरी शौल बेचने वाला आया। मैंने शौलें देखीं तो एक नर्म सी सफेद रिंग-शौल मुझे अच्छी लगी—चुपचाप लेकर रख ली—यह तो जान ही गई थी कि मां श्वेत वस्त्र पहनती हैं। फिर भाई से कहना शुरू किया कि एक बार फिर मां के दर्शनों को चलें। हम सब लोग फिर एक बार मां के दर्शनों को रायपुर गए। भाई के ससुर भी उन दिनों वहाँ थे, वे भी एक वायल की सफेद साड़ी और फलादि लेकर साथ गए। मैं वह रिंग-शौल का पैकेट साथ लेती गई वहां पहुँच कर मां को वह शौल देने में लाज लगी तो दीदी को दे आई पर मन में यह गुप्त इच्छा थी कि मां को यह शौल ओढ़े हुए देखती। थोड़ी देर हम सब माताजी के पास बैठे। इतने में दीदी मां को दोपहर के भोग के लिए बुलाने आईं। मां जब दीदी के जाने लगीं तो मेरे मन में दुःख हुआ कि अब मां नहीं कितनी देर में आवेंगी। यह मैं जानती थी भाई कुछ घण्टे ही ठहरेंगे तथा उसमें से इतना मां के दर्शन बिना निकल जायगा। खैर, मां के आने की प्रतीक्षा करने लगी। कुछ ही मिनटों पश्चात् एक बहिन ने आकर मुझ से पूछा माताजी रही हैं, आप वहां चलना चाहती हैं। मुझे और चाहिये था साथ हो ली। मां के सम्मुख जाकर गई। मां का प्रसाद भी मिला। मां जब भोजन चुकीं तो मैं फिर उसी कमरे में लौट कर मां के आने प्रतीक्षा करने लगी। थोड़ी हीं देर में मां फिर आ तख्त पर विराज गईं तथा मुझे अपनी आंखों विश्वास नहीं हो रहा था—मां वही मेरी वाली रिंग-शौ ओढ़े हुए थीं। कितनी करुणा, मेरे आनन्द की नहीं रही। इस बार हम लोग करीब करीब शाम बैठे। शाम को मां ऊपर खुली छत पर टहलने लगीं मैंने मां के पास जाकर पूछा—यदि मैं चिट्ठी लिखूं उत्तर देंगी। मां ने कहा, पता लेकर रख लो दिमाग ठीक रहे तो जैसा हो जाय कुछ ऐसा ही मैंने स्वामीजी से पता ले लिया। मां जल्दी ही वहां जाने वाली थीं। इस बार मां को छोड़ कर जाते और भी दुःख हो रहा था कि पता नहीं फिर कब हों। शाम को जब घर के सब लोग चलने के उतरने लगे तो बहुत चेष्टा करने पर भी मैं आंसुओं रोक नहीं पा रही थी। अंधेरा होने के कारण देख नहीं सका। जब नीचे पहुँची तो देखा कि पीछे से मां की पहनी हुई एक सफेद धोती हम को लाकर प्रसाद रूप से दी—आश्चर्य यह कि सब के लोगों ने मुझ से ही उसे रख लेने के लिए कहा

कितनी खुशी हुई उसे पा कर। वह अब तक मेरे पास रखी है।

मां के दर्शन फिर देहरादून में उस बार और न हो सके पर तब से मां की चर्चा तथा फिर कब दर्शन होंगे यह चिन्ता शुरू हो गई।

(२) अल्मोड़े में मां के दर्शन

यह मां के पास जाने का दूसरा अवसर था। लगभग ३ वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त ऐसा संयोग हुआ कि हम लोग लम्बी छुट्टी लेकर नैनीताल गये। वहां सुना मां अल्मोड़े आई हुई हैं। मैंने पतिदेव से अनुरोधपूर्वक प्रार्थना की कि वह मुझे मां के पास २-३ दिन के लिए अल्मोड़ा ले चलें। मां की कृपा से उन्होंने स्वीकार कर लिया। मुझसे मां की बातें सुन कर उनको भी मां के दर्शनों की इच्छा हो गई थी। हम लोग बच्चों के नैनीताल ही रहने का प्रबन्ध करके 'बस' से अल्मोड़ा के लिए रवाना हुए। रास्ते भर मां का ध्यान तथा दर्शनों की उतावली रही। अल्मोड़ा पहुँच कर सामान एक होटल में रखा। (तब तक यह नहीं मालूम था कि आश्रम में जो लोग मां के पास आते हैं, उनके रहने की इतनी सुन्दर व्यवस्था है।) हम लोग रास्ता पूछते पूछते पातालदेवी आश्रम में मां के दर्शनों के लिए पहुँचे। मन की विचित्र दशा थी—विश्वास नहीं हो रहा था, जिनके दर्शनों की इतने दिन प्रतीक्षा की आज उनके चरणकमलों के दर्शन होंगे। दूर से मां को बाहर टहलते हुए देखा। वही करुणामयी दिव्य मूर्ति। पृथ्वी पर श्रद्धा से माथा टिक गया। मां भी मुझे बड़ी स्नेहभरी दृष्टि से देख रही थीं। थोड़ी देर मुख से शब्द नहीं निकला। फिर दीदी के लिए पूछा, कहां हैं? मां ने बताया अन्दर हैं। मां वहीं एक वृक्ष के नीचे बैठ गईं तथा कुछ बातें हुईं। जब मां और दीदी को यह पता चला कि हम लोग होटल में ठहरे हैं तो सामान आश्रम में ही लाने का आदेश हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल ही सामान ले कर हम लोग आश्रम में आ गए। हमें अलग एक कमरा मिला। यह मां के पास रहने का मेरा प्रथम अवसर तथा सौभाग्य था। प्रातःकाल तथा सायङ्काल बड़ा मधुर कीर्तन होता। (मां नाम का कीर्तन मैंने शायद प्रथमबार वहीं सुना)। शाम को श्री स्वामी परमानन्दजी भागवत पाठ करते थे। करीब करीब दिन भर मां के दर्शन होते। कितनी शान्ति थी। मां जब बालों का जूड़ा बीच शीश के ऊपर बांध लेतीं तो साक्षात् शिवजी लगतीं। एक दिन पतिदेव ने भी मुझे दिखाया कि देखो मां शिवजी लग रही हैं।

मैं तो जैसे दूसरी ही दुनियां में पहुँच गई थी। वह ३-४ दिन कितने आनन्द से कटे। एक दिन मां ने मुझ से कहा यदि मैं प्रातःकाल खूब जल्दी उठ सकूं तो रात में मां के कमरे में सो सकती हूँ। मन में सोचा क्या इतना बड़ा सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो सकता है—मां से कहा यदि रात भर भी जागना पड़े तो मैं तैयार हूँ। तब तक मैंने कल्पना भी न की थी कि मांके कमरे में सोने का सौभाग्य भी मुझे मिल सकता है। दीदी भी कितने स्नेह से हम लोगों की देखभाल करती थीं।

अन्त में नैनीताल लौटने का दिन आ ही गया। विदा होने के पूर्व मां के कमरे में गई। मां तख्त पर विराजमान थीं। मां की वह असीम करुणामयी मूर्ति अब भी आंखों के सामने है। रुलाई रोके नहीं रुकती

थी। गला रुंध रहा था। थोड़ी सी ही वात कर सकी। समय हो गया था पतिदेव ने चलने को कहा—चल दी। कुछ दूर पैदल चल कर 'वस' पकड़नी थी। उस रास्ते में थोड़ी थोड़ी दूर पर मोड़ थे। मैं चलते चलते पीछे मुड़ कर देखती जाती थी। जितनी देर तक आश्रम दिखाई देता रहा मैंने देखा दयासिन्धु मेरी मां वरावर ऊपर के वरामदे में खड़ी हुई मेरी ओर देख रही थीं। अल्मोड़े से लौट कर मेरे अन्दर वड़ी ही शान्ति सी रही तथा एक दो दिन तक तो ऐसा रहा कि कुली या नौकरों से भी आप कहकर बोलने की इच्छा होती थी। पर मुझ जैसी अयोग्य उस भाव अथवा शान्ति को अधिक दिन सम्हाल कर न रख सकी। मां के देने में तनिक भी कमी नहीं है। कमी है हम लोगों के लेने की या जो मिले उसे सम्हाल कर रख सकने की। मां तो मानों देने के लिए हर समय प्रस्तुत ही वैठी हैं।

(३) रायबरेली में दुर्गा-पूजा पर

इस वर्ष मां के एक भक्त ने रायवरेली में दुर्गा-पूजा का आयोजन किया। जव मैंने यह सुना कि दूर्गापूजा पर मां रायवरेली आ रही हैं तो मुझे वड़ी प्रसन्नता हुई, कारण कि मुझे भी शीघ्र ही वहां जाना था। मेरे भाई उन दिनों वहीं थे। उन्हीं के पास जाना था। कुछ कारणों से मुझे वहां पहुँचने में कुछ देर हो गई। मां के पहुँचने के कई दिन वाद पहुँची। खैर, वहां मां को पा कर मैं जैसे और सव भूल गई। यही दिल करता था मां के पास जितनी देर वैठ सकूँ उतना अच्छा। रात में भी प्रायः १२ वजे तक मां के तख्त के पास वैठी रहती। कितनी शान्ति मिलती।

दुर्गा-पूजा वड़े आनन्द के साथ सुन्दर रीति हुई। एक दिन वहुत स्त्रियां वैठी थीं। मां ए की गोद में जाकर वैठ गईं। मेरी भी इच्छा हु मां मेरी गोद में भी ऐसे वैठतीं। सहसा देखा अ र्यामिनी मां उठ कर मेरे पास आईं तथा सहसा गोद में वैठ गईं। मेरी तो सुध वुध ही खो ग इतने में दीदी उधर से निकलीं उन्होंने झुक कर मेरे क में कहा, "अव और क्या चाहिये।" वास्तव में दीदी कितनी सत्य वात कही। ऐसे ही आनन्द से स दिन वीत रहे थे।

एक दिन प्रातःकाल मैं मां के दर्शन को ग सुना कि कल रात को १ वजे सहसा मां एक भक्त यहां इलाहावाद चली गईं। अवश्य उन भक्त प्रेमभरी पुकार ने मां को वहां खींच लिया, परन्तु, ' चली गईं।' यह सहसा सुन कर जैसे मैं सन्न रह ग तथा ऐसा लगा कि अचेत होकर गिर पड़ूंगी पर इ में ही पता चला कि मां शीघ्र ही लौट आवेंगी तो पुनः चेतना लौट आई।

एक दिन मेरे भाई ने मां से भक्तों सहित पधा की प्रार्थना की। दोपहर को भोजन के पश्चात् मां विश्राम के लिये Tent लगा था। मां ने उसमें वि किया। वड़े आनन्द के साथ दुर्गापूजा समाप्त तथा मां सव सूना करके वहां से चल दीं। मां जाती हैं वहां मानो आनन्द का सागर उमड़ पड़ता इस प्रकार मां जहां जाती हैं वहां के लोग कृतार्थ जाते हैं। मां तो कभी कभी कहती हैं "मैं किसी यहां जाती नहीं—किसी से वात नहीं करती—किसी यहां खाती नहीं।" आदि। अर्थात् सव वही तो अथवा 'एकं ब्रह्म द्वितीय' नास्ति।'

(४) इलाहाबाद में माँ के दर्शन

एक बार मैं कुछ समय के लिए अपने बड़े भाई के पास इलहाबाद गई। वहाँ दीदी की चिट्ठी से मालूम हुआ कि माँ कुछ दिनों के लिए विन्ध्याचल जा रही हैं। अब मुझे यह धुन लगी कि किस प्रकार जा कर माँ का दर्शन करूँ। भतीजों से कहा ले चलो पर उन दिनों इलहाबाद में Tournaments हो रहे थे। भला वह क्यों उसे छोड़ कर मेरे साथ आश्रम जाने को राजी होते! एक दो दिन इसी में निकल गये। अब मुझे यह चिन्ता हुई कि माँ का प्रोग्राम तो अमुक तारीख तक ही विन्ध्याचल ठहरने का था, कहीं वहाँ से चल न दी हों। भतीजों ने भी कहा अब तक तो माँ वहाँ से चल दी होंगी। इसी चिन्ता में दिन में विश्राम करने लेटी तो आँख लग गई। स्वप्न में देखा, मैं आकाश में उड़ कर विन्ध्याचल गई हूँ एवं वहाँ पता चला कि माँ अभी तक विन्ध्याचल में ही हैं, (यद्यपि उस चिट्ठी के अनुसार तब तक माँ को वहाँ से चल देना चाहिये था) यह सपना देख कर उठी तो जैसे मुझे विश्वास हो गया कि माँ विन्ध्याचल ही हैं। माँ की कृपा से एक भतीजा भी टूर्नामेन्ट छोड़ कर एक दिन के लिए मेरे साथ चलने को राजी हो गया। खैर, दूसरे दिन प्रातःकाल की गाड़ी से मैं विन्ध्याचल के लिए रवाना हुई। जब ट्रेन विन्ध्याचल के स्टेशन पर धीमी होने लगी तो देखती क्या हूँ कि माँ प्लेटफार्म पर सामने खड़ी हैं। मैंने जल्दी से उतर कर माँ के चरणों में प्रणाम किया। मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं था एक तो माँ विन्ध्याचल में मिल गई दूसरे आश्रम तक पहुंचने के पहले ही ट्रेन रुकने से भी पहले दर्शन हो गए। स्नेहमयी माँ भी प्रसन्न हो कर ऐसा कुछ कहने लगीं कि स्वामी परमानन्दजी से बात हुई थी कि शायद स्टेशन पर मुझसे मुलाकात हो। पता चला माँ इसी गाड़ी से बनारस जा रही हैं। मैं भी प्रथम श्रेणी के डिब्बे में माँ के साथ बनारस तक जाने के लिए चढ़ गई, एक 'वर्थ' पर माँ का बिस्तर बिछा दिया गया था माँ लेट गई। दीदी ने कृपा करके मुझे भी उसी बर्थ पर माँ के श्री चरणों के पास बैठा दिया। माँ के युगल चरण कमल मेरी गोद में थे। कितनी कृपा! मुझे स्मरण नहीं मेरा भतीजा कहां बैठा? मैं जब इलाहाबाद से चली थी तो भतीजे से वादा कर चुकी थी कि मां के दर्शन करके एक दिन में ही लौट आऊँगी अब मन में यह हो रहा था कि बनारस में भी कम से कम कुछ समय मां के पास और रह सकती पर न जाने भतीजा मानेगा या नहीं फिर वादा भी कर चुकी थी। इसी उधेड़ बुन में बनारस आ गया। जब ट्रेन रुकी तो असीम करुणामयी अन्तर्यामिनी मां ने स्वयं मेरे भतीजे से उतरने के लिए कहा, वह भी मां की आज्ञा न टाल सका तथा उतर पड़ा। जब हम लोग आश्रम पहुँचे तो, मुझे भी मां के साथ देखकर, किसी बहिन ने कहा, "अच्छा इन्हीं के कारण माताजी विन्ध्याचल में रुकी थीं तथा बनारस एक दो दिन देर करके आईं।" मैं यह सुन कर तथा अपने ऊपर मां को इतनी दया देख कर विभोर हो उठी। मुँह से कुछ शब्द न निकला।

बड़े आनन्द से वह दिन बीता दूसरे दिन मैंने सोचा अब मेरा भतीजा चलने के लिए अनुरोध करेगा, पर आश्चर्य की बात है कि उसने स्वयं मुझसे कहा कि यदि मेरी इच्छा हो तो एक दिन और रुक जाऊँ। उस समय तक अवश्य ही टूर्नामेन्ट देखने की लगन शिथिल पड़ गई थी! मुझे यह भी देख कर आश्चर्य हुआ कि वह

किसी के सामने गाने में बहुत लजाता था (यद्यपि गा अच्छा लेता था) परन्तु उस दिन मां ने गाने के लिए कहा तो उसने इतने व्यक्तियों के उपस्थित होते हुए भी तुरन्त गा दिया! वह भतीजा अब मां की बातें बड़ी श्रद्धा से करता है।

दूसरे दिन अपरइन्डिया से इलहाबाद लौटने का निश्चय हुआ। दोपहर में २-३ बजे के बीच में शायद उसके छूटने का समय था। मां दोपहर को भोग के बाद अपने कमरे में विश्राम के लिए जाने लगीं, तो मैं द्वार के पास खड़ी थी, मुझे बड़ा दुःख हो रहा था कि अब मैं चलने के पहले शायद मां के फिर दर्शन न कर सकूँगी, कारण कि साधारणतः मां ४-५ बजे बाहर निकलतीं। जब मां कमरे में घुसने लगीं तो धीरे से मुझसे कहा, "जाने के पहले तुम मेरे कमरे में आ चा सामान आदि ठीक कर के जब स्टेशन जाने के मिनट (शायद २०-२५ मिनट) बाक़ी रह गये तो के अज्ञानुसार मां के कमरे में गई। मां तख्त लेटी थीं, पास बैठ गई। गला भर रहा था बात करती। असीम स्नेहमयी मां ने कुछ बातें की पता नहीं कब गाड़ी का समय हो गया —कितनी हो गई—वहाँ से जल्दी उठ न सकी। मां ने भी बैठा रहने दिया—एक बार भी नहीं कहा कि गाड़ी देर तो नहीं हो रही है। जब बाहर निकली तो भ ने कहा वह गाड़ी अब नहीं मिल सकती। मैंने चल कर देखो। स्टेशन पहुँची तो मालूम हुआ दिन अपर-इन्डिया ४-५ घण्टे 'लेट' थी!

मातृ-सत्सङ्ग

लेखक—श्रीरघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई)

इस वर्ष श्री श्री माँ का ६२ वाँ जन्मोत्सव अहमदाबाद में, परम पूजनीया श्री श्री माँ की परम पुनीत उपस्थिति में २ मई '५७ से १७ मई '५७ तक मनाया गया। माँ के परम भक्त श्रीकान्तिलाल मुँशा और श्रीमुकुन्दभाई ठाकुर, के प्रीतिपूर्ण आवाहन से अहमदाबाद में श्री श्री माँ का जन्मोत्सव, श्री माँ की पूर्ण कृपा से, सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। करीब करीब रोज रात को माँ के साथ सत्संग होता था, उस समय सारा सभामण्डप उत्सुक जिज्ञासुओं से पूर्ण रहता था। सब लोग एकाग्र दृष्टि से माँ की कथा सुनते थे। उस शुभावसर पर श्री श्री माँ के मुख से जो परम मधुर कथामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उसी को मैं यहाँ लिपिबद्ध करने की चेष्टा कर रहा हूँ। यथासम्भव श्री श्री माँ के मुख से निःसृत शब्दों को ज्यों के त्यों लिखने की मैंने कोशिश की है, परन्तु मैं यह दावा नहीं कर सकता कि श्री माँ के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द इसमें लिखा जा सका है। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह से लोग अपनी अपनी शक्ति के अनुसार गंगा जल ले आते हैं! उसी प्रकार श्री श्री माँ के कथामृतरूपी गंगा-प्रवाह में से अपनी अल्प शक्ति से जो कुछ भी मैं संग्रह कर सका हूँ वह लिख रहा हूँ। अतएव भूल चूक के लिए श्री श्री माँ के चरणों में क्षमायाचना करता हूँ।

३ मई १९५७

प्र०—मौन का अर्थ क्या है? मौन कैसे होता है?

माँ—मौन माने अमन हो जाना। अमन के माने हैं मन देने की जगह ही न रहे। मन से दुःख सुख का अनुभव होता है। मन से अतीत मनोतीत चला जाना मौन का अर्थ है। वाक् से सृष्टि हर वक्त होती है पर बात करना हो तो भगवान के विषय में बात करो इससे लाभ होगा। अगर दुनिया की बात करोगे तो भी फल मिलेगा, हर समय भगवान के बारे में बात होती नहीं है, मौन से कम से कम दुनिया की बातें बंद हो जायँगी और भगवान की बातों में लगने का यह एक तरीका है। वाणी का संयम करके मन को भगवान में लगाना चाहिए। चाहे ध्यान करो, चाहे जप करो मन को भगवान में रखने की कोशिश करो। अमन होने के लिए मौन है।

प्र०—अमन कैसे हो?

माँ—जैसे तुम कुँआ खोदने लगो, कुँआ खोदते-खोदते मिट्टी उठाते जाओ, कुँआ खोदते खोदते ऐसी स्थिति पर पहुँच गये कि पानी निकल आये तो कुँआ खोदने का फल हुआ पानी, वैसे ही मौन का फल है अमन होना, मन से सारी क्रियाएँ होती हैं, मन घूमता रहता है। मन का यह तरीका है कि जिससे शब्दों की सृष्टि नहीं होती। भगवान में मन लगाने के लिए वाक्संयम या वाणीसंयम आवश्यक है। मौन दो प्रकार का होता है एक गौ मौन और दूसरा काष्ठ मौन।

गौ मौन—जैसे गौ इशारे से अपनी आवश्यकता को समझा सकती है वैसे ही मनुष्य आपनी आवश्यकता इशारे द्वारा समझा सकता हैं।

काष्ठ गौन— जैसे काष्ठ, लकड़ी, कोई इशारा नहीं करती है वैसे ही मनुष्य कोई इशारा नहीं करता।

मां ने कहा—ऐसे अनन्त तरीके मौन के हैं। अपने अपने stage के अनुसार मौन होता रहता है। अपने को पाने के लिए अपने को वजाते हैं। यह तो छोटी वच्ची है, पिताजी कहकर बुलाती है। तुम पिता माता सखा सब कुछ हो अपने प्रकाश के लिए पूछना आता है। कृपामात्र फल देता है। वाणी के संयम से आध्यात्मिक पथ में चलना शुरू होता है। पढ़ना शुरू करो, पढ़ना माने साधन करो। ग्रन्थ में क्या लिखा है तुम जानो। पढ़कर मालूम होगा। प्रश्न दो व्यक्तियों में नहीं उठता है। एक तो जिसने पास कर लिया उसमें प्रश्न नहीं उठता, दूसरे जो मूर्ख हो उसमें कोई प्रश्न नहीं उठता। पढ़ने वाले को प्रश्न आता है। मौन का असल तत्त्व है अमन होना, जो भटकता रहता है उसको एकाग्र करके भगवान में लगाना। मौन सब कोई कर सकता है। हर एक सम्प्रदाय वाला कर सकता है, मौन अच्छा है। परिजन के साथ गुस्सा करे और वाणी बन्द करे यह मौन नहीं है। मौन से अपने को पाने का रास्ता खुल जाता है। क्रिया का स्वभाव है क्रमसृष्टि करना। जिस क्रम के करने से अतीत में जा सके वैसा ही परमार्थ क्रम करना चाहिए।

प्र०—मन को भगवान् में लगाना हर चीज़ में भगवान् ही है। (माँ ने रोक कर कहा)

माँ—चीज जहां रह गया वहां भगवान नहीं हैं। शिव रहे तो पत्थर नहीं है और अगर पत्थर है तो शिव नहीं हैं। गुरु रहें तो मनुष्य नहीं है मनुष्य रहे तो गुरु नहीं हैं।

प्र०—मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ?

माँ—एक आत्मा सत्यस्वरूप।

प्र०—तब सत्य प्रतीति में ही हूँ, वह क्यों होती ?

माँ—वह अहंकार है। अतः सत्य प्रतीति हैं, जहां भगवान ही एकमात्र है वहां कुछ प्रश्न रहता है।

प्र०—चीज़ शब्द रहा कहाँ ?

मां—जहां अहँकार का खेल है वहां, वहां मेरा और तेरा है। जहां सब भगवान है। वहां जो कुछ देखते हो वह भगवान ही है।

प्र०—तो क्या सब भगवान है ?

माँ—हां सब भगवान है। जैसा तुम वजाओं वैसा तुम सुनोगे। भगवान का एक ऐसा सुन्दर है जो कहो वह वही है। अवधूत पिताजी कहानी कहते हैं। एक स्त्री थी उनके गुरुने मंत्र दिया! जो भगवान का नाम दिया वह पूजनीय पति का नाम था। वह अपने पति नाम ले कैसे सकती थी ? इसलिए उसने करना शुरू किया "चम्पा के चाचा तव वस इससे भगवान बहुत खुश हुए, यह विश्व भगवान का ही विग्रह है।

प्र०—इसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

माँ—प्रतीति किसको हो, तत्त्वस्वरूप चाहिए।

प्र०—माँ तो वेदान्ती बन गई ?

मां—जो जैसा कह दे, वैसा कह देती है। पटांग बातें कह देती है।

प्र०—निर्विचार स्थिति भगवान को है ?

मां—एकमात्र भगवान ही हैं। जहां भगवान हैं वहां अस्थिति स्थिति की बात ही कैसी ? बस, वही एकमात्र हैं यह पक्की बात है।

प्र०—जीवभाव कैसे छूटे ?

मां—गुरु का उपदेश पालन करो, गुरु जैसा बतावें वैसा साधन करो और महात्माओं का सत्संग करना चाहिए।

प्र०—जप करने से और आहार का नियमन करने से बाहरी विकार मरता है लेकिन अन्दर का विकार छूटता नहीं है—क्या किया जाय ?

मां—अवधूतजी कहते हैं कि आहार शुद्ध करो तो मन भी शुद्ध होगा।

प्र०—दिन भर तो भगवान में मग्न रहते हैं मगर स्वप्न में विकार-प्रकाश हो जाता है।

मां—विकार जब तक निर्मल न हो जाय तब तक पवित्र भोजन, महात्माओं का सत्संग सद्-ग्रन्थों का पाठ, ध्यान, पूजा करने की कोशिश करो। जैसे कि जब तुम सोने जाओ तब तुम सोचो कि भगवान की गोद में सोने जा रहा हूं। ऐसा शुद्ध भाव रक्खो। क्रिया का परिपाक नहीं हुआ, इसलिए विकार आता है, उससे घबराना नहीं चाहिए। भगवान का स्वभाव है कि वह अपने भक्त का सारा मैल साफ कर देते हैं। जैसे गाय अपने बछड़े का सब मैल चाट लेती है वैसे ही भगवान अपने भक्त के मैल का भोजन कर लेते हैं। घबराओ नहीं, परमार्थ के रास्ते पर चलते रहो।

४ मई १९५७

प्र०—वाणी का संयम तो होता है मगर मन का संयम नहीं होता।

मां—एक बात है। मनका स्वभाव है मानना। एक चीज से मन सुखी होता है, एक चीज से मन दुःखी होता है। जैसे किसी के साथ परिचय नहीं है परिचय हो गया मन लग गया वैसे कहीं की लड़की और कहीं का लड़का, पति पत्नी बन जाते हैं और एक दूसरे के दुःख सुख के भागी हो जाते हैं। यह सब मन का ही खेल है (मां ने उदाहरण दिया)। दीदी के चाचा के लड़के की लड़की की जब शादी करने की बात हुई तो इस शरीर ने कहा कि शादी मत करो, क्योंकि विधवा होने का संयोग है। मगर उन्होंने नहीं माना और लड़की की शादी कर दी। सिर्फ १३ दिन का परिचय था। लड़की को टी० बी० की बिमारी हो गई। अवस्था मृत्यु के निकट सी हो गई। लड़के ने आत्महत्या कर ली। लड़की विधवा हो गई और लड़की भी शाम को मर गई। कहाँ का लड़का कहाँ की लड़की थोड़ा सा परिचय—यह सब मन ही का तो खेल है। मन का ऐसा ढंग है शरीर में आकर्षण होता है, जीव जीव में प्रेम नहीं होता है। जीव और शिव में असली प्रेम होने से अपने स्वरूप का असली प्रकाश हो जाता है। आत्मा ही तो रहा। आत्मज लड़के को कहते हैं, शिष्य को भी आत्मज कहते हैं। यह शरीर तो कहता है कि सदा ही मन का विचरण रहता है, वृक्ष के तल में बैठो यानो संत महात्माओं के चरणों में, जैसे वृक्ष के तल में बैठने से वृक्ष छाया देता है और शान्ति देता है, यहां तक कि अपने को फल के रूप में दे देता है। वैसे ही महात्माओं के श्रीचरणों में बैठने से महात्मा लोग शान्ति दे देते हैं और फिर अपना स्वरूप दे देते हैं। भगवान को जो कहो वही है। शरीर

का जो आकर्षण है वह जगत् दृष्टि से क्या देते हैं? मृत्यु देते हैं। मन को भगवान के चरणों में लगाने से मृत्युञ्जय हो जाता है। प्रेम अमृत मिल जाता है भगवान का चिन्मय विग्रह का प्रकाश हो जाता है। मृत्यु क्या है? मन का हो तो खेल है। तुम तो हर वक्त ही। मर रहे हो। बच्चे थे, युवा हुए, वृद्ध हुए, हर वक्त परमाणु का बदलना ही मृत्यु हैं। जब बच्चे थे तब दाँत नहीं थे फिर दाँत आये गिर गये फिर वृद्ध अवस्था में वेदान्ती बन गये। मतलब यह है कि संसार का सारा दुःख सुख मन का माना हुआ है। तुम मृत्यु के यात्री क्यों होते हो? अमृत पथ के यात्री बनो। जिसको जो लाइन अच्छी लगे उसी लाइन से चलो। चाहे भक्ति की लाइन अथवा अद्वैत की लाइन से "एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति" की लाइन से चलो। अपना गुरु जैसा बतलावे वैसा चलो। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिए साधना करो। अपना स्वरूप माने आत्मस्वरूप ज्ञान स्वरूप वह प्रकाश होगा। संसार में सब मानने से चलता है, जैसे जब महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद सेठ बिड़ला गांधी जी के स्थान पर ले गये उन्होंने सब दिखाया कि कैसे पहिले उनके ऊपर आक्रमण की कोशिश की गई थी। फिर कैसे उनको गोली लगी और वह जगह दिखलाई जहाँ "हे राम" लिखा हुआ था एवं यह बतलाया कि दो पार्टियाँ थीं। एक पार्टी को उनकी मृत्यु से दुःख हुआ। सुना है कि किसी किसी का मृत्यु की बात सुनने से हार्ट फेल हो गया। और दूसरी पार्टी को बहुत हर्ष हुआ। क्रिया एक है मगर उसके असर दो हुए। इसका कारण क्या है? बस मन के मानने का कारण है। किसी ने मित्र मान लिया किसी ने शत्रु मान लिया। इसी मन को भग में लगाओ तब तो मन अमन हो जायगा। कोई प्रश्न नहीं रहेगा। तब मन देने की अ जगह ही नहीं रहेगी। जैसा पिता, पुत्र, पति एक ही हैं वैसे ही भगवान के सब नाम और सब एक ही हैं फिर अनाम अरूप सब कुछ भगवान ही जब मन अमन हो जाता है तो अपना स्वरूप प्र हो जाता है।

प्र०—ईश्वरभक्ति में कभी कभी भगत को आ जाते हैं। कोई कहता है कि यह मन की निं है। क्या यह ठीक है?

माँ—दुनिया में लोग दुःख में रोते हैं, किसी यदि भगवान के लिए रोना आ जाय तो समझ चाहिये कि भाग्यवान है। अभी तक भगवान न मिल रहे हैं, इसलिए आँसू आते हैं, अच्छा है।

प्र०—मन की चंचलता सताती है क्या करें?

माँ—असली चंचलता अभी तक आई न भगवान् के लिए चंचलता आ जाय तो शां जाय। ख्याल करो कि जो भगवद्भजन में आ जाती है। मन के सामने जो चंचलता संकल्प उठते हैं, सोचना चाहिए कि भगवान दिखाते हैं कि हमारा मन कहां कहां बन्धन में हुआ है। इनमें से छूटे बिना भगवत्प्रकाश होगा। भगवान् के पास आना अच्छा है। से मुक्ति के लिए प्रार्थना करो। नित्य भ को लेकर बैठो। भगवान अपने प्राण के हैं। भगवान का पाना मानो अपने को और अपने को पाना मानो भगवान को पा खूब साधन में लग जाना चाहिए। भगव लिए सचमुच तड़पना आ जाय तो चंचल

जायगी। भगवत्प्राप्ति के लिए कोशिश करो। सच वात यह है कि भगवान को पुकारने का फल अवश्य मिलेगा। सारा विश्व जगत् गति माया है। जगत् माने जहाँ गति है वह जगत् और जो वन्धन में है वह जीव है। इसलिए जहाँ जीव और जगत् है वहाँ फल की प्राप्ति की आशा जरूर रहेगी। जो जो जीव जैसे जैसे कर्म करता है, भगवान वैसे वैसे फल जरूर देते हैं।

प्र०—निस्वार्थ सेवा करना क्या अच्छा है ?

माँ—निस्वार्थ सेवा अच्छी है।

५ मई १९५७

प्र०—भगवान के इतने जन्म या अवतार हो गये तब भी हम लोग इतने अज्ञानी कैसे रह गये ?

माँ—इतनी भागवत की कथा सुनाई तब भी तुम्हारा प्रश्न रह गया ?

प्र०—हम लोग नहीं समझे।

(सभा में से किसी ने कहा) आप ऊँचे से वात करती हैं।

माँ—तुम नीचा वजाकर सुनो। जैसा वजाओगे वैसा सुनोगे। अपनी ही वात सुनोगे।

प्र०—भगवान कृपा क्यों नहीं करते हैं ?

माँ—प्रार्थना करो, कभी न कभी लग ही जायगी।

प्र०—माताजी ! यदि एक आदमी को विच्छू काटता है तो विच्छू वाला १५ मिनट में मंत्रशक्ति से दर्द मिटा देता है। ३ घण्टे में विलकुल चंगा कर देता है। दूसरा रामनाम का जप करने वाला, कुछ मिटा नहीं सकता, कुछ कर नहीं सकता।

माँ—तुम राम राम जप करते हो और उससे वह न मिटे यह वात नहीं है।

प्र०—विच्छू उतारने वाला अपने मंत्र का वर्ष में एक दिन तीन घंटा जप करता है, मगर साल भर राम के नाम का जप करने वाला कुछ मिटा नहीं सकता, कुछ कर नहीं सकता सो क्यों ?

माँ—एक वात है। महात्मा लोग कहते हैं कि फल की तरफ मत देखो। राम का जप करो। और फल की तरफ देखो यह ठीक नहीं है। राम दुःख न मिटायें वह ,हो नहीं सकता। जो सिर्फ विच्छू का काटना ही मिटा सकता है, और कुछ नहीं मिटा सकता। सर्प काटे तो मिटा नहीं सकता। सर्प का मंत्र भी है, मंत्र तंत्र भगवान के वीच में रक्खा है। शिव, विष्णु के अलग अलग मंत्र हैं। जो ऋषि मुनियों के मंत्र रक्खे हैं उनमें सच्ची शक्ति है। जैसे मैं तुमको पिताजी कह कर पुकारूँगी और तुम 'हाँ' कह कर उत्तर दोगे। गुस्से के साथ पुकारने से तुम दूसरी तरह से जवाव दोगे। मंत्र-जप से संसार के त्रिताप की ज्वालाएँ शांत हो जाती हैं। जैसे सर्प का विष मंत्र-जंत्र से मिट जाता है वैसे ही असली जहर रूपी जगत् की गति को वन्द करना भगवान के नाम से हो जाता है। मरते समय राम कहने से मृत्युञ्जय हो जाता है। राम राम करते रहो। फल की तरफ मत देखो। सच वात यह है कि फलप्राप्ति यदि चाहते हो तो फिर अमृत नहीं चाहते। जैसा कर्म करोगे वैसा ही फल मिलेगा। जितना राम नाम कर रहे हो उतना फल जरूर जमा हो रहा है। जहाँ फल की चाह हो वहाँ क्रिया करे और फल न मिले यह हो नहीं सकता। भगवान कौन हैं ? भगवान यंत्री हैं, वह चला रहे हैं। 'मैं' कहने की शक्ति कहाँ से आई ? तुम राम राम करो जितना

राम राम करोगे उतनी ही तड़पन बढ़ जायगी। साधक कहता है मैं मर रहा हूं। राम माने आराम—आत्माराम तुमको मरने नहीं देगा। इस भगवान के लिए तुम्हारी तड़पन और बढ़ जायगी। भगवान तड़पना बढ़ा देते हैं इससे मलिन वासनाएँ नाश हो जायँगी राम नाम को मत छोड़ो, हा राम! आराम!

९ मई १९५७

प्र०—मन्दिर में मूर्ति को देखते हैं मगर इसमें भगवान के दर्शन नहीं होते हैं।

माँ—मैंने देख लिया मगर भगवान ने मुझको नहीं देखा ऐसा नहीं है। कोई एक अन्धा आदमी बद्रीनारायण जा रहा था। लोगों ने पूछा तुम अन्धे हो इतना कष्ट करके बद्रीनारायण क्यों जाते हो? क्या देखोगे? उसने कहा, "मैं तो नहीं देखूँगा मगर भगवान तो देखेंगे।" यदि असली दर्शन हो जायँ तो कोई प्रश्न नहीं रहेगा। यत्र जीवस्तत्र शिवः। भगवान जब तक हैं 'मैं' भी तब तक है। भगवान स्वयंप्रकाश हैं पिताजी, तुम कब थे नहीं! यह कह दिया; अज्ञान से कहा, किताब में पढ़ी सुनी बात कह दी। क्या प्रत्यक्ष अनुभव है तुमको?

प्र०—नहीं, शास्त्र से सुना।

माँ—यह शरीर कहता है तुम भगवान के पास हर हमेशा हो। आत्मदृष्टि से एक ही आत्मा है। सेवक रूप से भी तुम्हीं हो ऐसा ज्ञान ज्ञानवान पुरुष को होता है। कब मैं था नहीं। हरवक्त उनके पास हूं। अव्यक्त रूप से भगवान प्रकट होते हैं। जैसा गुरु उपदेश दें वैसा भगवान को पाने की कोशिश करो। आंसू आते हैं कि अभी तक भगवान नहीं मिले। ऐसी तीव्र व्याकुलता से भगवान प्र होते हैं विरह रह जाता है। पहले भगवान मिलन होता है फिर विरह फिर मिलन। भग के प्रकाशित होने से नव नव रूप के दर्शन होते हैं कथा-प्रसंग में माँ ने कहा, "पिता-माता से लड़ लड़के होते हैं। यह शरीर तो कहता है तुम ही तो खुद पुत्र रूप में होते हो। पिता, पति, तुम एक ही में हो। स्त्री पुरुषों के बीच में सब कु ही है। अपने पुत्र लड़की पत्नी अपने ही में सब पाओगे। सब माता पिता हैं। सब बालमुकुन्द हैं। (मुकुन्द भाई की तरफ दृष्टि करके) सच है तुम्हीं हो सब रूप में। भगवान को पाना म अपने को पाना। चुन चुन कर भगवान अर्जुन को सारा विश्वरूप दिखाया। अर्जुन डर लग गया। अपने को पाते तो अर्जुन भय नहीं लगता। पहले तो भगवान के द नहीं कर पाया, जब भगवान ने दिव्य दृष्टि तो दर्शन कर पाया। भगवान ने दिखाया कि में सब कुछ है, स्थिति रूप में, गति रू उससे अतीत रूप में, खुद हैं। पिताजी ने ब था कि पुत्ररूप में तुम्हीं हो। इसलिए पुत्र आत्मज कहा जाता है। इस शरीर को जब पूछता है "तुम्हारे कितने माता पिता हैं?" शरीर कहता है कि "एक पिता है फिर अनन्त हैं। एक माता हैं और अनन्त माताएँ हैं। कौन किसकी माता और पिता?" माता पिता की तो फिर है ही नहीं। हे भगवान, सब तुम्हारे रूप है। अपने को पाने की कोशिश करो अपने हैं इसका पता लगाओ। साधन माने स्वधन अपना धन पाने की कोशिश करो, यह

भगवान का ही खेल है, भगवान अन्तर्यामी रूप में सबको चलाते हैं। भगवान ने तुमको शक्ति दी है, शक्ति को भगवान को पाने और भगवत्प्राप्ति में लगाओ। तुम अपने खेल कूद में समय विता रहे हो, तुमको यह भाव किसने दिया। (मुकुन्द भाई की तरफ देखकर) तुमने भागवत पाठ कराया और स्वयं भगवान ने तुमसे यह वात प्रकट कराई। असली तड़पना अभी आया नहीं, नहीं तो जरूर प्रकाश हो जाता। भगवत्प्रकाश होने में १ सैकिन्ड मुहूर्त्त भी नहीं लगता है। भागवत से शुरूआत हुई, ठीक अन्तःकरण से तड़पन नहीं आई।

७ मई १९५७

प्र०—असली आनन्द कैसा है ?

माँ—जैसे कोई मीठा खाता हो और अगर दूसरे कोई पूछें कि मीठा कैसा है वह नहीं समझा सकता, या किसी ने सुन्दर फूल देखा हो, कोई फूल की सुन्दरता पूछे कि कैसो है, तो वह भाषा द्वारा अपना पूरा अनुभव नहीं समझा सकता, वैसे ही असली आनन्द कैसा है यह समझाया नहीं जा सकता है। अनुभव से ही पता चलता है।

प्र०—आज हरि वावा ने गुरु के चरणरज की महत्ता वताई तो इसमें गुरु की क्या महत्ता है।

माँ—जैसा तुम वजाओगे वैसा सुनोगे। इस शरीर ने एक कहानी सुनी थी। वंगला देश में वंशपरम्परा—गुरु—कुलगुरु—की प्रथा है। एक गुरुदेव थे। उनके वहुत शिष्य थे। गुरुदेव ज्यादा पढ़े लिखे न थे। उनकी पत्नी भी थी, वे दोनों वहुत गरीव अवस्था में रहते थे। एक दिन पत्नी ने डांटकर उनसे कहा, "आपके घर आने पर न तो अच्छा खाना कपड़ा मिला न ज़ेवर ही मिला, वड़ा दुख है।" इससे उनको वड़ा दुःख हुआ। अपने पास वाले गांव के शिष्य के पास चले गये। वीच में नदी पड़ती थी। नदी में कम पानी था, नदी पार करके थोड़ा थोड़ा सुवह धूप आते ही शिष्य के घर पहुँच गये। शिष्य ने कहा कि हमारा वड़ा सौभाग्य है कि गुरुदेव ने सुवह ही सुवह दर्शन दिये। उसने अपनी पत्नी से कहा कि "गुरुदेव रसोई वनायेंगे। तुम उनका सव सामान ठीक ठाक कर दो। यह कह कर वह शिष्य गांव के वाजार में और सामान लेने चला गया। वह धनी था। शिष्य को पत्नी के सारे अंगों पर सोने के ज़ेवरात सजे हुए थे। यह देखकर गुरु की नियत विगड़ गई और उन्होंने एक वड़ा पत्थर लाकर ऐसे स्थान पर मारा कि वेचारी स्त्री वहीं पर मर गई। गुरुदेव ने वे सव ज़ेवर उतार लिये तथा उनको अपने अँगोछे में वांधकर चलने लगे कि सामने नदी के पार से आता हुआ शिष्य मिला। शिष्य ने गुरु को देखते ही साष्टांग प्रणाम किया और कहा कि "गुरुदेव मुझे प्रसाद दिये विना आप जा नहीं सकते, कृपा करके आप घर पधारिये।" गुरुदेव ने जाने के लिए आना-कानी की। उनके भीतर डर था कि कहीं शिष्य को उनकी करतूत का पता न लग जाय। मगर शिष्य के वहुत आग्रह करने से उनको जाना पड़ा। शिष्य ने देखा कि गुरुदेव के हाथ में एक पोटली है, जिसमें कुछ वँधा हुआ है, तो शिष्य ने कहा कि "पोटली आप मुझको दे दें मैं लेकर चलूँगा आप क्यों तकलीफ करते हैं?" गुरुदेव देने के लिए झिझक रहे थे लेकिन चूँकि शिष्य के दिल में कोई शंका नहीं थी उसने वह पोटली गुरुदेव से लेकर अपने सिर पर रख ली। घर पहुँचने पर उसने

अपनी स्त्री को पुकारा। उसने देखा कि उसकी स्त्री पड़ी हुई है और उसके शरीर में प्राण नहीं हैं। चूंकि शिष्य में दृढ़ विश्वास और श्रद्धा भक्ति थी, इसलिए उसने सोचा कि अगर अपनी स्त्री के सोच में लगूंगा तो गुरुदेव की सेवा से वंचित हो जाऊँगा इसलिए स्त्री की तरफ ध्यान नहीं दिया। पहले तो गुरुदेव को भोजन कराया, प्रसाद लिया। गुरुदेव के मन का हाल तो मन ही जाने। गुरुदेव का मन तो जेवर की पोटली पर ही था। लेकिन शिष्य ने गुरुदेव के चरणकमल के पानी—चरणामृत—का पान किया और इस चरणामृत को अपनी लेटी हुई स्त्री पर छिड़का और कहा, "गुरुदेव की कृपा से अच्छी हो जाओ।" शिष्य की इस अगाध श्रद्धा और गुरुभक्ति से स्त्री बैठ कर खड़ी हो गई। पति पत्नी ने गुरुदेव को प्रणाम किया। शिष्य ने जव अपनी स्त्री के अंगो में ज़ेवरात नहीं देखे तो परवाह नहीं की। गुरुदेव अपनी पोटली लेकर घर चले गये। गुरुजी ने घर जाकर अपनी पत्नी को ज़ेवर दे दिये। दूसरे दिन गांव में काना फूसी होने लगी कि घर तो इतना गरीब है पर जेवर कहां से आये, अन्त में सच वात खुल गयी। मगर शिष्य की भक्ति ने उनको वचा लिया। शिष्य को सारा हाल सुनने पर विश्वास नहीं हुआ, वह गुरुभक्ति पर अटल रहा।

प्र०—इससे गुरु की क्या महत्ता है? इससे तो शिष्य की भक्ति की महत्ता है। गुरु की क्या आवश्यकता है?

माँ—तुम्हारे शास्त्र में क्या रक्खा है तुम जानो। तुमने शास्त्री पास कर लिया। वी० ए० पास किया। क्या गुरु के विना ही किया? प्रश्न तुम कर सकते थे कि गुरु ज्ञानी नहीं थे। शिष्य की भक्ति से हुआ। लेकिन इस तरीके की वात भी लाओ कि यह गुरुशक्ति से हुआ। वह वंशपरम्परागत कुलगुरुओं से जो शक्ति आ रही है वह शक्ति ही गुरु ने शिष्य को दी थी। गुरु करने के बाद तुमको भक्ति आई। जैसे द्विजों का गोत्र होता है। किस गोत्र से तुम उत्पन्न हो, किस ऋषि की सन्तान हो यह पता चलता है। उन ऋषियों की मंत्रशक्ति बीजरूप से तुममें रहती जैसे छोटे से वृक्ष के बीज में अनन्त वृक्ष रहते हैं वैसे ही मंत्र में भी अनन्त शक्ति निहित सब शक्ति भगवान के नाम में लगाओ। नाम नामी अभिन्न हैं। नाम स्वयं भगवान् है, अक्षर—जो क्षर नहीं होता है—वह शब्द ब्रह्म फिर भगवान ही शब्द अतीत ब्रह्म हैं वही हैं। भगवान के नाम में इतनी शक्ति है कि एक नाम लेने से इतने पापों का क्षय कर देते हैं, पाप मनुष्य कर नहीं पाता है। अग्नि में और में दाहिका शक्ति एक ही है। इससे भक्ति श्रद्धा है। गुरु शक्तिपात शिष्य में करते हैं। तुम्हारी वंशपरम्परा क्रिया कर आई दीक्षा लेते ही शक्ति का जागरण होता है। शक्तिपात न सके ऐसा गुरु हो तो लेकिन पूर्व गुरुशक्ति तो ही रही। दीक्षा होने से सब का जागरण जाता है। तुम लोग जो पढ़ते हो वह तो करी विद्या है, अविद्या है, ब्रह्मविद्या के विना का नाश नहीं हो सकता।

प्र०—श्रद्धा Stage by stage होती है। में कम किसी में ज्यादा क्यों?

माँ—हर एक रूप में तुम्हीं हो। बच्चे के तुम्हीं तो प्रकाशित हो। आम के वृक्ष में आम हैं। कटहल के वृक्षमें कटहल आता है। वृक्ष का क्रम है वहां सारा अनन्त किसम मौजूद शिर वृक्ष का मूल है जैसे तुम लोग गीता में "उर्ध्वमूलमध शाख" भगवान में अनन्त अनन्त प्रकाश, अनन्त शक्ति सब कुछ है। एक माँ की पाँच सन्तान हैं। जिस वच्चे जरूरत होती है मां देती है। वारह साल के भात देती है तथा एक साल के वच्चे को दूध है। जिस बच्चे को जैसी आवश्यकता वैसा ही उसको माँ देती है। जैसे क्रम से हैं पढ़ते पढ़ते विद्वान् होते हैं, वैसे अक्रम से सकते हैं। वहां क्रम अक्रम सब कुछ संभव है।

एक डाक्टर के कुछ अनुभव

(१)

लगभग सन् १९३० की घटना है। एक सम्पन्न व्यक्ति के घर में हमको रक्तपरीक्षा के लिए जाना पड़ा। एक नव विवाहिता युवती बीमार थी। स्त्री-धर्म बन्द हो गया था। लोगों का ख्याल हुआ कि बच्चा होने वाला है। बहुत कमजोर हो गई थी। घर के डाक्टर का यह निदान हुआ कि रक्ताल्पता ही बीमारी की जड़ है। रक्त लेने का उपचार करते ही खण्ड युद्ध शुरू हो गया। माता ने दो लात खाईं, पिता जी को दो मुक्के लगे और घर के डाक्टर साहब का चश्मा टूटते टूटते बचा। जो बोली निकल रही थी उसे सुनकर तो दुर्वासा मुनि भी सर झुका लेते। इतना क्रोध बहुत कम देखने में आता है। आध घण्टे के लड़ाई-झगड़े के बाद रक्त लेना सम्भव हुआ। घर के डाक्टर साहब के विशेष अनुरोध पर बिटिया के साधारण स्वास्थ्य की भी परीक्षा करनी पड़ी। बाहर आकर चलते हुए डाक्टर साहब से हमने इशारा किया कि हमें कुछ तपेदिक का संदेह होता है। उन दिनों काशी में आज के इतना एक्स-रे का प्रसार नहीं था। एक्स-रे का प्रबन्ध करते करते भी एक सप्ताह बीत गया। जब एक्स-रे की फोटो आई तब बीमारी की जड़ का पता चला। तपेदिक के बारूद में आग लगी हुई थी। उन दिनों तपेदिक की कोई दवा या इलाज मालूम नहीं था। आराम से पड़े रहो, शान्त रहो, कड़ुवी दवा पीओ, मछली का तेल पीओ और कैलशियम की सुई लो। क्रोध-मूर्ति के लिए यह व्यवस्था सम्भव नहीं थी। कड़ुवी दवा के दो तीन गिलास फूट चुके थे। मछली के तेल की शीशी नाली में बह गई और सुई देने के नाम से ही घर के डाक्टर भाग खड़े हुए। पिता-माता के अश्रु सजल नेत्र से बाध्य होकर सुई देने की अपनी परीक्षा के लिए राजी होना पड़ा। कैलशियम की सुई रक्त की नाली के अन्दर देने की विधि है। सप्ताह में तीन रोज सुई देने का निश्चय किया गया। पांच मिनिट का काम एक घण्टे में भी बड़ी मुश्किल से हो पाता था और २-४ झटके और सुभाषित बचन तो ऊपर से मिलते ही थे। सब चेष्टा व्यर्थ होती थी। बिटिया दिन पर दिन मृत्यु के द्वार की ओर जाने लगी। रोज झूठ बोलना पड़ता था, "तुम अच्छी हो रही हो।", "बीमारी घट रही है।" "बच्चा गोद में आते ही सब कष्ट भूल जाओगी।" और न मालूम कितना झूठ बोलकर प्रबोध देना पड़ता था। जानते हुए भी कोई उपाय नहीं था।

कुछ दिनों के बाद उनके पति देवता बाहर से छुट्टी लेकर आए और अपनी ही जिम्मेदारी पर एक दूसरे डाक्टर को बुला लाए। क्या बातचीत हुई मुझे तो मालूम न था, जब मैं पहुँचा तो कमरे के अन्दर घुसते ही बिटिया क्रोध से फुफकार उठी "तुम इतने दिन से झूठ बोलते रहे। हमें तपेदिक हो गया है, और हम बचेंगे नहीं।" इतना बोलते ही फूट फूट कर रोने लगी।

यमराज का दलाल होते हुए भी मुझे आंख के

आँसू रोकने कठिन मालूम पड़े। तब भी बेहया तो होना ही पड़ता है।

बिटिया, किसने तुमसे यह सब बेकार की बातें कही हैं।"

"क्यों, फलाने डाक्टर साहब आये थे, बाबूजी से बात कर रहे थे तो मैंने सब सुन लिया।—तब भी तुम्हारा झूठ भी अच्छा लगता था।"

"नहीं बिटिया, तुम तो अच्छी हो रही हो।"

"देखो डाक्टर, तुमने झूठ कहा तो मरने के बाद तुम्हारी गर्दन नोच लूंगी।"

उस दिन से एक सप्ताह के अन्दर बिटिया शरीर छोड़कर चली गई।

* * *

दस बरस बाद मेरी गर्दन में कारबंकल हुआ। पांच स्थानों पर पांचों उँगली के आकार का चीरा लगाना पड़ा। जिसका निशान आज तक बहन कर रहा हूँ और शरीर छोड़ने तक बहन करना पड़ेगा।

काकतालीयवत्!

(२)

३० बरस पहले की घटना है। मेरे एक मित्र की स्त्री बहुत दिनों से बीमार थी। मित्र से मालूम हुआ राजयक्ष्मा है। सम्पन्न घर था, चिकित्सा के लिए कुछ उठा नहीं रखा। उनका घर भर परेशान मालूम होता था—घर की लक्ष्मी थी ऐसे सास ससुर पूर्व जन्म के बहुत पुण्य से ही मिलते हैं।

पति की उम्र ही क्या थी? नौजवान, तीन छोटे छोटे बच्चे। पति तो सब काम छोड़ कर पत्नी सेवा में ही दिन भर लगे रहते। दोनों का प्रेम अनुपम स्वर्गीय दृश्य था। बहुत समझाने भी पति ने घर छोड़ कर चिकित्सा के लिए बाहर जाना मंजूर नहीं किया। सब तरह की होते हुए भी बीमारी का रुख नहीं पलटा। दिन दिन छोटी माँ जी की हालत गिरती ही गई।

एक रोज जब मैं पहुँचा, तो देखा कि मृत्यु शुरू हो गई। कुछ करते नहीं बना। चुपचाप सोचता रहा।

एकाएक छोटी माँ जी ने श्वास की गिरती हालत में मुझसे कहा "बाबूजी, मैं तो चल छोटे छोटे तीन बच्चे हैं। मैं कुंजी किसको दे जाऊं

उनके पति मेरे पास खड़े थे, बोल उठे "तुम ही कुंजी दे जाना। इतमीनान रखो, मैं इसकी करूँगा।"

परदा गिर गया।

° ° °

तब से २५ बरस बीत गये, छोटी मां जी की उनके पति ने अपने पास यत्न और श्रद्धा से उसका अपमान नहीं किया।

उच्च शिक्षित, धनवान, स्वस्थ, २५ वर्ष से खो कर ब्रह्मचर्य पालन करने में क्या कठिनता, और प्रेम की गम्भीरता चाहिए यह तो केवल से ही जाना जा सकता है।

दोनों को मेरा स-श्रद्ध प्रणाम।

ĀNANDA VĀRTĀ

Vol. V] August 1957 [No. 2

The One who is Eternal, the Atman,
He Himself is the traveller on the path of Immortality,
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

(Replies to letters from different people at different times.)

102.

Abandon yourself to God in all matters without exception. 'May He do as He pleases with me, who am but a creature of His hands'—this should be your attitude of mind. It is personal desire that is the very cause of suffering. Why make yourself feel dejected by the anxiety that you will be dependant on others ? Is it you who have created your body ? The One to whom you belong is free to deal with your body according to His Will : therefore may He do as He choses. Try your utmost to stand aside and watch patiently as a spectator. When the mind is at ease one speedily recovers from ill-health. In this ever revolving world which is upheld by Him who causes it to revolve, a certain calamity has occurred, what is to be done ? No matter what has happened, may His Will prevail—live in this spirit. In your present condition constantly think of Him alone.

103.

Light is gained by His Grace alone. He is the One to be held in remembrance at all times. There is nothing else that you need feel concerned about, father : contemplate only Him and Him alone.

104.

It is characteristic of human life that it cannot continuously be either full of happiness or full of misery. Just as good fortune has not been lasting, do you imagine this evil luck will never end ? For the present try to gird yourself with patience and fortitude and wend your way in complete trust in God. It is the will of the Almighty that prevails. Be intent under all circumstances to let the thought of Him be your constant companion.

105.

While caught in the wheel of action and its results man is subject adversities and hardships such as you mention. It is his duty to perf works that will aid him towards his Goal... Providence does not excuse from the consequences of one's deeds. Your parents were religious-mind Having left everything in the best order they have now gone from this wor In this time of affliction seek refuge in God alone.

106.

The lute of man's short life is strung with so many strings: th have to be cut asunder. There is no real substance to these many strings. is futile to let one's thoughts be occupied with the ties by which one is bou Why behave like a fool and return again and again to this world of illusio When someone understands deep down in his innermost heart that nobo is his own, why then should he bear so much pain and suffering ? Howeve being under the spell of delusion, it is not always possible to attain to deep understanding. But in certain cases even bitter medicine or injectio administered forcibly restore people to health.

107.

Everything in contained is everything. Where perfect Truth is, question of illusion cannot even arise. Illusion is illusion and nothing el HE assumes numberless shapes, it is He who appeared to you in that particul way, for in all forms is He indeed. Meditate on him alone. He is pure Spi (*adhyatmic*)—nothing really exists but the Spirit : viewed from this an everything is true.

108.

If one prays to God with heart and soul the prayer will be fulfille for He is the Fountain of Goodness and does what is most beneficient. H can the ordinary person possibly be endowed with the extraordinary po of understanding that would enable him to grasp the working of God's beneficial Law ? 'May His will be done !' This should be one's attitude life at all times.

109.

If you want to become a householder and take up family life you have to pass through all kinds of experiences. Let your mind be centred God, then only is there a prospect of complete peace.

In order to acquire the only qualification that really matters one has to contemplate the Divine. Never cease to strive after the Knowledge which will free you from all snares and ties of this world as well as from the necessity to gain any other knowledge.

110.

Many feel the urge to create a new and better world. Rather than let your thoughts dwell on such matters you should concentrate on that by the contemplation of which there is hope of perfect peace. It is man's duty to become a seeker after God or Truth.

111.

Everything in the universe is God's creation and happens according to His divine Dispensation; everything and everyone is His own. In the realm of cause and effect (*Karma*) things manifest as best suited to particular conditions. It is incumbent on man under all circumstances to rely on God and to sustain the remembrance of Him.

112.

Solely by turning to God is there any hope for man to gain peace. The world is as you have just experienced; it is futile to look for peace there. When one lacks sincerity and straightness of character and is moreover unable to grasp the actual purport of religion, this kind of disturbed state of mind, where one finds it impossible to elevate oneself by any means or device, may occur quite frequently. It is imperative to depend on God, no matter what one's condition may be. Pray to Him.

113.

Even right in the midst of troubles and vexations one has to rely on God, practise japa and meditation and aspire to grow spiritually. By enjoying the pleasures and comforts of material life nobody has yet attained to the realization of God. To contemplate the One and to enthrone Him in your heart will bring you peace—therefore cultivate the remembrance of Him. So long as He does not reveal Himself in a way that will dissolve all obstacles and obstructions, until then strive to live ever in the Presence of God.

MATAJI'S AMARA VANI

(21)*

HE alone is—so there is no question of accepting or rejecting existenc Did HE ever come into being that there could be a possibility of accepting rejecting existence ? HE was never born. According to the angle fr which you view it, it is true that this world does not exist, that Truth found by eliminating name and form ; on the other hand name and form a made up of the '*akshara*', of that which is indestructible. Yet in essen THAT is Truth. Illusion and the destroying of illusion are both HE. B then again there is no question of clearing up illusion for there is only H the One Source of all. With HIM as one's goal the illusion of the illus has to be uprooted. Talk of this kind is all just by way of helping one understand.

The study of scriptures and similar texts—provided it does not beco an aim in itself—can be an aid towards the grasping of truth. So long what has been read has not become one's own experience, that is to say not been assimilated into one's own being, it has not fulfilled its purpo A seed that is merely held in the hand cannot germinate : it must deve into a plant and bear fruit in order to reveal its full possibilities. Nev theless in the state where one can neither speak of revelation nor of conce ment, there, what appears and becomes is also ever present. On a cert level there is a stage where one sees glimpses, sparks, as it were, of Real One cannot understand what one perceives, yet it is of Reality ; for t reason one is bewildered. There are indeed states and stages without numb although Fire is wholly one—but how can there possibly be wholeness in various glimpses and sparks that one gets ? It is THAT alone whic whole, all-inclusive.

What is wanted is genuine Awakening, an awakening after wh nothing remains to be attained. The perception of the world of natu quite a different matter—although a state does exist in which there ca no question of difference.

---

* The Bengali original appeared in Ananda Varta, Vol. V, No. 1, P. 3.

Whatever is being done belongs to the realm of death, of ceaseless change. Nothing can be excluded : In the shape of death art Thou, in the form of desire art Thou, Thou art motion as well as stability, distinction and non-distinction—for Thou art infinite, without end.

Thou it is who roamest in the disguise of nature. From whatever standpoint an assertion may be made, I never object to it. For HE is all in all, HE alone is—the ONE with form and without form. Your divine essence cannot be revealed while you are in your present condition. When a roof is being built the law is that whatever materials are hammered into it shall remain there. No matter how much time it may require, the roof must be made solid. Likewise–(no simile is ever complete, therefore take only as much of it as is applicable)– in whatever line of work you are an expert, you identify yourself with it, thinking it is your real nature. So far so good, but where in this is the whole of yourself, your divine being ? Thus you should reflect : What is it that has to be attained ? You will have to become conscious of your Self in its entirety. Nay, to become fully conscious is not enough, you will have to rise beyond consciousness and unconsciousness. THAT which IS has to shine forth. You will have to go on reflecting and make a sustained effort to convince yourself of the fact that *japa*, meditation and all other spiritual exercises have for purpose your Awakening. On this pilgrimage one must never relax but keep on exerting oneself. One should try at all times to remain engrossed in this kind of endeavour—it has to be woven into one's very being, one has to become of a piece with one's Self. It is Thou that criest out helplessly in distress and it is Thou that art abroad in success ; in order that this may be revealed to you, you must use your discrimination and intelligence vigorously and unceasingly.

A tree has to be watered at its roots : man's roots are situated in his head, where his reasoning power, his intellect is constantly at work. One has to progress towards one's goal through *japa*, meditation, the perusal of scriptures and similar practices. Expressed differently one should fix one's thinking and bind oneself in this direction. Whatever ties, bondage or restraints one imposes upon oneself should have for aim the supreme Goal of life. With untrammelled energy one must forge ahead towards the discovery of one's own self.

Whether you take the path of devotion where the 'I' is lost in the 'Thou' or whether you take the path of Self-inquiry, of the search for the true 'I' – it is HE alone who is found in either case, in the 'Thou' as we as in the 'I'.

Why should there be vision on the way ? In the guise of vision is H and in the guise of 'why' is also HE. Whatever is revealed or conceal anywhere in any way is 'Thou', is 'I'. Negation as well as confirmation ar equally 'Thou'—the ONE. You will be able to grasp this fully only whe you find everything within yourself, in other words in the state where there i NOTHING BUT THE SELF. This is why one speaks of vision on the path. Whe you see limitation, even this very limitation is a manifestation of the Limitles the Infinite. Its essential substance is none other than you yourself. S long as this fact has not been revealed, how can one speak of full realization—complete, perfect, all comprehensive—call it what you will. Then again ho can in such a state of fulfilment the question still arise of perfection o imperfection, of completeness or incompleteness ?

THE UNFORGETTABLE 'HOLI' DAY

By

N. Chowdhuri

Twenty-sixth of March 1937. I remember the date very distinctly. On this day I first saw the Mother. It was the day of *Holi* or *Dola-purnima*. I was then residing in New Delhi. A few days back I had only heard a little about the Mother from an elderly devout lady, who used to visit my wife occasionally. Our topic was on saintly persons. I complained that up till then all saintly persons I had come across fell short of my expectation and failed to command my unstinted admiration and spontaneous devotion. This lady said that she had seen a really holy lady at Simla a few months back, known as *Anandamayi Ma*, and if I saw her I was sure to appreciate and adore her. She further said that the Mother was expected in New Delhi very shortly. I implored the lady that she must not fail to inform me as soon as the Mother came to New Delhi. The previous evening (25th March) I got a message from her that the Mother had just arrived in New Delhi and was staying at 13 Irwin Road.

On the 26th at about 7-30 A. M., accompanied by my wife Juthica, I left my house to walk up to 13 Irwin Road. A friend (Shri Sudhir Gupta), who had previously seen the Mother at Simla, joined us on the way. It took us hardly twenty minutes to reach our destination.

I saw the Mother seated on a carpet inside a tent pitched in the open space in front of 13 Irwin Road, a Government bungalow, occupied by Shri Panchanan Mukherjee, an old devotee of the Mother. She was clad in all white. Her face was beaming with a divine glow. I was dazed at the sight. I at once felt in the core of my heart that she was the one I had been yearning to meet for years,-nay for births without end. For two or three hours (I cannot really say for how long), I sat glued to a corner of the tent intently gazing at the Mother. I had never seen any person even remotely approaching her,-she was so graceful, so captivating, so enchanting. She was quietly sitting with her body swaying gently in rhythmic undulations to the tune of the *namakirtana* (singing of God's name in chorus) that was going on in her presence. All the time I sat, I was enraptured not so much by the music as by the abounding effulgence of the Mother's countenance. I was in a dreamland, as it were far from the humdrum material world. I was under a spell.

My spell was broken only when the Mother got up and walked outside the inner compound of Shri Mukherjee's house evidently to give *darshan* to the ladies of the house and other ladies (including my wife), who were waiting eagerly to meet her. The male visitors were now loitering about outside the Mother's tent. My mind was full of the Mother. I was rather deeply absorbed in ruminating what I had seen. My heart yearned to see her again and be in her presence for as long as I could possibly be.

About this time, my friend (Shri Sudhir Gupta) met me and put to me the straight question, 'How did you find the Mother'? My reply came offhand. I have verily seen Ram Krishna Paramahamsa Deva in her, said I; "I have often prayed to him, saying, Lord, you came into this world and went away, but unlucky wretch that I am, I could not see you' that grievance of mine is removed today".

After a while, the Mother, now my Divine Mother,—came back to the front of the house and was walking back into her tent. In those days anybody could touch her feet in salutation. Some gentlemen bowed down to her. Then came my tur my first golden chance of falling her feet. She was approaching me. H garment was covered with a prof ion of coloured powder which ladi had thrown on her in observance *Holi*, and as a mark of love and respe When she was quite close to me, I hea for the first time the charming mu of words falling from her lips. 'Ba said she," 'may I put (coloured powd on your body ?' I was unable speak in reply or even to nod head by way of assent. And she didn wait for it. She rubbed a colour part of her garment on my left fo arm, and in doing so, her rig forearm momentarily touched my l forearm. I was thrilled. Like automaton I fell at her feet. And I did so, I spontaneously mutter within myself, 'O Mother,' I pray to her, Why colour my external bo alone? Be generous enough to col me both externally and internal I rose up and followed the Mot inside the tent. I sat there until was time for Mother to take her lun Accompanied by Juthica, I retur home in a light, cheerful, meditat mood. I felt like a person who suddenly found a rich treasure t was his and which he had long and was eagerly looking about for.

During this particular visit Mother lived in the same tent for days. That tent and the entire premises of 13 Irwin Road became a place of pilgrimage to many of the Mother's old and new devotees including myself, Juthica and our elder daughter Chhabi, then a girl of fourteen. I left my teaching work entirely in the hands of my assistants and passed as many hours of the day and night in the Mother's charming presence as I could. I would get to the place early in the morning, return home for an hour or two for a hurried lunch and rest, again go there in the afternoon return home for a short half hour at dusk to look after our children and offer evening bhog to our household deity and finally go back to Mother to return home, sometimes close upon midnight and sometimes in the small hours of the morning, only when we were asked to quit to allow Mother to have her short nightly rest, which would be only for three to four hours in those days. Like myself, Juthica, Chhabi and many others used to enjoy Mother's charming and blissful company as long as they could. But what for ? The answer to this question will remain a baffling enigma and a matter for . speculative thinking for all time to come.

While walking to or back from this our place of pilgrimage and in other intervals, I would hum within myself two lines of a Bengali song, which was in effect a prayer, and which I would thus put in English, 'Make me mad, make me mad altogether, O Mother Anandamayi, give me the wine of thy love, that I may sing and dance in joy.'

During these days, I noticed that the Mother went out every evening for a drive in a motor car. One evening I felt a strong desire to go out for a drive in her company. As soon as she came out of the gate to board the car waiting on the street, I approached her and submitted, 'Mother, I want to go with you in the car today'. 'Of course you will go, if there is room', she replied instantly. Coming near the car, which was already full, she ordered some of the occupants to get down, saying, 'You go with me every day, today these other persons will go with me'. On the back seat of the car I sat in the middle. The Mother took her seat on my right. A German visitor (I cannot recall his name) sat on my left. As there was no more room, my daughter sat on my lap, while Shri Jatis Guha of Calcutta squeezed himself into the narrow space on the floor in front of Mother's feet. We had a very long drive.

The German visitor utilised me as an interpreter and put three questions to Mother, His first question was, 'Will the measures adopted by Mr. Gandhi prove beneficial to India ?' I was presumptuous. I told him that the Mother would not reply to political questions. The Mother evidently understood our conversation, which was in English. 'What is his query', she inquired, 'and what reply did you give ?' I told her everything. 'Why did you reply like that ?', she complained. I was amazed to find (and this experience was later confirmed through other incidents) that no problem on earth could be outside the range of her all-pervading knowledge. 'Tell him' she continued, 'whatever Gandhiji is doing, he is doing as willed by God, and must prove beneficial'. 'What is the Mother's message ?' was the second question of this inquisitive German. The Mother's reply was, 'The message from this body (meaning herself) is not the same for all'. His last query was 'What is her message for me ?' 'Wait and you will know' was Mother's reply. This gentlemen accompanied Mother to Bareilly and other places.

With the Mother, the car took us into the compound of the bungalow on Queen Victoria Road, in which Rai Bahadur Debendra Nath Chatterjee was residing. On a grassy lawn in the spacious front compound of the bungalow was spread a carpet on which the Mother and a part of her small retinue were seated. Around the lawn a rich harvest of bright marigold appeared to rejoice in full bloom at the arrival of the welcome guest. The golden rays of the setting sun were still lingering on tree-tops. The hostess, Toru Didi (Mrs. Chatterjee), brought several varieties of (sweets with which she wanted to treat Mother, sweets which she had prepared with her own hands. A seemingly untoward little incident, which ended well after all,/happened as Toru Didi was about to feed the Mother with some *sandesh* (a well-known Bengali sweet). Mother refused to open her mouth and turned her head. Toru Didi again tried to put the morsel of *sandesh* into her mouth, but she now turned her head the other way. Thus Mother dodged Toru Didi a number of times, and all her efforts to feed the Mother proved abortive. Naturally, the hostess was afraid that some dire evil would befall her; otherwise, why should the Mother, who was always full of glee, be so cross as not to accept the sweet from her hand. She was thoroughly unnerved. I could notice drops of perspiration on her forehead. At length, Mother opened her lips and said, 'Is this how you feed a small child ? Put one hand on the head, and the mouth will open' as if she was talking of some child other than herself. Toru Didi caught the hint. She at once put the palm of her left hand on the back of Mother's head (as a mother does actually in endearment when feeding a small child). The Mother's mouth opened, as if she was a mechanical doll, operated by a lever. To her relief and joy the hostess now fed the Mother with her right hand with sweets. Finally, *prasad* was distributed among all present and accompanying Mother, we all returned to her tent at 13 Irwin Road.

Everyday we had *nama-kirtana* by the local devotees in the presence of the Mother. One afternoon a special *nama-kirtana* was held by the ladies of New Delhi at the Sikh *Gurdwara*. Another evening we had *nama-kirtana* in the central hall of the Hindu Mahasabha building on Reading Road. I had the impression that nothing propitiated the Mother more than *nama-kirtana*. It did not matter what the name was, provided it was sung with devotion.

On the lst April 1937, the day when the Mother was to leave New Delhi, Juthica and I, by previous appointment, saw Mother privately in the morning, in her inner apartment in the tent. Juthica had prepared sweets for the Mother and had also brougnt a full set of wearing apparel for *her* including a pair of leather sandals. It was Mother's practice in those days to make a gift of the clothings she was wearing to any devotee who presented new ones for her use. The devotees would reverentially accept these gifts of the Mother, and use some of them during prayer or worship or preserve them as valuable mementos. As Juthica helped Mother to change her clothings, she made a present of her cloth to Juthica. I was eagerly wishing to have Mother's vest, but I felt shy and could not speak out. Presently, however, I was amazed to hear her say, 'This vest I give to *Baba*,' meaning myself. Thus I got a tangible proof of the fact that the Mother always knows about our earnest prayers, however mute, and grants them provided it did not hamper our spiritual growth. This experience was confirmed later on a number of occasions.

Dressing done, Juthica started feeding Mother with the sweets she had brought. I was silently watching. But very soon I felt an irresistible urge to feed her myself. 'Mother', said I, with hesitancy, 'may I too feed you ?' She gave permission. I felt myself blessed. The previous evening's experience of Toru Didi flashed in my mind. I approached prayerfully and sat right in front of the Mother. I placed the palm of my left hand at the back of Mother's head. My body thrilled with joy and emotion as I put a small morsel of sweet into her mouth. I was so much overwhelmed that I could not feed her any more. 'You feed on', I hurriedly said to

Juthica and withdrew. Juthica completed the feeding.

At this our first private interview with Mother, both Juthica and I put one question to the Mother, seeking a solution of the grave problem that in the midst of all the joy we had in the Mother's company, was growing graver every day, and tormenting us. I must take the reader more into confidence to explain the problem.

As I visited Mother for hours together during these days, she stole into my heart and soon started displacing from its seat the image of *Bala Gopala* (child Krishna) that I enshrined there and worshipped. Naturally I felt restive as every devotee must feel during a change of an old *Ishta* (one's favourite form of God), to whom he had been devotedly attached for years. Strangely enough, the same revolutionary experience came upon Juthica as well. She too was feeling miserable, as her old *Ishta* was struggling to linger on the threshold of her heart.

I broached the problem. 'Mother' said I, 'since we first saw you, whenever we sit down before our image and close our eyes to meditate your face comes into our mind and so much fills it that we are unable to meditate on our *Bala Gopala*. We feel extremely uneasy over it. Does it pretend any evil for us?' The Mother at once replied, '*Baba*, don't worry; all th happens is for the best, a all is by Bala Gopal's Grace.' I felt relieved.

Before Mother's departure fro New Delhi on this occasion, a Juthica's request, I called in a phot grapher to have a portrait of th Mother in a special pose. Juthica dec rated Mother as *Bala Gopala* Her lon hair was made up into a tuft on th crest of her head. A wreath of mar gold was curled round the tuft. He forehead and cheeks were speckled wit *chandan* (paste of sandal-wood). Garl ands of flower were put round he neck. She was made to sit half knee ing after the manner of *Gopala* wit her left knee placed on the carpet an right knee up. She was thus phot graphed. A print of the photograp was framed and kept at our house b the side of the image of *Gopala*. Juthic has since then been worshipping b the images, and I have been prayi and meditating before this portrait Mother/almost daily to this day.

During those days we would n miss any opportunity of falling Mother's feet in salutation. Many us could sense the delicate aroma lotus in her feet. Indeed all garments and even her leather sand gave off the same aroma. I do n know—I have now for years not h the good luck of falling at her feet, am unable to say, if that sweet scent is still in her feet, or if I can still sense it.

On lst April 1937, the Mother was to depart from Delhi Junction station by a train bound for Aligarh and due to leave at about 10 P. M. A large crowd of devotees collected on the platform to see her off. Juthica, Chhabi and I came too. To put off the inevitable hour of separation from the Mother, we three planned to accompany Mother up to Ghaziabad (11 miles from Delhi). We were to return from Ghaziabad by a train which would leave Ghaziabad about ten minutes after the arrival of the train by which we were to travel with Mother. But as this train was late in leaving Delhi by about twenty minutes, the train by which we were to return from Ghaziabad had left Ghaziabad before our arrival. As there was no other train by which we could return from Ghaziabad at that hour, we decided to accompany Mother up Aligarh (84 miles from Delhi).

In the train, before Mother stretched herself for a map, I put to her a question, which I later thought was too silly. 'Mother', I asked, 'if when free from duty, I go to you, wherever you are, will you be offended ?' With her characteristic frankness she replied, '*Baba*, what sort of anomalous question are you putting ? You call me mother and yet talk of my offence' ! I relished the intimacy and affection couched in that sweet rebuke. I felt that she was not only the very mother that I had lost and bitterly wept over when I was in my teens, and then twenty six years ago, but she was also the Universal Mother that had brought me into being with all motherly love and care during innumerable past births and through unknown eternity.

After Mother stretched herself, for over two hours, we were entertained by Gurupriya Didi (Mother's chief devotee and personal attendant) with interesting events in Mother's life which we heard with keen avidity.

We got down at Aligarh close upon 1 A. M. on 2nd April. For about a short half hour Mother and her party waited on the platform.

At length the inevitable hour of our physical separation from Mother, which we had succeeded in warding off for a few hours did arrive. Mother and party boarded a train bound for Bareilly. As the train moved, Mother was looking on us with a sweet smile on her face. Suddenly she addressed Gurupriya Devi in haste and said, '*Khukuni, Khukuni*, (that was the nickname by which Mother used to call Gurupriya Didi), give them a blanket of mine'. Hurriedly Didi took a blanket from off Mother's bedding and threw it out at me. I caught the precious gift in the air. The train steamed off, snatching from our sight the Mother, the sovereign of the dream-land in which we had then lived for six momentous days and nights. But the memory of her sweet smiling face, aglow with divine beauty and grace, so clearly persisted in our hearts, that we felt that she was inseparable from us and went with us wherever w were.

Since then I have met Mother man times and passed many days in th blissful company. But the first imp ession I had on that unforgettab Holi day of 1937 has only deepen with time and through clos association.

THE UNIVERSALITY OF CONSCIOUSNESS

By

Lama Anagarika Govinda,

Acharya, Arya Maitreya Mandala.

The fact that consciousness exists in the world proves beyond doubt that the universe possesses conciousness as a fundamental faculty, either latent or active, but always present. And the fact that consciousness becomes more intense and more far reaching in the higher forms of life, indicates that there must be much greater possibilities of conscious life than ours.

The possibility of what may be termed 'cosmic consciousness' cannot be denied, and in fact, it is easier to conceive of such a super-conscious state than to imagine the greater part of the universe to be unconscious.

When man began to realize the nature of energy by the discoveries of magnetism and electricity, etc. etc., the great problem was, how the existence of matter could be justified. Matter began to be a greater mystery than ever before; and, intuitively, thinkers arrived at the conclusion that matter was perhaps only a latent state of energy. Recent discoveries justified these ideas.

Similarly the idea of cosmic consciousness leads to the problem how non-conscious states, or states of imperfect consciousness are possible in a universe which is endowed with the faculty of consciousness-or, as the Vijnanavadins would say, in a consciousness which is endowed with the faculty of evolving a universe.

This problem, certainly, can never be answered objectively or scientifically. But from the experience within the little sphere of our own consciousness we may find indications pointing towards a certain direction in which the truth may lie.

Thus, it seems, that consciousness has the tendency to expand continuously and to penetrate everything, and that simultaneously, the farther conciousness moves towards the periphery (this term is not to indicate any spatial limitation but merely the opposite principle of centralization) the greater is the tendency of coagulation.

In the case of an individual centre of consciousness this coagulation takes the form of thoughts, feelings, ideas, which—all the more so as they are persistent in their recurrence—belong to the periphery of consciousness and which finally build up the physical body.

But the centre of consciousness, which builds and conditions the individual form, is perhaps itself a peripheric coagulation in a much bigger process of consciousness - expansion in which we take part as long as we meet no serious resistance.

Materialisation is the one end of this process, cosmic consciousness the other. Matter, on the other hand, has a tendency to resolve itself again into dynamic or biological forms.

Consciousness—in common with other forms of energy—is intensified by the resistance created by various states of coagulation. It needs resistance to experience itself (to be conscious of itself), just as the coagulated forms need the re-vitalizing influence of active energies.

Does not the idea of Buddhas and Bodhisattvas as realisations of cosmic consciousness, which after having crystallized out of this world, on their part again emanate helping forces which throw themselves back into the Samsara (state of coagulation) by virtue of their compassion (Karuna), and who thus redeem continually the world and fulfil their own nature which consists in radiating love and co mpassion ?

This may be the highest form consciousness which is conscio of its own universality and boundle relationship. Karuna and maitri, their cosmic significance, are the di solving, liquifying counter-forces coagulation and egohood.

Just as the sun "descends" in matter (which formerly was part that same sun) by way of its ray arousing the latent forces of the s and rising again in the manifold for of organic life, which it has redeem from inertia and stagnation,—so t highest form of consciousness sen out rays of love and compassion a acts as a revitalizer, without losi its centre or becoming coagulated itself, which could only happen the centripetal force of ego-illusi were predominant.

And as the rays of the sun do n crystallise into material forms their own accord, but only awak and stimulate, and to some ext join, the latent forces of organic li thus *maitri* and *karuna* can only act in operation with the individual for of the samsaric world. These forces their higher states of development, of progressive liquification may ev tually again contribute to the cen of energy (consciousness) which help in their revitalisation.

The question may arise, how different centres of consciousness influence each other, in other words, how they are related to each other.

Let us imagine each conscious being in the form of an infinite plane, which is intersected by innumeral equally infinite planes. The mutual relations of these planes are represented by their lines of intersection, which denote the common elements of the planes meeting in those lines. In so far as each plane penetrates all the others, each being is potentially present in the other. Otherwise there could be no mutual influence of communication.

This relative presence of each being within the other (without, however, being identical with it, for which reason we call this presence 'relative') makes the idea of transmigration superfluous and explains how it is possible that a being "disappears here and reappers there" in the event of death and rebirth, without moving in space and time, without 'wandering' from one place to another.

The "I" is only a point of relationship, a centre of relations. Each point of the infinite plane can become such a relative centre. The bodily form is only a process of crystallisation, in which the individual consciousness materializes and creates a formal basis according to its nature. Just as crystals "precipitate" or form themselves, as soon as there are favourable conditions and the necessary impulse, in the same way consciousness coagulates into a material form, which serves as a basis of action for those forces which have remained mobile.

The starting point for such a basis is that germ which has the greatest affinity with the "being" or plane of consciousness in question, and which by its material qualities or hereditary conditions offers the "least resistance" and therefore the best chances of expression.

Just as a drop of water always follows the inclination of the ground and comes to rest at its deepest point, in the same way the "inclination" of a being's plane of consciousness determines the new centre if the old one has to be given up on account of the disintegration of the material basis in the event of death.

The survival of the mind, or better, the continuity of consciousness (santana) seems, from a biological point of view, to be the very precondition of all consciousness, which otherwise would have neither a meaning nor a justification for its existence. Whatever logical reasons we may find for the survival of the mind, the mere fact of "being conscious of oneself" means a thousand times more. Because all the reasons which our mind invents to prove the reality of our existence,, are only a by-product of this very existence and are therefore not in a position to play the role of an impartial judge or an unprejudiced observer who looks on from the outside.

Thus we can only rely on our direct experience, and if we have lost this on account of our intellectualisation, our habitual or conventional forms of thinking, then we must try to regain it by means of meditation. Meditation in this case, however, does not mean pondering over deep problems; but consist in the profound absorption and resting within oneself, in which state discursive thought or ratiocination, *Savitarka*, is replaced by synthetic vision or intuitive insight and knowledge. "Without imagining, without deliberating, without analysing, without, 'meditating' without introspecting; keeping the mind in its natural state", as Tilopa, the great master of yoga, puts it. It is a state of inner readiness, of spiritual receptivity, which has nothing to do with intellectual coercion, mental programmes and intentions, in short, it has nothing to do with all that is willed and planned.

The experience of reality is in itself far more important than the faculty to remember former existences, because these remembrances are generally very limited, and thus the problem is only shifted or postponed but not solved; for, as death and rebirth take place within ourselves at every moment, each act of remembrance might be called a remembrance of former existences.

The objection that these existences are connected by one and the same body, and that therefore the memory is merely a material process, can be easily refuted by the fact that in the course of about seven years all particles of our body have been replaced by others, and that thus the memory is a partial effect or a secondary function of that conscious force which, according to our nature (character, etc.) gives the relative constant shape to the unceasingly changing material particles of our body.

If, however, the consciousness possesses such a body-building, constructive, matter-transforming faculty, in that case there is no reason to limit this process temporalily or causally or materially. On the contrary, causation rather indicates or points towards an infinite past and towards an infinite future. Thus the problem would not be, how to ensure continuity, but rather how cessation would be possible or even thinkable.

How far consciousness is bound to the body or not, can be found out by practical observations and psychological experiments. From these it can be seen that, though consciousness depends on material centres or organs, it is nevertheless not identical with them, i. e., its limits are not the same as those of the respective organs. Recent researches, based on purely scientific method (like those conducted by Dr. Rhine), have proved beyond doubt the telepathic faculties of consciousness, and have shown that they really occupy a much wider space than is generally suppossed and that they are not at all the privilege of a few exceptional individuals. This is borne out by the fact that in Tibet, where many of the distributing factors of modern life are eliminated from human consciousness, telepathic phenomena are not unusual, and there even exist various techniques by which they can be produced, cultivated, and utilized.

All these facts show that *consciousness is not limited in space*. And this coincides with the fact that *consciousness is neither limited in time*, since it is not bound to the present moment, but extends into the past as well as into the future. The latter phenomenon has been conclusively investigated by another prominent scientist, Dr. Dunne, author of "An experiment with Time" and "The Serial Universe".

Whether this temporal and spatial non-limitation of consciousness is identical with infinity or not. cannot be decided theoretically. We can only say that infinity is a potential quality of consciousness. For our problem it is sufficient to establish the fundamental fact that our human consciouness does not coincide with the spatial and temporal boundaries of the body, and that therefore there is nothing to prevent the continuity of conciousness through out any number of reincarnations.

The transition from one existence to the next, may be described as a dislocation or shifting of the relative centre of consciousness. As, however, each individual consciousness always penetrates and takes part in innumerable other planes of consciousness, responding to them and influencing them in return,—there is neither the necessity of a "soul-transmigration" nor of a "search after a new womb" in the moment of physical death; but within the plane which our consciousness has occupied all the time, another point becomes its centre of gravitation, according to natural affinity and the law of least resistance.

The "disappearing here and the reappearing there" is thus not connected with any spatial movement or "wandering" and can therefore neither be associated with time. The consciousness of human being might be compared to a big Banyan tree, possessing innumerable air-roots. The main trunk represents the self-consciousness of man, in which he is conscious of himself as an individual. The, innumerable air-roots represent the relations of his consciousness (which radiate in all directions) towards other beings or potential centres of life. The main trunk ages, and when it finally decays, the next-biggest air root automatically becomes the main trunk and the centre ("1") of the tree. Thus the centre has shifted, and yet nothing has moved.

Naturally, every theoretical explanation and every simile lags far behind the facts of reality. But by approaching our problems from as many sides as possible, while being fully aware of our conceptual limitations, we shall remain alive to the experience of reality within us which is the key not only to the riddles of the universe but to our final liberation.

Sri Mata Anandamayi and The Spiritual Problem of the Age

By

Professor Madan Gopal, M. A. (Alld.), D. Litt. (Oxon).

(II.)

It has been my good fortune to come into contact with two Personalities in whom I have glimpsed the spritual perfection that I have tried to describe in discussing the qualities and influence of a true 'Guru'. I have also met a number of minor 'sages' and fairly advanced 'yogis' in whom too this real *knowledge* is to be found within certain limitations. The first and most outstanding personality of this kind, within my experience, was that of *Shri Raman Maharshi* the well-known sage of Arunachala(Tiruvannamalai in South India) with whom I was in close contact for about six years, until he left the body in April 1950. The next personality that I contacted, with whom my experience has been similar and comparable, is Shri Anandamayi Mata whom I first met only recently in November 1951*, but who has already created a deep and ineffaceable impression upon me. As it is for her that this article is being written. I shall now confine myself to what I have perceived of her and through her.

I had been hearing about her from various sources even during the Maharshi's life-time and had formed an idea of seeing her at some convenient opportunity, but at that time I felt no urgency about it. From the descriptions I had heard I was inclined to think that she would be a person of the '*bhakta*' (devotional and emotional) type, and I was not sure that she would understand a person of my temperament. After the Maharshi's death I made several attempts to contact her, but unsuccessfully, as she was always moving about; and did not, to my knowledge, visit any place where I could easily see her. In April 1951, when I visited Benares, I was taken by an old friend (now a great and sincere devotee of Mataji's to her *ashrama* on the Ganges, where I senssed a little more of her influence ; this increased my desire to contact her personally, all the more as all my friends in Benares were unanimous in their admiration of her. I tried to contact her near Rishikesh where she was reported to be staying at that time, but just missed her by a day. After that I made no other attempt to meet her till November, when I heard that she was staying in Benares. Coming down to the plains from my usual residence in the hills, I reached Benares on the 13th of November, and was taken to Mataji's *Ashrama* by the friend aforementioned on the evening of the 14th. I found a big and unfamiliar crowd, and sat down in a corner of the open terrace to wait for whatever might develop. Ultimately, as it was getting dark, Mataji came out and began pacing up and down on the terrace—her usual evening-exercise. Various people came and bowed to her and touched her feet; and ultimately, I was taken to her by my attentive friend and briefly introduced. I bowed deeply and Mataji simply said in Bengali : "later". So I again sat down and waited, until *Kirtan* (devotional singing) was started in the hall below. Along with others I also went there, and was sitting at some distance but within view of Mataji who came and sat down near a pillar. The *Kirtan* went on, and later she joined in herself, singing in her sweet and well-modulated voice—very simple but thrilling. I felt the *Kirtan* coming to life, as it were, when she began to sing ; and the memory of it still lingers with me. Gradually I fell into a stage of 'contemplation', and I suppose she must have noticed this; anyhow, I made no effort to attract her attention. I suppose my friend must have told Mataji that I was seeking a private interview wit her, but so far I had not spoken any word to Mataji myself. I had heard that she was not very well and di not wish to give her any special trouble. After about an hour of th *Kirtan*, a friend with whom I ha arranged to go back to Rajghat (whe I was staying) came and suggeste that it was time to leave. So I bowe to her from where I was sitting an went out. Before I had reached th gate of the *Ashrama*, a messeng came and told me that Mataji woul see me the next day at nine in th morning, provided I arrived punctually. My friend and guide in the *Ashrama* also came up and said triumphantly. "See now, Mataji only plays at not knowing people; in reality she knows every one who comes to her. Be punctual to-morrow."

---

* This article was written originally in March 52, but could not for certain reasons be utilised at that time.

Next day, i. e. 15th November, I made ready early, and inspite of the distance reached the *Ashrama* in very good time. Soon after Mataji came out of her room and sat in a tiny pergola that is situated in front of it, and I was invited into her presence. Bowing to her I sat down, and for a time she remained silent and apparently in meditation: I also meditated. Then she opened her eyes, and with a very sweet smile asked whether I had just come to see her or wished to ask something. I told her briefly about myself and my reasons for consulting her that I wished to find someone with whom I could regularly spend a few months in the year in order to help me in my *Sadhana* (spiritual discipline) which I had obtained from the Maharshi, and whether she could recommend me to someone who might be useful in this direction. She said she found it difficult to think of anyone who would be quite suitable; and as for herself—well, she had no fixed abode and no regular programme. Then she began asking me about details of my *Sadhana* and my experiences; and then suddenly, as if an idea had struck her, said : "look, I am making a proposition to you. Why don't you go and stay in the *Ashrama* at Vindhyachal, and do *Sadhana* there for some time. Arrangements could be made for you." I eagerly accepted her offer, and she said she would ask *Didi* (a Bengali *Sannyasi* lady who serves as her secretary) to give me a letter. Then she gave me a little further advice with regard to my *Sadhana* and dismissed me after introducing me to *Didi*. The latter said I could have the letter in a day or two, and as I was in no particular hurry I did not press her.

After this, having programmed for a week's stay in Benares, I continued my residence at Rajghat and was coming to the *Ashrama* every evening for about 2½ hours. I made no further attempt to speak to Mataji, knowing how busy she was and also in poor health, but occasionally she herself noticed me and asked me if I had got the letter and made preparations for going to Vindhyachal. I used to go near her room, if possible, and meditate; and nearly every time I found that I could achieve excellent meditation, inspite of the din and noise and the constant movements of the visitors. Anyhow it used to be dark, and that was helpful, and no one questioned my presence. Then I left for Allahabad from where I had to make my arrangements to go to Vindhyachal. Thus it was on the 27th of November 12 days after meeting Mataji, that I found myself in that small town between Allahabad and Benares.

Arriving in the afternoon, I was taken to *Bhajanalaya,* a well-constructed bungalow near the *Ashrama* proper, which I learnt later had been built by a rich Calcutta merchant as a residence for himself in his old age; and now the house has apparently been placed at the disposal of Mataji for use, but not donated to her. So when I arrived I found a Bengali gentleman and his son already established in the room intended for me, and I was surprised to learn that these people had not even heard of Mataji—much less come there cn her behalf—and later on it was with me that they went to see her. Anyhow since another room was available I was put to no inconvenience, and the whole of my stay at Vindhyachal was perfectly comfortable. Both the *Ashrama* and this bungalow are situated on the 'plateau' an eminence about 160 feet above the road-level and situated just above the tiny village of Shivapur. From above there are charming views of the river (the Ganges) which at this place takes a broad curve, and the surrounding country for many miles, whilst Vindhyachal proper and even Mirzapur are visible in the distance.

Next day about 11 in the morning I learnt that Mataji herself had arrived at Vindhyachal and was staying in the *Ashrama.* When I left Banaras the possibility of her visiting Vindhyachal had been mentioned, but it was not a certainty; anyhow her arrival and stay there made my residence in that place much more memorable for me than it might have proved to be otherwise. When I went to see her in the evening she was in her little room upstairs and there were already a few people sitting around her. She made kind enquiries about me, and I told her that I was comfortably lodged; as she appeared to be tired I soon came away. By this time I had got settled down, and during the next 12 days whilst Mataji remained at Vindhyachal I had a very good opportunity of seeing her every day and was able to have several talks with her. In this place there were very few visitors, and usually I found myself one of a group of eight to te persons only. I soon found out the times when she was free to recei devotees, and normally went only at those times. But a few times managed to see her nearly alone, a

I utilised these opportunities for discussing my *Sadhana* and experiences with her. When there were only a few people present, and no talk was going on, I often meditated with excellent results. My usual test with any 'teacher' or 'yogi' is to try and meditate in his (or her) presence; and from the ease and depth of the results I am inclined to judge as to whether the personality before me is capable of inspiring me. This (test) was *always* triumphantly successful with Mataji, and I became convinced of her spiritual powers and attainments as firmly as I was in the case of my own *Guru*, the Maharshi. Some times when people began asking questions I listened to her exposition, and learnt to admire the skill with which she went direct to the heart of any difficulty. It was only twice or thrice that I asked her any questions myself, and that only when she was practically alone and I found her replies always worth pondering on. Within a very short time I began to feel perfectly at ease with her, and her kindliness and informality melted away whatever natural reticence I may have felt with her in the beginning.

A few small incidents may be mentioned as revealing her character and personality. The day after she had arrived at Vindhyachal i.e. on the morning of the 29th, I went at 9 to the *Ashrama* to make enquiries as to when Mataji would be visible. I was told by some of the people below that she was resting and could not be disturbed, and I was about to come away when Mataji herself saw me from the balcony of her room and asked me to come up. Going up, I found her quite alone, and had about an hour's talk with her during the whole of which we were undisturbed. I again discussed my *Sadhana* with Mataji and she gave me much helpful advice. She showed a perfect comprehension of my approach and inner nature; and I found that (contrary to my earlier expectations) she understood the *advaitist* point of view very well. Later I observed her giving advice to other people along different lines; and I always found that she seemed to comprehend everyone's inner nature and would advise accordingly. In many cases she said things which were very profound, and probably beyond the full comprehension of the person addressed, but she put them so simply that I think her hearers felt completely satisfied that they were understanding her. I found her ready to meet every-one on his own ground, and capable of answering the real inner needs of every enquirer. I had no opportunity of judging the reactions of her interlocutors, but to my own mind it was a wonderful exhibition of catholicity of outlook and profundity of understanding. It was an intellectual delight and an object lesson in clarity of exposition to watch her tackling the difficulties of the various enquirers who approached her; and whenever such an opportunity arose I listened with all attention.

Some people, I find, feel puzzled with regard to her attitude towards religious ceremonies and rites, and her relation to the different schools of Hindu *Sadhana*. Some feel that a truly enlightened soul (a *Jnani*) cannot support these various forms of worship; whilst others feel (and sometimes very strongly) that a teacher who professes equal devotion to all forms of Godhead cannot be sincerely devoted to any. It is a difficult attitude to explain to sectarians and exclusivists; and on the other hand the bland assertion, so often unthinkingly made, that all forms of Godhead are one and the same Reality percieved under different forms, also tends to be unconvincing to an enquiring modern mind. If the Reality is the same, why does it manifest itself in so many different forms with contradictory attributes, and what is the common link between them? Are there no 'false' gods, and must we admit the truth of all worship, howsoever degrading? Do not these 'forms' bear palpably upon their faces the marks of human invention? And if so many, why not more? Can we say that whilst 'gods' have been created by at human needs, vision or ingenuity, in the past, but that the process has come to a stop now? The whole question bristles with difficulties, and an intellectually satisfying answer is hardly available. But perhaps it is also possible to approach the question from another angle altogether. These worships which have got established have a certain energy of devotion and thought-force behind them, and this 'secondary life' which any 'sacred' object seems to acquire from the outpourings of its devotees, continues to be felt by and to help many people. Hence a wise teacher can accommodate oneself to such worships, thus ennobling practices which threaten to become debased and degraded, and through the purity of his own attitude draw out what is the noblest and best in them. I believe it is only in this spirit that Mataji lends herself to all sorts of Hindu rituals and observances; for a little talk with her will convience any one that she does not consider these observances necessary or helpful for everybody, and her own attitude in such matters remain exceedingly self-possessed and detached.

So her interest in these worships and rituals, and her readiness to par ticipate in them, are dictated by a wise and understanding tolerance of human nature; and she utilises all such opportunities for drawing people's attention to the higher inner principles behind these various forms. This attitude is repugnant to the rationalist and the reformer, but there is much to be said also for a wise and catholic tolerance; anyhow this is *her* way. Once I met an ardent admirer of hers in those days when I had not met her personally, and he was complaining of loud and noisy worship performed in her *Ashrama*, and of her lending herself to all kinds of ritualistic observances. When I saw her in Benares I perceived all this for myself but, inspite of all the din and noise I could always meditate effectively in her vicinity. I never discussed these matters with her, and she never expected or advised me to join any such worship; all the same I felt my highest side stimulated in her presence and therefore never worried about these manifestations going on side-by-side. I think she tries to help everyone at his or her own level, without making very great demands *to begin with*, but waiting for an opportunity to point to the highest Reality. Hence, as I have said before, it is worthy of notice that whatever be the worship or ritual that she participates in, she is always in a sense detached and self-recollected.

One of the most interesting discussions I heard from Mataji was about this very question of different 'perceptions' and 'experiences' along the mystical path. The question was put by some one else, but I happened to be present and listened to the whole exposition carefully. I do not say that it solves the whole difficulty, or that it is original, but it is significant of her attitude. Suppose, she said, different people come to Delhi by different paths—by aeroplane, by train or by car—they will see different approaches and mark different objects. If these people compare their observations they will necessarily disagree as to details. But one who has seen *all* the different approaches knows that these contradictory descriptions are all true in a sense. In the same way there might be different tracks up a mountain, and different people might use them for their particular purposes, only a person who knows the whole area can say how these differing and contradictory descriptions can be reconciled. Similarly, in spiritual experience there are different paths, and for a long time they remain distinct and irreconcilable. An aspirant experiences the 'Truth' as it is along his own particular path : only as he approaches the top he begins to realise that there are many other paths also up the mountain, paths of which he has no detailed knowledge. So people quarrel, partly because their knowledge of the spiritual reality is imperfect and incomplete; but the vast majority of disputants are people who have no actual knowledge of the path, who have done no travelling but who take for their guides descriptions left by others--descriptions often incomplete and misleading. Most of these controversies are carried on by people who have no *actual* knowledge of the higher reality, and whose minds have not been sobered by its very real difficulties and dangers, as happens to those who actually attempt the 'path' seriously.

It is true that this answer still leaves many difficulties unsolved, but perhaps *no complete intellectual answer* is possible. Each man must learn by his own experience the extreme difficulty of putting any of the realisations of inner life into terms of external knowledge the only kind of knowledge of which the normal man has any experience. The so-called descriptions of the path are only *'rationalisations'*, in terms of the knowledge and thought of the epoch when they were formulated, of particular phases and stages of spiritual experience. Moreover these have been elaborated, recast, poeticised, often by men with only a limited vision, and the result is the vast *corpus* of the mystical literature of all times and ages, which is admittedly often difficult and contradictory. Even so, great resemblances can be traced, and many a landmark can be located with sufficient precision. Hence, for the man *who actually wishes to travel* the mystical path is sufficiently comprehensible; and the higher up we travel the more certain do we become about its main features. But there can be no description which will satisfy the critical intellect even before an actual experience of the inner reality has been gained.

I have to spin out the few talks and discussions I have heard in order to give some sort of a mental pictur of Mataji's personality. But, as wit every form of genius, the real secre remains locked up in her individua being. A 'saint' or a 'sage' owes his or her power, not to any system o thought or method of expositio but to the mysterious force of th 'personality' which makes it possible fo lesser people to glimpse something o the Truth through him. No dis cussion however complete, no expositi however lucid, can ever convey th power; and so, ultimately, any suc introduction can only be a preliminar to a contact with the *"great personality* It may remove some misunderstand ings, may direct attention to som significant points, may make th contact more fruitful when it comes—but can never take the place of actual contact; nor should it be thought that these 'sages' have a 'system' which being intellectually understood can then be mechanically propagated. The world is cluttered with 'dead' systems; and every effort to propogate the words of a Teacher becomes ultimately another dead tradition. The only way in which one can 'propagate' such wisdom is by acquairing it for oneself, assimilating it in one's own experience, and only then can one do the true work of the Teacher.

Finally, a few words about our relation to any such great 'personalities' when once we have established contact with them, and when our heart's response has shown us that a true relation has been established. The vast majority of people in India want merely to worship-to treat the revered personality as an *idol* for the passive and gracious reception of their love and adoration. But we must remember that such worship does no good to its object, and on the other hand imposes a constant strain. Valuable as contact with such a personality can be, we must realise that there are limits to what we can learn passively. The constant company and physical presence of the idolised figure only creates a state of 'saturation' beyond which no progress is made. The people who achieve most are generally those who, making wise use of what they can gain and absorb during periods of physical nearness to the Teacher, seek to assimilate and purify their experiences in periods of solitude and inner striving. If we remember this, we shall perhaps be less greedy of the company of the idolised figure—a fault too common amongst devotees.

Then there should be no jealousy, ill-will or intolerance. Round any such personality we shall find many people whose ways and modes of thought are unfamiliar and even repulsive to us. Therefore such opportunities should be used for learning tolerance and comprehension: at least showing good-will and good manners even where we cannot identify ourselves with their ways. But above all we should not be *jealous*. We should not feel upset because someone else receives the attention or kindness that we covet for ourselves. Let us rely upon the perception and the inner grace of the Teacher; and if we are not clamorous and forever making personal demands, we shall probably receive the inner grace more abundantly. Even apparent neglect on the part of the Teacher may be wise and useful, and may be designed to test discrimination and sincerity as to whether we can differentiate between outward attention and inward 'grace'. When-ever jealousy, resentment or anger comes into our hearts in any relation connected with the Teacher, we must examine our attitude ruthlessly, and try to discover what our real motives are.

It is a great privilege to come into contact with a true Teacher of the Inner Path, but great as the privilege is, it imposes corresponding obligations. It is a *Karmic* opportunity, and neglect or misuse of it will bring spiritual retardation and suffering. So when such an opportunity comes, let us make use of it wisely, discriminatingly, and above all with unselfishness and true humility. A real Teacher will always notice and respond to the inner attitude of the would-be pupil: there is no need in this relationship to use the methods of pushfulness and noisy supplication with which we are so familiar in the outer world. If our attitude is pure, our mind alert and active, and our inner longing real, the influence of the Teacher will steal into our hearts in moments when we are least self-conscious, and make that experience possible which assure the pupil that he has really been 'set upon the path'. This is the true significance and purpose of our contact with any real Teacher; and the other experiences, such as the feeling of joy in the Teacher's presence and the emotional linkage with him or her, are only of subsidiary importance. Hence when *Karma* throws such an opportunity in our way, we have to learn to use it wisely and to the best purpose.

As I have tried to indicate, I feel assured that Mataji is one of the few such Teachers to be seen in the world, and great is the opportunity of those who come into contact with her. I have tried in this article to give some hints as to how this opportunity may be availed of to the best purpose, and have also tried to point out the right method and spirit in which an aspirant can approach such a *Personality*—of course from my own point of view and with my own experience as the back-ground. The earnest aspirant will know how to mould these hints to suit his own particular case. I can only end by fervently praying that more and more such earnest aspirants may be drawn into contact with Mataji, and derive from her to the fullest extent the inspiration and guidance which I am sure she can give.

From The Life of Sri Sri Ma Anandamayi

(3)

The care-free days of Mataji's childhood were drawing to a close. In accordance with the ancient custom of rural India, Mataji's parents began to look for a suitable bridegroom for Her as soon as She was a little more than a child. Friends and neighbours also, took a hand in this search and as everyone spoke well of the family of Sri Jagatbandhu Chakravarti of Atpara, his third son was approved of as a suitable match for Mataji.

Accordingly, at the age of eleven years and ten months, Mataji was given in marriage to Sri Ramani Mohan Chakravarti, who later on, came to be widely known as Bholanath or simply 'Pitaji'.

Didima, tearfully bidding farewell to her daughter, gave Her the following advice on future deportment; "Now you must look upon your husband as your guardian, and obey and respect him, just as you respected us, your own parents."

It may be imagined, that Mataji followed this advice, implicitly and completely, as was Her wont with all instructions received from elders. Throughout the lifetime of Pitaji She never did anything without his consent and permission.

Recalling this incident in later life, Mataji said; "At the time of my marriage they told that I should respect and obey Bholanath. Consequently, I gave him the respect and obedience due to my father. Bholanath himself also behaved just like a father to me. From the very beginning, he seemed to have absolute faith in me. He appeared to be convinced that whatever I might do could not be anything but right".

This implicit faith, a quality aspired for by sadhakas of all ages and realms, proves Bholanath's worth as nothing else can ever do. We must remember that he was a simple villager, not possessing anything beyond the usual and elementary knowledge of religious life and the ways of sadhana. At the time of his marriage, he naturally could not foresee the extraordinary events that would change radically the tenor of his life. Yet Pitaji was not found wanting when confronted with the unusual consequences of his marriage.

The members of Bholanath's family however did not take matters as calmly as he did. In the course of time and with the gradual unfolding of Mataji's personality, it became clear to them that it would never be possible for Bholanath to lead a conventional home life with Her. Although Mataji had endeared Herself to Her husband's family, they naturally enough had his interests at heart also. Consequently they thought it to be their duty, to urge Bholanath to marry again. This Bholanath absolutely refused to think of even, declaring that he was quite satisfied with the existing state of affairs.

Not only did Bholanath lightly and easily relinquish his claim to a regular home life, but he also bore without perturbation the first impact of the revelations of Mataji's Divine personality.

Among all Mataji's close companions he occupied the most anomalous position. On the one hand he looked upon Her as his Guru and spiritual preceptor, and on the other he received from Her the untiring and selfless service of a devotedly dutiful wife. How he reconciled these two positions we do not know. That he was able to do so perhaps shows that he was pre-ordained to occupy this unique position.

However all this came much later, when Mataji went to keep house for him at Ashtagram, Bajitpura and Dacca.

Immediately after Her marriage She was taken to live with the family of Bholanath's eldest brother, Sri Revati Mohan Chakravarti. He was a station-Master in the service of the Railway Department. At the time of his marriage Bholanath was working in the Police Department. Some time after his marriage he lost this job and failed to secure another for a few years. At about this time Mataji's parents left Kheora and went back to live in Vidyakut.

Mataji lived with Sri Revati Babu's family for four years after Her marriage. From the very beginning Mataji took upon Herself the duties of the entire household. Her work included fetching water from the pond, cooking for the whole family, looking after the children and running errands for Her somewhat exacting sister-in-law.

Those that have seen Mother work around the house, have all testified to the quickness and neatness of Her movements. She seemed to get a lot of things accomplished within the least possible time. What was more wonderful was, that with all this heavy work, She never appeared t to be tired or overworked.

Revati Babu's children were devoted to Her; the eldest child, Ashu would not have anybody but his *Kakima** do anything for him. One day Mataji was getting him ready for school. All of a sudden he started creating a great fuss, shouting that he would not eat from his *Kakima's* hands any more. As his mother knew that he liked nothing better, she came to investigate and found that Mataji's hands were in a deplorable condition. Continuous washing and cleaning had corroded the skin and there were deep wounds around the bases of Her fingers. Everyone was appalled and demanded to know why She had not said anything about it before. As a matter of fact, Mataji's tranquil demeanour and uncomplaining nature had prevented them from guaging the real amount of work that She had to do.

Inspite of this heavy household routine, Mataji found time to learn various arts and crafts. During Her hard-earned spare time, She would visit the houses of neighbours. Her sweet disposition made Her welcome in every home. Although She was shy and retiring, as befitted a newly married girl, She had a pleasant word and smile for everyone. Girls of Her own age claimed Her as a friend and equal while older women treated Her affectionately like a daughter. During these pleasant sojourns in neighbouring houses amidst friendly talks, Mataji learnt needlework, canework, the spinning of fine thread and other handicrafts. Mataji could spin thread so fine that She could put a whole length of the sacred thread (nearabout 10 yards) inside the empty shell of a cardamom. She used to present these sacred threads, packed in this manner to various members of Her family. A few specimen of Her handiwork are being preserved by Didi in the Varanasi Ashram. There was one beautiful piece of embroidery, the portrait of Lord Krishna, which Didi inadvertantly had framed and hung up on a wall. The day Mataji noticed it, She took it down, and before anyone could realize what She was about, threw it into the Ganges. She does not appreciate hoarding of any kind, and since then has threatened Didi that, the day it is Her kheyal, She will clear off the whole store of souvenirs. Consequently Didi has removed them out of sight and keeps them all well hidden.

It has already been mentioned that the states of samadhi which became such a regular feature of some later period in Mataji's life were not of sudden origin. They had occured in Her childhood and also during the time She was with Revati Babu's family. Sometimes these states would happen when there was no one to see Her ; but sometimes She would lie crumpled up on the kitchen floor and the smell of burning food would attract the family. After being roused She would appear ashamed and quickly set about preparing another meal. At a loss to account for these phenomenona they thought that Mataji was sometimes overcome by fits of drowsiness.

---

* A variant of the term 'Mother' meaning uncle's wife.

Revati Babu and his wife came to love Mataji as their own daughter. A few years ago, Mataji went to Calcutta to grace with Her presence a big function organized by the devotees of the town. Ashu's mother came to see Her there. We do not know but we can guess that the old lady must have felt bewildered and lost amidst the great concourse of devotees . Mother also had a very crowded programme and was nearly always unapproachable.

One night, after the visitors had all departed and the Ashram had settled down for the night, Mataji, came out of Her room quietly. As it was long after midnight, only a few close companions were awake, and they followed Her to the bedside of Ashu's mother. Mataji woke her up gently, and sitting down close beside her, clasped her hands within Her own and then gaily started conversing with her in the purest of dialects. She forthwith plunged into a sea of reminiscences, talking of old friends, familiar places and reminding her of old stories and incidents. Although taken a little aback at first, Ashu's mother quickly regained confidence and looked happy. She was particularly pleased to see how well Mataji remembered the old days. She seemed to be able to recognize in Mataji the wellbeloved girl who had served her so well in the past. She did not seem to be an awe-inspiring personality or at all unapproachable. By this time everyone had joined in the conversation and Mataji was making them all laugh by Her funny stories of village life and Her rendering of the village dialects. The hilarious laughter of the company woke up other people also, and by the end of the hour the room became quite crowded. Once Mataji jokingly asked Ashu's mother: "Look mother, all these housewives think that they are great experts in household work. Tell them if I also did not look after your house satisfactorily ?" Ashu's mother considered the question and then quite seriously gave the following reply : "You all cannot really imagine how sweet and good She was. She not only did my entire work but I must also acknowledge that She did not give me a moment's trouble throughout the years that She was with me. Truly, that sort of a spirit of service (seva-bhava) is rare now-a-days."

To the onlookers, what appeared to be more wonderful than this ungrudging testimonial, was Mother's look of gratification, as if She were pleased to have Her services appreciated !

To continue with the events in chronological order, Revati Babu passed away about four years after Mataji's marriage. After his death Mataji with his widow and family came to live in Atpara. She remained with them for about six months and then went to visit Her parents in Vidyakut. While She was in Atpara, Bholanath had got a job in the employ of the Nawab of Dacca, in Ashtagram. Mataji was in Vidyakut for another six months and then came to Ashtagram to keep house for Bholanath.

Bholanath was the tenant of Sri Jaishankar Sen, whose wife from the very beginning took upon herself the duty of looking after the comforts of the new household. Mataji had the quality of endearing Herself to all those who came into contact with Her. Charmed by Mataji's pleasant demeanour, Srimati Sen named Her 'Khushir ma'.

At this time Srimati Sen had her brother Sri Harakumar Rai staying with her. Although well educated and well employed, he sometimes would be carried away by religious fervour and during these times it would be impossible for him to behave or work normally.

From the very first day that he saw Mataji, he prostrated himself before Her and addressed Her as 'Mother'. He looked for opportunities to help Her, but this was difficult as Mataji according to custom did not speak to him. He, however would do Her shopping and would worry if the wood for cooking was damp and smoky. Somehow or other, he would procure dry wood for Her. As may be imagined, all these unsolicited attentions were not approved of by the neighbours. Sri Harakumar, however did not care, and defying the customs and traditions of village life, visited Her every day to do *'pranam'* and ask for *'prasad'*. But Mataji did not break traditions and with Her veil drawn well over her face, She would stand at a distance, quiet and unresponsive. She could not prevent him from doing *pranam*, but She certainly would not give him *prasad*. When he could not move Her, in despair he appealed to Bholanath, saying that his entreaties which left Mataji quite indifferent, would have melted the heart of a statue. Bholanath, impressed by his sincerity and devotion, asked Mataji to give Harakumar Her *prasad*. Mataji always tried to obey Bholanath as implicitly as She had obeyed Her parents, and Harakumar had his wish fulfilled. He used to say: "Now it is only I who call you 'Mother'. Some day the world will recognize you and call you so".

(To be continued)

SIXTY-SECOND BIRTHDAY OF SHRI MA ANANDAMAYI

CELEBRATED AT AHMEDABAD

From 2–5–57 to 18–5–57

(A philosophic view by Swami Madhav Tirtha)

The celebrations took place from 2nd to 10th May at the house of Mukundbhai Thakore. They consisted of a Bhagavata Saptah, Bhajans, Kirtans and Meditation (from 8-45 p. m. to 9 p. m.) and talks with Mother etc.

Further from 2nd May to 18th May at Kantibhai Munshaw's house. There was Rasalila, Kirtan, Katha, Bhajan, Meditation and talks with the Mother. In fact, except for a few hours of sleep, the whole period was spent in Divine work which created an unusually Divine atmosphere.

A devotee asked Mother :—

"What is the meaning of your birthday ? According to the Vedanta Shastra nobody is born and nobody dies."

Mother : This body says that it was not born. Shri Krishna had no birth, yet people are celebrating his *Janmastami*. By celebrating such occasions, there is an increase of devotion, true knowledge and Satsang among the devotees and therefore I do not object to these activities. I enjoy them as others enjoy them. It is a similar function as on *Ramnavami* day. On such occasions saints and devotees gather together, have discussions and many questions are solved. Therefore, the level from which the birth-day celebrations are viewed must be taken into consideration.

Question : If those who believe in the absolute oneness of the spirit, celebrate such occasions in which divided talks and observations occur will not their unitary (*Adwaita*) knowledge disappear ?

Mother :— If a man who has passed his B. A. examination talks to little children and takes interest in their play, will his knowledge of B. A. disappear ? In the same way, a man who has firm spiritual knowledge of absolute unity will not lose his knowledge, if he takes part in such festivals. Spiritual knowledge is self-sufficient and perfect. It does not admit divisions. It is not subject to Maya and it knows no disturbance of peace. Pitaji will give further explanations.

I said : Birthday celebrations can be considered from the following three points of view :—

1. *Adhytamic* : From the absolute point of view no one is born and no one dies.

2. *Adhidaivic* : From the point of view of the universal spirit, *Saguna* spirit, birth and actions are divine and everything is possible. God can take birth as an Avatar also.

3. *Adhibhautik* : From the material point of view, birth and death do appear. This is the angle of vision of the ordinary man.

Mataji : There is no difference between *Saguna* and *Nirguna*. If differences appear, they are like the difference between water and ice. The Spirit is one. As the nature of fire is to burn, the nature of the Divine is to give light. Therefore all means are good. There is no division and every possibility is contained in everything.

On the 2nd May, Ma Anandamayi was to be worshipped and Mukundbhai had made good preparations. But Ma did not want to be worshipped. She desired that God should be worshipped. She found a remedy. There was a book in her hand on the cover of which was a picture of Shri Krishna. She said this should be worshipped. But the devotees wanted to worship the living God in the form of the Mother. Yet, Ma did not like it. She found a way out. She wanted to demonstrate that God is in all. Therefore, she got down from her seat, moved round the devotees, threw flowers amongst them an prostrated before them thus wor- shipping God in them all. In he view, God was collectivity and collec- tivity was God. The whole atmospher was changed. There was a new day and a new divine space created b the Mother. It appeared as if we were celebrating God's birthday.

Then she took her seat and allowe the Puja to be performed.

As it was the first day of th Bhagavata Saptah, the evening tal with the Mother commenced with question from a devotee as to the rea meaning of the Bhagavata. Ma wante me to reply. I said that in the Bhaga- vata, equal stress is laid on Bhakti Jnana (knowledge) and Vairagy (renunciation). I defined these thre on the authority of the Bhagavata a follows :—

I. BHAKTI.

Kapil Bhagawan says to Mata Dev huti as follows :—

मद्गुण श्रुति मात्रेण मयि सर्वं गुहाशये।
मनोगति रविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ
३-२८-१

i. e. if only by hearing of my (God's) divine qualities, a devote mind incessantly flows towards m who reside in the hearts of all, li Ganges water incessantly flowing int the sea, that is the sign of tr devotion.

2. TRUE KNOWLEDGE.

वदन्ति तत् तत्त्वविद् स्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते
१-२-११

The wise say that unitary knowledge which knows no divisions is called *Brahman*, *Parmatma* or God.

3. VAIRAGYA (Renunciation)

न ताक पृष्ठं न च पारमेष्टयं
न सार्वभौमं न रसाधपत्सम्
न योग सिद्धी रपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्च काङ्क्षे
६-११-२५

A real devotee does not want heaven, or the state of *Brahman* or the Kingdom of the world, or the lower worlds or yogic powers or even salvation. In other words, a devotee wants God only and nothing else.

This, I said, was the brief purport of the *Bhagavata*. Mataji was pleased with this short summary, but Mukundbhai Thakore wanted more explanations from Mataji. Mataji said: "Pitaji has given a beautiful summary and nothing further remains to be said."

Then Shyam Sunder, a devotee from Vrindaban requested Mataji to sing the Kirtan of "*Hari Bol*". Mataji commenced but could not get into the right mood. She said: "If you all sing with me, Hari will come and a good Kirtan will follow." Then all began the Kirtan of "*Hari Bol*" together and this collective singing changed the atmosphere so much that the presence of Hari was distinctly felt by me. I also learnt from the Mother the method of invoking God. It is to see Him in all simultaneously. If we see that other persons are sitting in the pandal, God is not there. God will come when there is no otherness. Mataji said that God was collectivity in which nothing could be separated.

I wanted to remain for only three days but Mataji requested me to stay till the end of the celebrations. Therefore, I cancelled my other programme up to the 18th of May, so that I could continuously bathe in the divine atmosphere created by Mataji's presence. During that period, Shri Hari Babaji was also giving inspired *Kathas*, selecting some useful chapters from the Bhagavata like *Veda Stuti* and *Bhishma Stuti* etc. This was an additional advantage and helped very much in creating a divine atmosphere.

On the 3rd May, in the Raslila, Radhaji requested Shri Krishna to describe her divine form. Shri Krishna compared her to the moon or sandal wood. But Radha was not satisfied. She took the form of Krishna and said that the whole of Vrindaban belonged to her. Then a quarrel ensued between the two. The Sakhis (maids) intervened and it was finally decided that there was no difference between Radha and Krishna and that Vrindaban belonged to them jointly. In the same way the world belongs to the divinely inspired individual as much as to God.

4th May.

Mukundbhai said that although several Avatars of God had come to the world, people were still living in ignorance. He asked Mataji what was the reason for this ? When would he obtain the grace of God ?

Mataji : God's grace is already acting and the Bhagavata Saptah is the fruit of this. Besides, you are eternally living in God and God is using you in His eternal Lila.

5th May.

Question : When the dissolution of the world takes place, do the karmas of the individuals ramain to be worked out ?

Mataji : Yes.

Question : Why does God allow such a world to exist in which there are so many contradictions ?

Mataji : It is His joy and His play.

Question : Why does He play in this way ?

Mataji : This question will not arise when He is known fully. He is in the world and also beyond the world.

6th May.

Question : What is the meaning of *Dhi* (intelligence) in the Gayatri ?

Mataji : Pitaji will reply.

I said : Dhi means *Prajna* i. e, to know everything in its true form or essence.

At the close of the talk, Mataji got up and began to move out of the pandal. I did the usual Namaskar. At that time, she rubbed her forehead against my forehead saying that this meant unity. I experienced a new kind of meditation for five minutes and realised that I was in the presence of God.

7th May.

Question : What is the meaning of Medha, Pratibha and Prajna ?

Mataji : Pitaji will reply.

I said : Medha means purified intelligence, Pratibha intuitive knowledge such as is often found in Mataji, like hearing talks or knowing events from a distance etc. *Prajna* means right knowledge or intuitive knowledge.

Question : If ordinary Mantras remove the poison of scorpions and snakes, why dose not the mantra of Ramnam bring about such results ?

Mataji : *Rama-mantra* removes all kinds of desires; those other Mantras produce only limited results.

A devotee : What is the experience of *Sat-Chit-Anand* ?

Mataji : It is a matter of realisation. It cannot be expressed by speech.

Question : What is the cause of ignorance ?

Mataji : God is a field of every possibility—knowledge, ignorance and many other things. One seed contains the power of creating many seeds ; each of them has equal capacity to create many more seeds. As our hands are not separate from ourselves, so the whole universe is not separate from God.

Ignorance may be considered to be part of God's eternal Lila.

As the father is born as the son, God has come as the world. As one man becomes a father, son, uncle, nephew etc. God assumes various relations. When He is known, there is no fear and no ignorance.

Or ignorance may be taken to be a kind of *Viraha* or wilful separation. I requested Mataji to explain the nature of *Viraha* further.

Mataji : Even in *Viraha* (separation) there is true knowledge and Ananda. Separation from whom ? There is no *Viraha* without first getting union with God. Then separation takes the form of longing to be united with God and this gives great joy.

8-5-57.

Question : Why does God give pain to men ?

Mataji : This can be explained by a short story which I have heard :-

When Hanuman was building the bridge to Lanka by throwing stones into the sea a squirrel was hurt. It complained about Hanuman to Rama. Ram asked what punishment should be given to Hanuman. The squirrel said : "Hanuman should be trodden on by you." Rama did accordingly and asked Hanuman not to commit such mistakes again. Hanuman said : "I will very often commit such faults so that I may repeatedly feel the pressure of your feet." There is also a good side to the pains sent by God.

After this, Mataji started a Kirtan of Radha and in a short time, the whole pandal seemed changed into Vrindaban. There is a peculiar charm in her Kirtan. It is not like the Kirtan of ordinary men. At these moments, she creates God, as it were, and those who have the capacity to feel, feel the presence of God. Sometimes tears flow from her eyes. They are probably the overflow of joy.

One devotee sang a Bhajan, in which it was stated that Krishna does not leave Vrindaban at any time. Mataji turned to me and said : "God never leaves the Vrindaban of the heart."

9-5-1957.

Question : Is the help of a Guru necessary ?

Mataji : Yes, a Mantra given by a Guru has very great power.

Question : How can the Mantra be immediately effective ?

Mataji : Pitaji will reply.

I said ; If *Mantra-sadhana* is done with the knowledge of the meaning of the Mantra, it will produce good results, as stated in the Yoga—sutra

Mataji : Sometimes, without knowing the meaning but by the force of faith a mantra gives good results.

I asked : If a Guru asks his disciple to do ten malas daily and one day after doing five malas, God gives Darshan, should the disciple ask God to wait till he completes his 10 malas according to his Guru's order ?

Mataji : No, on that day the five malas have created the effect of ten malas.

I then asked Mataji : It is stated in the Bhagavata and other scriptures that only sins are destroyed by Japa, but *Punya* remains. The fruits of *Punya* or good deeds are removed by Self-Knowledge. Ajamil also went to Haridwar and there obtained Self-Knowledge.

Mataji : Knowledge is necessary to burn both *Punya* and *Pap*. Often a little grace obtained through *Japa* becomes the means for obtaining further grace. A little light will create greater light.

I told Mataji : My Guru gave me a *mantra* for *Japa* and at the same time began to teach me Vedanta. After some years, he gave me the experience of Vedanta and took away my *Mala*, saying that it was not necessary for me any more.

Mataji : Yes, that is possible.

A devotee : Dream vanishes at once but the waking state continues for a longer time.

Mataji : The waking state is also a dream.

Question : Yesterday's world appears today.

Mataji : What is the meaning of yesterday ? There was illusion yesterday and there is illusion today. Really speaking you have got what you want to realise. You have only to remove the veil.

Question : The Guru should remove the veil of ignorance.

Mataji : The Guru will show the way. If the disciple does not listen, the Guru will shake him and improve him. Enjoyment of the objects of sense is a slow poison; being a slow poison, it does not appear to be poison.

Question : Is a man free to choose his life or is his life pre-determined ? Is prarabdha greater or purushartha ?

Mataji : Pitaji will reply.

I said that in the field of Maya man is not free ; but in the field of the Spirit he is free.

Mataji : Man is free, only he has to change his aim of life. The path of श्रेय, spiritual progress, and the path

प्रेय, material enjoyment are quite different. Even in material enjoyment man has some freedom. This means that he will also succeed in the spiritual field.

Question : Does a man return from *Brahmaloka* ?

Mataji : Sometimes, he returns, sometimes he advances further directly from that state.

10-5-57

A devotee asked : What does God do ? Where does He reside and what Does He eat ?

Mataji told a short story, the substance of which was as follows :—

1. The question should be "Where does God *not* reside ?" He is everywhere.

2. He makes a poor man a king and a king a poor man.

3. He eats the ego of the individual (जीव).

4. He laughs when he finds that a man before birth decides to become a devotee and afterwards forgets God.

11-5-57

Question : Have you seen the form of Krishna ? What is it like ?

Mataji : Don't ask about the experiences of this body. The real form of the spirit is indescribable.

Question : If there is one self in all, how to realise it ? What is the method ?

Mataji : Proceed with faith. The Self has the power to reveal Itself. Just as fire has an eternal capacity to burn, the Self has the power to illumine Itself. The mind that turns towards the Self or Spirit gets the bliss of the Self. If the mind turns towards worldly or sensual pleasures, the man will be drawn towards a circle of repeated births. *Sadhana* must be done by man himself. If another person eats for him, it will not satisfy his hunger. Therefore, he who does the sadhana will reap the fruit.

In the case of hunger, if a man feels that he is existing and eating in other bodies his hunger will be satisfied. But in the spiritual field one has to do the work oneself.

A devotee : Will Rama nama give liberation.

Mataji : Yes, it has the power to create a spiritual atmosphere and to give liberation.

The devotee asked the Mother to chant that kind of 'Rama Nama' herself so that all may bathe in that atmosphere.

Mataji began with Rama Nama-Kirtan, and asked the harmonium player to accompany the singing. Then gradually all began to sing with her and in a short time the whole atmosphere was spiritualised. Mataji did not stop but continued as if to bring Ram there. I felt that Ram had actually come into the Pandal and I asked the devotee (who was sitting by my side) to tell the Mother that Ram had come and she should stop, but he had not the courage to do so. I looked at Mataji and said that Ram had come. Then she stopped. My experience is that by her Kirtan, Mataji does effect the presence of God.

12-5-57

In the afternoon, at the *Katha* time, I was asked to speak for half an hour. I commenced with the *Bhagavata* which is my special subject. It is stated in the beginning of the *Mahatmya* that the *Bhagavata* is meant to enable the devotee to conquer time :-

काल-व्याल मुखग्रासत्रास निर्णाश हेतवे ।
श्रीमद् भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भापितम् ।।

i. e, in order to remove the fear of becoming a morsel in the mouth of the serpent of Time, the Bhagavata was recited by Shuka before King Parikshit.

Kansa was also called कालनेमि cycle of time and when he was killed by Shri Krishna, Vyasa has given the stanza (श्लोक) of इष्टिस्तुष्टिवाद् viz., मल्लानामशनि etc. In other words, time can be transcended if a man learns that there is no creation before observation. This principle also agrees with the latest discovery of the science of relativity. The Gopis in the Gopi Gita say that त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् i. e. when God is not seen, a moment seems as long as a *yuga* and when He is seen the yuga appears a mere moment. In the first three skandhas, there is a description of creation and at the same time, it is stated that creation has not taken place (vide stanzas 1-3-31, 2-10-35, 3-7-10).

At night a devotee asked Mataji, "By what means can we get self-realisation ?

Mataji : It is not something to be obtained but you have to realise what you have already got, therefore all means are good but renunciation of pleasures is the chief pre-requisite.

Question : How can we get rid of worldly misery and unhappiness ?

Mataji : By true knowledge and renunciation.

A Devotee : Is it possible to go straight to the formless God without devotion for the God with form ?

Mataji : The *Sakara* and the *Nirakara* are not different. Vaishnavites want to remain with the *Sakara*, but also there is no द्वंद्व i. e, no duality. Every possibility is contained in the spirit.

Question : In the Upanishads, in some places it is stated that God has created the Universeand in other places it is stated that there has been no creation, everything is *maya* or illusion. Which is true ?

Mataji : Where creation is seen, there is a thought of creation and its Creator. Where creation cannot be seen, there is no question of creation.

I said that the following appears six times in the Bhagavata and, therefore, that must be the real meaning of Bhagavata :—

अर्थेह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥

११-२२-५५

i. e. although the worldly objects do not really exist, the world will not disappear if one thinks about those objects. As in dream, so in the waking condition, and a man will experience misery although there is no misery. As in dream, so in the waking condition.

Question : It is stated in the Ramayana that one can get liberation by worshipping only Shiva and it is stated in the Gita : "Whoever worships me (i. e. Krishna) will get liberation. Which is true ?

Mataji : By every kind of devotion the devotee merges in the Bhagavan and becomes like Him. Everything depends on the goal. Where the ego or 'I' stands, God will not be seen.

13-5-57.

Question : Those who follow the path of knowledge, begin by separating spirit and matter. Is it possible for them to obtain *Sidahis* or do they see *Vibhutis* ?

Mataji : Sometimes they do, sometimes they do not. Some stop at the Siddhis, some go beyond them. The Siddhis come when a particular state is acquired but one should not stop at that stage.

Question : When one thought is over and before another thought begins, there is a vacant period and some spiritual experience comes. Is it real experience ?

Mataji : When real experience occurs, no question will arise, because then there is nothing except Spirit.

Question : How can we find a real Guru and who can be the Guru ?

Mataji : God is the real Guru, God will do the work through the Guru already accepted and show the true way to the disciple. The real Guru is one's own *Atma* (Self).

Question : Will that Atma give the Mantra ?

Mataji : Certainly.

Question : Is there more bliss in meeting the Divine or in separation ?

Mataji : There is more joy in separation (*Viraha*) after the experience of union.

Question : How ?

Mataji : The separation that is experienced after meeting God is of a different kind. From whom do we separate ? If there is no union first, how can there be separation ? In the separation after union, we experience God in a special new way and this gives more happiness.

Question : Is it possible for a devotee to fall by eating impure food or by bad company ? If saints can remove the fault of others by their knowledge and *Japa*, can they not purify impure food and bad company ?

Mataji : It is a question of power (*Shakti*). Those saints who have great power are not affected by impure food or bad company.

Question : Bhishma ate the food given by Duryodhana and took the side of the Kauravas, although he was a devotee of Shri Krishna.

Mataji : There were many causes for that. It is a different matter, which cannot be discussed now.

The Ras Mandali was performing new dramas every day. On some days, the *lilas* of Shri Chaitanya Mahaprabhu were staged and on other days, the lila of Radha and Krishna, in which Lord Krishna sometimes appeared as a thief. But it appeared to all that he was really stealing or removing the vices of his devotees. On two occasions Mataji herself got up and placed butter in the mouth of Shri Krishna in the Ras Lila.

On one occasion, the Gopis wanted to go from one bank of the river Jamuna to the opposite bank and Shri Krishna was shown as a boatman. He asked for his dues from the Gopis. As they had not sold their milk and butter on that day, they had no money. Shri Krishna asked for whatever they had. The Gopis gave him milk and butter and Shri Krishna took them to the other side. The whole of the drama was well acted and the audience enjoyed it very much as they had a good psychological meaning as follows :—Every devotee wants to cross the river of *Samsar* (worldly life) and if God helps, th journey becomes very easy. But w must be prepared to give what actually belongs to God.

The Director of the Ras Mandal Hari Govind Swami deserves th deep gratitude of the devotees wh had the good fortune of seeing th Ras which is rare in Ahmedabad.

14-5-57

Question : What is the difference betw Jiva (individual soul) and God ?

Mataji : God alone exists.

Question : Why then are divisions creat

Mataji : They are the imagin tions of the Pandits.

Question : Then who is doing t Japa ?

Mataji : From the point of view the Japa or means, he who is i bondage is called *Jiva*, that whi moves called *Jagat* (world) and He who is beyond bondage and motion is called God. Where can God go ? He is everywhere.

Question : In the *Vishistadwaita Jiva* and *Jagat* are believed to be the body of God ?

Mataji : That also is true. God can be seen from various angles.

Question : You are explaining by Shankaracharya's method.

Mataji : That also is true.

15-5-1957

Question : How can a man who with great difficulty maintain his family and is short of food, clothing etc. worship God with one-pointed devotion ?

Mataji : For real devotee the question of food and clothes etc. is negligible. God looks after his devotees' requirements.

Question : We cannot maintain such faith, we are burning with many anxieties.

Then Mataji told the following story—

"There were two friends. Both liked Satsang and devotion. One holiday they went to a solitary place and sat in meditation. One had great faith in God, the other had very little. The latter became hungry after some time and told the former that he could not go on meditating without taking some food. The former said : "Bear the hunger for some time and have faith in God, he will send something for us to eat." But his friend became more hungry and said : "I cannot meditate with an empty stomach. I will go to the town, get some food and then come back and do meditation" The first friend continued his meditation with full faith in God. The second took his meal in the town and then thought that his friend was meditating in the jungle and feeling hungry and that he should take something from the town for him to eat. Therefore, he procured some food for his friend, returned to him and told him : "Your faith is useless, see you have not yet got any food. I felt compassion for you and have brought some for you, take it." The first friend replied, "By the power of my faith, God inspired you to bring some food for me which I got here without being disturbed in my meditation. God takes care of his devotees." His friend said : "I will have more faith from today."

Question : People say that some are going to Swarga (heaven) and some to Narak (hell). Is this a fact ?

Mataji : These are not real places. A devotee merges in God because there is nothing beside Him.

Question : Is a good atmosphere necessary for concentration ?

Mataji : Yes.

Question : Should Japa be done alone or collectively ?

Mataji :— Some persons like to do Japa alone. Some become *Tamasic* by doing Japa alone. For such persons Japa or Kirtan in a Mandali is useful. In reality, to do Japa alone is better, yet remembrance of God should not be lost even amidst the noise of a crowd.

Question : Why does the mind wander while doing Japa ?

Mataji : The mind is like a child, it wanders in search of true happiness. If you give it the food of Satsang, it will not wander, therefore keep Satsang.

Question : Which is more powerful—*Prarabdha* प्रारब्ध or पुरुषार्थ Self-effort ?

Mataji : This question can be considered from various points of view as follows :

1. From the point of view of the Self (आत्मा) : There is neither *Prarabdha* nor *Purushartha*, because it is inactive.

2. From the point of view of a devotee, *Prarabdha* and Purushartha have no meaning, because for him God alone exists.

3. From the point of view of Karma : Karma is जड़ (mechanical) and there can be no *Purushartha* or *Prarabdha* in material things.

4. From the point of view of an individual, whatever work he does for the sake of self-realisation is *Purushartha*.

5. From the point of view of Prarabdha even Prarabdha has value and some force.

But remember that the *Purusha* is one. He is the real power. Others are *Abala* powerless. How can *Abala* do any *Purushartha* ?

Therefore, you will get the answer according to the view-point you select.

16 5-57.

Question : How has the first *Jiva* (individual) created ?

Mataji : What do you understand by first or beginning ?

Devotee : It is said in the Shastra that an individual appears from Anadi it has no beginning.

Mataji : Therefore your question is wrong.

Question : Should we purify ourselves before entering a place of worship ?

Mataji : Yes, purification is necessary, partly by bathing and fundamentally by self-knowledge. From the point of view of devotion, if a man has been sitting in the room of his worship for the whole night, he can begin his morning worship without bathing, because he is not polluted by outside atmosphere. He has not to enter the room of worship. He is already there. Purification is necessary after being subjected to outer influences.

In the evening the following few questions were raised by the devotees:

Question: Why does God make some unhappy?

Mataji: That is His मौज, His will.

Question: Please tell us some method for our spiritual progress?

Mataji: One good method is to sit in meditation daily at your home between 8 45 and 9 p.m. At that time all the devotees' energies will be concentrated on the One Divine, and some good result will surely follow*.

17-5-57.

In the early morning, at 3 a m. the birth-time of the Mother was celebrated. Mother was sleeping or appeared to be sleeping on a cot, and devotees were offering their prayers and namaskars. Mother gave the appearance as if she were taking birth at that moment, neither moving nor speaking. I went to garland her in that condition but to my surprise, I did not find her body but only a new kind of light.

One devotee remarked that shastras do not allow this kind of birthday celebrations in a sleeping state. I replied: "Mataji's life is beyond the shastras and yet not against the shastras."

In the evening, at the question time, the following questions were raised by the devotees:—

Question: It is said in the shastras that even for Jnanis (i.e. those who have realised their Self, a small portion of ignorance remains to enable them to do some worldly work.

Mataji: From one point of view, this is correct, but really, if such a large amount of ignorance is dissolved by true knowledge, why should a little ignorance remain?

Question: How can this birth-day celebration be reconciled with *Advaita Bhava* which means absolute unity?

Mataji: The answer will be simple if you turn your attention from the objects seen to the method of observation.

Question: How many desires are there in the human life?

Mataji—Many, but you may summarise them in the following three classes:—

(1) पुत्रैषणा i. e. the desire for children

(2) वित्तैषणा i.e. the desire for money.

(3) लोकैषणा i. e. the desire in for name and position.

Question: How can these desires be removed?

---

* I have already started this practice in my Ashram. This is the time when there is meditation daily in all Mataji's Ashrams and wherever else Mataji happens to be.

Mataji: By the grace of God, by the grace of the Guru.

Question: What are the true qualities of a real saint?

Mataji: Pitaji will reply.

I said these have been given in the second chapter of 11th Skandha of Shri Bhagavata.

Question: How to practise?

Mataji: The mind that flows towards the objects of sense should be turned towards God.

Question; You have got immense power and we have got very little power. Therefore, why not use your power to remove our defects?

Mataji:—Whatever little power you have, if you change its direction towards God, you will get more power. It has got the power to illumine the path more and more.

As a last item of the programme a cinema film was shown in which the birthday celebrations of the mother's 60th birthday that took place at Banaras last year were exhibited. For this purpose we had to be in darkness and I asked the following question:—

If darkness is necessary so that objects may be seen on a screen, ignorance may be necessary for God's *lila* that we see as the world.

Mataji: Yes, that is so. Therefore nothing can be avoided.

I said: If darkness is removed, nobody can see anything on the screen.

Mataji: Yes, in darkness and in light, the power of the original light is working.

SOME INCIDENTS DURING THE BIRTHDAY CELEBRATION AT AHMEDABAD

By

Vijaiananda (Dr. A. J. Weintrob)

Mother's Puja

Early morning at 3 a. m. on May 3rd the first Puja of Mother was celebrated. The huge crowd gathered gradually during the following days and therefore only a few people, perhaps about 50, were present at that ceremony. Mother, as usual on these occasions, was lying absolutely still, apparently far from our manifested world. Some outsiders utter on such occasions : 'Mother is sleeping,' which is of course a notion we need not discuss, as it may be dismissed straight away.

Some learned people say Mataji is then in the state of '*Nirvikalpa-Samadhi*'. No doubt She may be in that state. But it seems to me that She does not have to go into any particular state, however exalted, as Her natural and continuous state is one which is beyond all states as She Herself has clearly declared on many occasions, as far as I can understand. Besides in the state of '*Nirvikalpa-Samadhi*' the phenomenal world ceases to exist—and there is then no mother and no children craving for Her blessings. It is Mataji's *Mahakaruna* that makes Her remain with us rather than resting in the Supreme Bliss of *Nirvana*.

Needless to say I do not venture to infer about Mataji's state on those occasions : that is far beyond our power of grasping. A man who was born blind might just as well discuss colours. But I wish to draw the attention of the reader to a small detail I noticed on that blessed night.

During the whole time while lying down Mataji's hands were folded in a most graceful manner in a beautiful *mudra*. My description can give only a faint idea of the beauty of Her gesture. Her hands were folded in a way so as to form a cup open above. The *mudra* seemed to express giving with full hands.

The reader who is familiar with psychology or Yoga to some extent at least will know the deep significance of gestures or *mudras*. In man's thought processes they occupy a deeper level than mere conversation in words. Moreover in Mataji's case the full awareness in which a *mudra* is done and the direct relation of this action to the Primal Source imparts to the gesture profound meaning and efficacy.

Therefore (this is of course but my personal and necessarily limited opinion) during the Holy Night it occurred to me that Mataji was embodying the power showering blessings and spiritual strength on us, indeed it is not enough to say that She was giving with full hands—nay, She was identified with the power of giving.

Mother's Songs.

One night a Mahatma who had come especially from Vrindaban, after delivering a lecture, requested Mataji to sing a song. He asked especially for "Radhe, Radhe": Mataji began to sing : *"Radhe, Radhe, Pritama Radhe"*. There was something almost masculine in the quality of Her voice that conveyed extreme sweetness and love. Her face changed as She sang. Her features were as noble and calm as they always are, but different. Her hair seemed to fall over Her shoulders not in the usual way, but reminded me of the pictures representing Lord Krishna. I got the impression of Lord Krishna Himself calling out to his beloved Radha.

Almost everyone who has come in contact with Mataji has been struck by Her unique way of singing Kirtan and other religious songs. I have heard many kinds of singers in many places. Almost all of them have one particular kind of voice with a register more or less large depending on the capacity of the singer. Some are able to use their voice in two different ways—head voice and normal. But with Mataji it is quite different. Her voice seems to change completely according to the subject of the song. It is as if it were not the same person that is singing the various songs. One wonders how for example the sweet and delicate, almost child like voice singing *"Hridayaduara aji"* can come from the same mouth as the sonorous tune vibrating with intense spiritual emotion with which She repeats "Hari bol, Hari bol". But then Mataji is not a person and one cannot really say that She is singing. I feel that it is the *Shabda Brahman* that manifests Itself in this way.

Mataji's Prasad

Western people do not know anything about neither do they believe in what is called in India *"Ashraya-Guna"* of food. Whoever prepares or touches food communicates to it some of his qualities, be they good or bad, usually both good as well as bad. The three aspects of manifestation *anna* (matter), *prana* (energy) and *manas* (mind) are in fact one and the same substance—just as ice, water and vapour are not essentially different from one another. The mental and emotional wave of the person while cooking will pervade the food and in the digestion of the food a mental and emotional wave of the same quality will again tend to make its appearance.

Whatever food is to be given to Mataji is prepared with the observance of the greatest possible purity by pure people ; and when Mataji has partaken of some food or even touched it, it becomes *Prasad*. The pure and intense *Sattwa* emanating from Mataji's body is imparted to the food by Her contact and will burn away any impurity that might be there. Mataji's Prasad increases the *Sattwic Vrittis*. No harm can come from eating Mataji's Prasad even if it happens to be a kind of food that does not otherwise agree with one physically. I should like to recount an experience to this effect I had at Ahmedabad.

One day a friend of mine came from Bombay for Mataji's Darshan and we had our meal together. I asked for Mataji's Prasad which was brought to us most generously in abundantce by our host. The next day, my friend having left, I again cooked my own food as I usually do. At about 1 p.m. some fruit and sweets were brought to me, probably the Prashad of some Puja. Since I was keeping silence that day I could not make any enquiries about it. The lady who had handed the *Prasad* to me said, she would return at about 2 p. m. and I thought it was in order to take away the empty plate. I finished my meal as well as eating all the *Prasad* I had been given and then felt that I had perhaps slightly overeaten. But at 2 0' clock the lady came back with a plate full of Mataji's Prasad, which in itself would have been sufficient for a full meal. I was much moved by the delicate attention of our host, who having noticed that I was eager for Mataji's *Prasad,* had sent plenty of it once again.

I must mention here that my digestion is very delicate and gets upset by the least overeating. I could not say anything as I was keeping silence, neither could I throw Mataji,s *Prasad* away or keep it for the next day in the broiling heat of May. Mataji's *Prasad* is sacred and not one grain of it must be wasted. So I ate up bravely the contents of the plate including even a chilly which it contained. I was prepared (although I had full faith in the virtue of the Prasad) to fast on liquid diet the next day and probably on rice and curds the two following days. But to my utter amazement I did not at all feel that I had overeaten after finishing the Prasad. On the contrary I felt light and very harmonious and peaceful throughout the afternoon and, as I found out afterwards, having eaten such a large quantity of *Prasad* on a full stomach in a hot climate had no adverse effect whatsoever on my health.

The Invisible Power

In such a huge gathering round Mataji one can hardly imagine what a lot of arrangements have to be made : Providing accommodation and food, receiving the guests and cars, endless small and big things that have to be seen to when a crowd has gathered, The strange thing that many people have noticed is that there is apparently no organization, no manager to give orders and no staff to carry them out. Yet everyone is co-operating, not following orders but under the banner of love, as in a huge family. What is still more strange is that everything works out smoothly. Never once did I hear that anyone of the numerous visitors could not get food or had to leave for lack of lodging facilities. Suppose someone is coming from a cool place and feeling rather afraid of the long journey in the heat. But the day he is travelling it happens to rain and so the temperature is pleasant. The train one has to take is reputed for being always overcrowded. But by some special good luck one is able to secure sleeping accommodation for the whole night. Having reached one's destination, one does not know in which locality Mataji is putting up. Lo and behold a stranger comes along and gives one detailed information. At last one has got the right address, but it is very late at night. How and whom is one to ask for quarters ? But one finds Swamiji standing at the gate and he at once assigns a room to the newcomer and provides for a good dinner. But Oh, what a pity at this time of night Mataji's Darshan is of course impossible, because She must be resting and one shall have to wait till the next morning. But no: Mataji has just come out of Her room for a stroll! The next day one has to go to town to make purchases, but does not know the way. A devotee whom one has never met before, who is returning home, offers one a lift in his car. And so on and on. This cannot be written down or explained, one has to experience it. How circumstances dovetail perfectly, just at the psychological moment can be understood only by him to whom this happens.

It is as if some Invisible Power were moving from within all those who are present at the gathering: a Power of love and harmony, not only concerned with the spiritual uplift of every one, but also with the smallest details of their welfare.

There are other articles in this issue of Ananda Varta giving details about the functions of Ahmedabad. Let us hope that Mataji will bless us with many, many more celebrations of this kind.

NOTE

By

Vijaiananda.

In the last issue of 'Ananda Varta' we published a letter by Sri Sri Swami Ramdas of Kanhangad to Vijaiananda. Due to shortage of space we were obliged to omit the commentary which the letter deserved.

* * *

Vijaiananda had been asked by the editor to write to the great sage and to humbly request him to contribute an article or at least a few words for the Birthday Number of 'Ananda Varta'. Sri Sri Swami Ramdas responded by sending the letter which was included in the last issue, teaching us how humility and spiritual greatness go ever side by side.

* * *

Sri Sri Swami Ramdas met Mataji at Trivandrum in 1952 when She was touring the South of India. The writer of this note was not present but heard a report of the meeting. Mataji, as She usually does, addressed the sage as 'Pitaji', calling Herself his little daughter and Sri Swamiji protested, saying that it was he who was Her little child and She the Divine Mother.

NOTES AND COMMENTS.

We have to apologise to our readers for being unable, due to unforseenable circumstances, to include "Matri Lila" in the current issue. There are however articles in this issue giving details of the birthday celebrations at Ahmedabad.

Mataji left Ahmedabad on May 18th for Bombay. On May 23rd She proceeded to Poona where She stayed fairly quietly until June 21st, when She returned to Bombay. On June 24th She left for Delhi where She arrived on the 25th evening. After a visit to Hardwar of a few hours She alighted in Kishenpur, Dehradun by car on the 28th evening. From 8th to 12th July She was at Hardwar where Gurupurnima was observed on the 11th. From Hardwar She returned to Kishenpur, where She is expected to remain until after Janmastami.

A Bhagavata Saptah will be celebrated in the Ashram at Varanasi from Sept. 1st. It is hoped that Mataji will grace the function with Her presence. Durga Puja is also to be celebrated at Varanasi this time, from Sept. 30th to Oct. 3rd.

The Samyam Vrata is expected to be held at the New Delhi Ashram in Chandraloka near Kalkaji colony from November 22nd to 28th. Programme of Samyam Vrata however may be subject to change and in such case this will be notified in due course.

ist of Publications from Shree Shree Anandamayee Ashram

B 2/94, BHADAINI, BANARAS.

Name of Books	Language	Author	Price
Matri Darshan	Bengali	Bhaiji	2 0 0
Matri Darshan	Hindi	,,	2 0 0
Matri Darshan	Gujrati	,,	2 0 0
Matri Darshanan	Sanskrit	,,	1 8 0
Mother as Revealed to Me (English Version of Matri Darshan)	English	,,	2 0 0
Sadvani	Bengali	Bhaiji	1 0 0
Sadvani	Hindi	,,	1 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	Bengali I	Gurupriya Devi	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, V	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VI	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VII	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, VIII	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IX	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	Hindi I	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2 0 0
Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2 0 0
Ma Anandamayi	Hindi	Dr. Pannalal	2 0 0
Matri Lila Sankirtan	Bengali	,,	0 5 0
Matri Lila Sankirtan	Hindi	,,	0 5 0
Akhanda Mahayajna	Bengali	Gurupriya Devi	2 8 0
Akhanda Mahayajna	Hindi A	,,	2 8 0
Akhanda Mahayajna		,,	1 8 0
Ma Anadamayi Upadeshamrita	Bengali	,,	1 8 0
Ma Anadamayi Upadeshamrita	Hindi	Devotees	3 0 0
Mother as seen by Her Devotees	English		2 0 0
Kirtan Rasaswarup	Bengali		1 8 0
Sanobali Mayer Katha (for Children)			1 0 0
Nandini Ma			0 8 0
Do			
Anandavarta			

PHOTOS & BLOCK PRINTS OF SRI SRI MA

Album (Photo Print)	Rs. 50/-	7.	Photo Print	As 1/8/-
,, (,,)	Rs. 30/-	8.	,, ,,	Re. 1/-
,, (Block Print)	Rs. 1/8/-	9.	,, ,,	As. -/8/-
Photo Prints	Rs. 15/-	10	Marble Blocks	Rs. 5/-
,, ,,	Rs. 10/-	11.	Block Print (Seashore)	Re. 1/-
,, ,	Rs. 5/-	12.	,, ,. (Chuda)	Re. 1/-

Ananda Varta

LIBRARY
No. ....
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

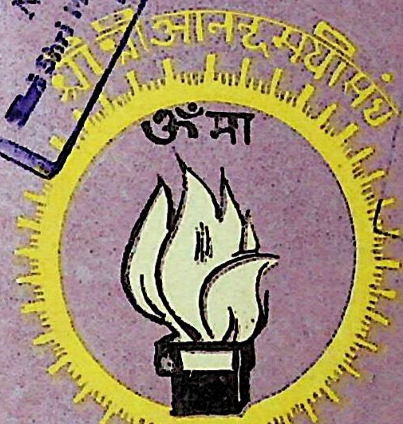
श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram

मातृ शरणं

NOVEMBER, 1957

VOL. V NO. 3

HINDI & ENGLISH

CONTENTS

HINDI SECTION

Page No.

1. मातृ-वाणी 161
2. अमर-वाणी—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी की व्याख्या के साथ ... 163
3. अनुकम्पा-धारा—श्रीचरणकमलाश्रित 172
4. एक डाक्टर के अनुभव 177
5. मातृ-सत्संग—श्री रघुनाथदास गोस्वामी 'कान्ति भाई' 178
6. मां को खोकर मां को पाया—गोपाल 189
7. भक्ति साधना की एक झलक—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी एम॰ ए॰, डि-लिट्॰ ... 194
8. रहस्यानुभूति की उदात्त भावना—श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, एम॰ ए॰, डी-लिट्॰ ... 198

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Mataji's Amara Vani 201
2. Relativity of Perfection—Lama Anagarika Govinda 208
3. Rubric for Westerners—Vijayananda (Dr. A. J. Weintrob) 212
4. From The Life of Sri Sri Ma Anandamayi 218
5. A Divine Call—Krishnanand Pant Shastri, M. A., M. O. L. 224
6. Diary Leaves 228
7. Matri Lila 233

Price : Rs. 1/8/-

Annual subscription (for four issues). India Rs. 4/-, Foreign Rs. 5/-

---

Published by—Brahmachary Kamal Bhattacharjee
for Shree Shree Anandamayee Sangh, Banaras.
Printed by—Sri B. Dutt at the Eureka Printing Works Private Ltd., Banaras.

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

ĀNANDA VĀRTĀ
अमर आत्मा—अमरपन्थी स्वयम्—अपने आप

VOL. V]   NOVEMBER, 1957   [NO. 3

मातृ-वाणी

(विभिन्न लोगों के पत्रों के उत्तर में श्री श्री मां ने जो उपदेश दिये हैं उनका संक्षिप्त संकलन)

(१६१)

इधर उधर बोध न रहे यही तो हम लोगों को चाहिये। यद्यपि हम लोगों के सहायक स्थान पहले से ही लेने होंगे। एकान्त में रहना तो एक कांत को लेकर रहना है न पिताजी। मानव निःसंग और निश्चिन्त होने पर ही तो निर्द्वन्द्व होगा। पिताजी को लिख दो—पिताजी की चिन्ता का तो कोई कारण नहीं है। एक तो महान पुरुष की कृपा सदा वर्षा के तुल्य निरंतर बरस रही है। इस जीवन में एक उन्हीं को पाने का जिसका एकमात्र लक्ष्य है वह तो उनका आश्रय पाये बैठा है। भले ही सम्प्रति अभाव रूप में उसका प्रकाश हो।

(१६२)

आत्मस्थ और आत्मदर्शन की बात जो सुनी जाती है यह तो केवल सुननामात्र ही है, उसे ग्रहण करने के उपाय की तो आवश्यकता है। इसलिए जिस मार्ग को पकड़ कर हमें इन्हें पकड़ने में सहायता प्राप्त होती है वही रास्ता तो हमें पकड़ना उचित है। यह जो देखते हो—सोचो न हवा चलती है यदि हवा न चले तो हमारा शरीर न रहे। सोचो तो वह हवा पेड़, पत्थर, जीव, जन्तु आदि किसमें नहीं है ? तुम लोग क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर क्या-क्या सब कहते हो न ? उन्हीं का एक सहारा लेकर हम लोगों के समझने की सहायता के लिए बात कही जाती है। जैसे कहा जाता है, सत् चित् आनन्दस्वरूप। सत्य जब चैतन्य हो तभी तो आनन्द है। हम लोग लौकिक दृष्टि से सदा जिसे स्थूल रूप से चेतन और अचेतन के प्रकाशरूप में देखते हैं वास्तव में उसमें वही सत्य चैतन्य नित्य ओतप्रोतरूप से विराजमान है। उसको सर्वसाधारण को पहचान नहीं होती। वह विचार आने पर जैसे देवपूजा आदि करते समय प्राणप्रतिष्ठा आदि करनी पड़ती है उसी प्रकार पहले हम लोगों को प्राण जो वायु रूप में सदा हमारे भीतर (बाहर भीतर बुद्धि है, इसीलिए

भीतर लिखा है) निरंतर क्रिया करते हैं। तभी तो हम लोग मैं, तुम, साकार, निराकार कहते है। सदा ध्यान रखना चाहिये कि प्राणवायु जैसे हमारे भीतर व्यापक भाव से एक अविच्छिन्न रहता है, ये कौन हैं? ये हमारे उसी सत्य चैतन्य के एक रूप हैं, इस रूप में उनका प्रकाश है। हम लोग यदि गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्रादि लेकर उस प्राण की संगति कर सकें एवं यदि किसी समय मंत्र न रहने पर भी केवल प्राण का संग कर सकें तो हमारे मन की स्थिरता में सहायता होगी और प्राणों के प्राण जो अखण्ड नित्य हैं उनकी खोज में सहायता मिलेगी। जहां सच्चिदानंदस्वरूप नित्य लीला है, उसका दर्शन तो जितेन्द्रिय अतीतेन्द्रिय का प्रकाश हुए विना नहीं हो सकता। और उसका प्रकाश न होने तक आत्मदर्शन, अन्तःस्थिति का प्रकाश दुर्लभ है। आत्माराम की नित्य लीला के रूप में प्रकाश होने पर ही तो एकात्मवोध होता है। यह चञ्चल वायु एक ही छन्द से हम जो कुछ करते हैं जिस ओर मन लगाते हैं उसका छन्द ठीक घड़ी के कांटे के तुल्य यद्‌यपि Fast slow का प्रकाश क्षणिक होता है, अविरत काम करता जाता है वैसे ही प्राण वायु की ओर मनको लगाने की चेष्टा करो, ऐसी स्थिति में मन को वाह्य दृश्य में घूमने फिरने के लिए चहार दीवारी की आड़ हो जाती है। देखो न चञ्चल वालक को एक बार पकड़कर घर में लाकर खेलने की चीज दी जाय, तो क्षणिक होने पर भी उससे वह स्थिरता धारण करता है। चञ्चल को शांत करने के लिए एक लक्ष्य का ही एकमात्र आश्रय अपेक्षित है। सद्भाव का स्वरूप सत्संग है उसका जितना अधिक संग होगा उतनी ही मनोवाञ्छा पूर्ण होकर शांतरूप धारण करेगी। वुद्धि और अहंकार की सहायता से मन और प्राण संगवांध कर काम करेंगे। असल वात क्या है जानते हो? अखण्ड धारा को ही अखण्ड का प्रकाश समझना चाहिये।

—]○[—

अमर-वाणी

(महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराजजी की व्याख्या के साथ)

चौबीस

प्रश्न—जब जगत् से अतिरिक्त वे नहीं है, तब जगत् के रख रखाव के लिए आग्रह क्यों ?

माँ—आग्रह तो नहीं है, जगत् है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता—किसी-किसी के मत में ऋषि मुनि जो ब्रह्मसाक्षात्कार कर जगत् को खो चुके हैं वे अपूर्णदृष्टि हैं। और उनके मत में यही नाम रहेगा, यही रूप रहेगा—यह मानो सोने के पत्थर की थाली हो।

माँ—उनके साथ तुम्हारा अभेद तो है नहीं—अपने को पृथक् रखकर ही तो जगत् के उद्धार की बात हो रही है। (जगत् उद्धार के किसी प्रसंग में उन्होंने कहा) जो मकान विद्यमान है, उसके साथ तो हमारा परिचय नहीं है, एक नवीन राज्य की स्थापना के लिए इच्छा रही हो है। विश्व ब्रह्माण्ड में सभी को 'तत्' मानकर वे उन्हें चला रहे हैं, यह कहा जा सकता है।

यह जो जगत् है यह यदि इसी प्रकार रहे तो जगद्दृष्टि है। फिर जगत् की बातें करने पर हमारा क्या आया क्या गया ? जगत् को अलग मानकर उड़ा देने का प्रश्न ही नहीं है ? जगत् है या नहीं इसका भी प्रश्न नहीं है।

यह जो कहता है कि भेद रूप से भी वे हैं अभेद रूप से भी वे ही हैं—जैसे कि जल और बरफ। जल को जिस समय बरफ कहते हैं—स्थान और आकार का जहाँ प्रकाश है, वहाँ आकार भी है उसे क्यों नहीं पकड़ते हो ? वाष्परूप जलीयरूप धारण करेगा ही नहीं।

प्रश्नकर्ता—परिणामवाद तक भेद भी है और अभेद भी है।

एक व्यक्ति—जगत्-ज्ञान बहुत्व का ज्ञान है और ब्रह्मज्ञान एकत्व का ज्ञान है—दोनों एक जगह रहें कैसे ?

प्रश्नकर्ता—ब्रह्म का एकत्व बहुत्व का विरोधी नहीं है। साधारणतः चार भूमियां कही गई हैं—

(१) यदि केवलमात्र जगत् या बहुत्व भासे तो यह अज्ञानी की भूमि है।

(२) यदि कभी जगत् अर्थात् बहुत्व भासे कभी एकत्व या ब्रह्म भासे तो यह योग की निर्विकल्प समाधि भूमि है।

(३) ब्रह्म की गोद में जगत् भासता है।

माँ—भासता है बात रही तो।

प्रश्नकर्ता—जगत् नहीं है इसी प्रकार से भासता है। प्रकाश यदि अन्धकार को विनष्ट कर चुका तो फिर अन्धकार कैसे दिखता है ? ब्रह्म सभी का साधक हैं किसी का भी बाधक नहीं है। जो चैतन्य है वही घड़ा है। उनके मत में घड़ा भी है और चैतन्य भी है। मैं कहूंगा घट भी या चैतन्य भी वही है।

माँ—तुम कहते हो—उस आकार में।

प्रश्नकर्ता—मैं आकार का मूल देखता हूँ। मेरा लड़का ही राम बना है। ब्रह्मज्ञान में यदि जगत्ज्ञान न रहे तो जीवन्मुक्त सिद्ध नहीं होगा। जीवन्मुक्त होने पर जगद्व्यवहार उसके लिए संभव नहीं। अग्नि, जल सब कुछ ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति में वह जल न पीकर आग भी पी सकता है।

किसी-किसी के मत में जब तक यह देखा जाता है तब तक पूर्ण अवस्था नहीं होती। इसके ऊपर की अवस्था भी है। जहाँ द्वैत निश्शेष हो जाता है। वहाँ एकमात्र अद्वैत की प्रतिष्ठा रहती है। इसी को पूर्वोक्त चतुर्थ भूमि समझिए। ये सब योग की सप्त भूमियों की भूमिकाएँ नहीं है।

मेरे मत से तीसरी भूमि ही श्रेष्ठ है—उसमें अद्वैत की गोद में द्वैत खेलता है। अर्थात् उस भूमि में द्वैत में अद्वैत है और अद्वैत में द्वैत। जीवन्मुक्त हँसता है, खेलता है, टहलता है फिर भी उसका 'मैं मुक्त हूँ' ज्ञान पूर्णरूप से बना रहता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'नेति नेति'—इन दोनों के मध्य कोई विरोध नहीं है। भूमिका में खण्ड अखण्ड दोनों एक जगह में हैं, किन्तु दोनों में पत्र-पुष्प का भेद रहने पर भी वृक्ष एक ही है—इसी तरह अखण्ड में खण्ड का भेद मैं नहीं मानता। मेरी यह समझ की भूल तो नहीं है ?

माँ—जो जहाँ से जो कुछ कहता है सभी ठीक है। चाहे ध्यान से प्राप्त हो चाहे समाधि से प्राप्त हो ऐसी एक स्थिति है जहाँ एक के सिवा दो देखने का अवकाश ही नहीं है। दो का जो व्यवहार है उसकी वहाँ पहुँच नहीं। उसका जब व्यवहार दिखे तब शायद कोई कहेगा कि नीचे उतर कर व्यवहार करते हैं। एम० ए० पास कर क, ख पढ़ने पर क्या एम० ए० पास चला गया ? कोई ऐसी एक जगह है जहाँ फिर दूसरा कुछ भी नहीं भासता। गंगाजी में डुबकी लगाने पर अवश्य सर्वाङ्ग भीग जायगा।

एक सत्ता में स्थिति होने पर फिर च्युति होती ही नहीं, इस स्थिति की अपरिपक्वावस्था में बार-बार च्युति होती है, फिर मानो उसे उसी अवस्था में खींच लेती है। वहाँ दो प्रकार हैं किन्तु अवस्था चमत्कारमय है—यह अज्ञान की स्थिति नहीं है, उससे आगे की अवस्था भाव की अवस्था है। भाव में आता है जाता है, डूबता है उतराता है। उसके बाद फेंक दिया, मानो जड़ पत्थर ही हो गया। इस पत्थर का स्पर्श किये बिना यदि कोई एक में स्थित हो जाय—खींचातानी रहे तो समझना चाहिए कि परिपक्वावस्था नहीं है। किन्तु चमत्कार अवस्था है। जैसे कोई ठण्डी जगह है, वहाँ से बाहर आने पर गरमी लगती है। उसके बाद परिपक्वता आती है यानी डूब गया। डूब जाने के बाद तो व्यवहार तुम देखते हो यानी देखने वाला व्यवहार देखता है। किन्तु वह न जाता है, न खाता है और न देखता है।

प्रश्नकर्ता—यह तो सत्य का अपलाप करना है—खाता है और खाता नहीं; जाता है और जाता नहीं—यह कैसे ?

माँ—जब डूब गया—तब स्थित होना होगा। बाहर भीतर एक हो गया। मैं खाती हूं तुम्हारे समान, मैं जाती हूं तुम्हारे तुल्य। खाता है और खाता नहीं यह कहने पर यदि विरोध प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि एक टुकड़ें (खण्ड) ज्ञान का ब्रह्मज्ञानी है। बंधेगा कहां ? बांधने पर खण्ड होगा। इसीलिए कहते हैं कि कोई प्रश्न नहीं है। ऐसी स्थिति में असल बात यह है कि नींद और समाधि में भेद है। सोना और पीतल देखने में एक से हैं पर एक नहीं है ? सोना स्पर्श करने पर सोना ही हो जाता है।

जो ब्रह्मभूमि में वर्तमान हैं वे छोटी मोटी बातें देखेंगे कैसे ? ऐसी शंका हो सकती है। तुम्हारी दृष्टि है, इसलिए तुम विरोध देखते हो। ज्ञानी अज्ञानी का प्रश्न नहीं है। ज्ञानी कहने पर भी अपने को एक जगह खड़ा कराना हुआ। अपने को पाना किस प्रकार का होना चाहिये ?—सर्वाङ्गीण रूप से होना चाहिये। जो तुम रहे, रहे क्यों जो तुम हो अर्थात् तुम्हारा जो स्वरूप है उसीका प्रकाश होना। जिस लाइन में जिस भाव को लेकर जो जैसा कहे (सब ठीक है)। तुम भी जैसा कहते हो पैर नहीं चलता है, नेत्र नहीं है देखता है—यदि किसी क्षेत्र में किसी तरह आकार से प्रकार से जिस किसी के मध्य में हां के मध्य में 'ना' के मध्य में बंधे तो समझना चाहिये वह पूर्ण नहीं है। जो जहां से कहता है वहाँ से उसी तरह दिखाई देता है, क्योंकि स्थान रहता है समय रहता है। यह शरीर सत्य का अपलाप नहीं करता—सत्य ही कहता है, सब कुछ ठीक है जहां से जो जो कुछ कहता है।

प्र० क०—जो जो कुछ कहता है सब यदि ठीक हो तो कल्पना कीजिये कि कोई विश्वनाथजी के दर्शनों के लिए दुर्गाजी के मन्दिर में जाकर कहे कि यही विश्वनाथ हैं, यह भी क्या ठीक है ?

मां—ऐसा एक स्थान है जहाँ से कहा जा सकता है कि हां, यह विश्वनाथ हैं। क्योंकि उस समय वह वही हो जायेंगे।—जितने दिन के जहां के विश्वनाथ हैं उन्हीं का प्रकाश होगा। सब में सब जो है और यह भी कहा जा सकता है—नहीं यह दुर्गामन्दिर है, विश्वनाथ अन्यत्र हैं। सभी तरह से कहा जा सकता है।

प्र० क०—सभी का कथन यदि ठीक है तो शंकर तो ब्रह्मज्ञानी थे उन्होंने पूर्वपक्ष का खण्डन क्यों किया ?

मां—जहां से जो कुछ करने की आवश्यकता होती है वह हो जाता है। वृक्ष के अग्रभाग में वृक्ष की जड़ है, क्योंकि सब जगह बीज है ही—विरोध नहीं है।

—०-०—

व्याख्या

चौबीस

१—ब्रह्मज्ञानी—

मां ने कहा है, 'है और नहीं है कहने पर यदि विरोध प्रतीत हो तो खण्ड ज्ञान का ब्रह्मज्ञानी है।' अर्थात् यथार्थ ब्रह्मज्ञान में जब स्थिति होती है तब खण्ड भाव नहीं रहता एवं उसमें किसी प्रकार का विरोध भी प्रतीत नहीं होता। जागतिक दृष्टि से जहां साफ साफ विरोध की प्रतीति होती है ब्रह्मदृष्टि में वहां उसका आभासमात्र भी नहीं दीखता। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, इस अद्वितीय अखण्ड एक सत्ता का यदि भान हो जाय तो फिर द्वितीय का भान होने की संभावना नहीं रहती। और द्वितीय का भान न होने पर विरोध की संभावना कैसे हो सकती है? भगवान शङ्कराचार्य के परमगुरु आचार्य गौड़पाद ने इसी लिए ब्रह्मज्ञान की अवस्था में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह सकता, ऐसा उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—

> स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म्।
> परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥

अर्थात् जो लोग द्वैतवादी या भेदवादी हैं उनका अपने अपने सिद्धान्त की व्यवस्था में दृढ़ आग्रह है। इसी लिए एक द्वैतवादी के साथ दूसरे द्वैतवादी का स्वभावतः ही विरोध होता है। किन्तु जो अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञानी हैं उनका विरोध किसी के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि वे सबको अपने साथ एक और अभिन्न समझते हैं। भेददर्शन के अभाव में विरुद्ध भाव का उदय नहीं होता। भगवान शङ्कराचार्य ने भी कहा है— "सर्वानन्यत्वाद् आत्मैकत्वदर्शनं वस्तुषु न विरुद्धयते।" अर्थात् सबके साथ अनन्य अर्थात् अभिन्न होने के कारण आत्मा का एकत्वदर्शन किसी का भी विरोधी नहीं है। एक ही वस्तु अनन्त विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हो रही है। किन्तु इस अनन्त वैचित्र्य में भी वस्तु का स्वप्रकाश एकत्व रत्तीमात्र भी क्षुण्ण नहीं होता। वास्तव में वैचित्र्य अथवा नानात्व भी कल्पित या आरोपित दृष्टि से कहा गया है। उस परम स्थिति में एक ही परम सत्य का भान होता है। लोकदृष्टि में अर्थात् व्यवहारक्षेत्र में नानात्व का भान होता है, किन्तु वहां अर्थात् ब्रह्मदृष्टि में नानात्व का तिरोधान भी नहीं होता, स्फुरण भी नहीं होता। सब कुछ महान् अखण्ड एक सत्ता में प्रकाशरूप से स्फुरित होता है। मां जो कहती हैं उसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में स्वप्रकाश एकत्व में किसी प्रकार का भी विरोध विघ्नबाधा नहीं पहुँचा सकता। इस अवस्था में बाहर भीतर एक हो जाता है—अधः ऊर्ध्व एक हो जाता है, अतीत और अनागत एक हो जाता है; परम अणु और परम महान् एक हो जाता है। साकार निराकार, सगुण निर्गुण, सक्रिय और निष्क्रिय सब द्वन्द्व एक ही महान् प्रकाश के अन्तर्गत दिखाई देते हैं। यह ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण ब्रह्मज्ञान है। यह अखण्ड है। देशगत, कालगत तथा आकारगत, भावगत कोई भी परिच्छेद इसमें नहीं रहता। द्वितीय होकर या द्वितीय रह कर महाज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। स्वयं ब्रह्म न हो सकने पर अर्थात् स्वयं नित्य सिद्ध ब्रह्मभावमें स्थितिलाभ न कर

सकने पर इस तरह के अखण्ड ब्रह्मज्ञान का लाभ अथवा धारण नहीं बन सकता।

जिसे जागतिक दृष्टि में द्वैत अथवा नानात्व कहा जाता है, जो लौकिक दृष्टि में परस्पर विरुद्ध रूप से प्रतीत होता है, वह इस महाज्ञान में इस परम स्थिति में एक अखण्ड महासत्त्व के रूप में अपने को प्रकट करता है। इस अवस्था का उदय होने पर अर्थात् इस अवस्था में स्थिति होने पर च्युति या पुनरावर्तन की आशङ्का सदा के लिए निवृत्त हो जाती है।

प्रश्नकर्ता ने प्रसंगवश चार भूमियों का वर्णन किया है। उनमें पहली भूमि अज्ञानी और संसारी जीव की भूमि है। दूसरी भूमि में एकत्व का भान होता है ऐसा उन्होंने उल्लेख किया है, किन्तु वह स्थायी नहीं है। उन्होंने उसे निर्विकल्पक समाधि-सिद्ध योगी की भूमि कहा है। यह कहना व्यर्थ है कि यह जो एकत्व का ज्ञान है यह विशुद्ध नहीं है। क्योंकि यदि यह विशुद्ध होता तो खण्डित न होता। क्षणभर के लिए भी यदि स्थिति-भङ्ग हो जाय तो वह स्थिति पूर्ण स्थिति नहीं है यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि पूर्ण स्थिति या परम भूमि का लक्षण यही है—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते।" अर्थात् उसे प्राप्त कर उससे फिर लौटना नहीं पड़ता। कारण, आचार्यों ने उसका 'सकृत् विभात' के नाम से वर्णन किया है। अर्थात् उसका एक ही बार प्रकाश होता है एवं वही प्रकाश चिरस्थायी है। उसका बार बार प्रकाश नहीं होता। प्रकाश के बाद अप्रकाश आने पर बार बार प्रकाश की संभावना रहती है। प्राचीन वैष्णव दार्शनिकों ने इस प्रकार की स्थिति का शान्तोदित स्थिति के नाम से उल्लेख किया है। अर्थात् इसके उदय और अस्त हैं या आविर्भाव और तिरोभाव हैं। जो वास्तविक परम स्वरूप है वह शान्तोदित नहीं है, वह नित्योदित है। अर्थात् उस अवस्था के उदय के बाद फिर उसका अस्त नहीं होता। प्रश्नकर्ता की द्वितीय भूमि परम भूमि नहीं है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उन्होंने जिसे तीसरी भूमि कहा है उसी अवस्था में एकत्व की गोद में बहुत्व भासता है अर्थात् ब्रह्म का आश्रय कर अनन्त विचित्रताओं से भरा जगत् भासता है। अवश्य प्रश्नकर्ता ने यहां जगत् को मिथ्या ही कहा है। सत्य का आश्रयण कर मिथ्या भासमान होता है, यही इस अवस्था की विशेषता है। यह ठीक भेदाभेद अवस्था है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भेदाभेद अवस्था में भेद और अभेद दोनों ही सत्यरूप में गृहीत होते हैं। दोनों में विरोध नहीं दिखाई देता, वह समन्वय की दृष्टि है। किन्तु इस तृतीय भूमि में अभेद सत्य है, क्योंकि वह ब्रह्मका स्वरूप है एवं भेदात्मक जगत् भासमान होने पर भी सत्य नहीं है। वह बाधितानुवृत्त है। एक बात है। सत्य का पारमार्थिक रूप के सिवा जैसा एक व्यावहारिक रूप है वैसा ही एक प्रातिभासिक रूप भी है। तृतीय भूमि में ब्रह्म की गोद में भासमान जगत् यदि प्रातिभासिक सत्य रूप में गृहीत हो तो ऐसी स्थिति में वह भूमि भेदाभेद रूप में वर्णित हो सकती है या नहीं यह विचारणीय है। अवश्य जगत् को सत्य मान कर भी ब्रह्म के आश्रय से उसकी प्रकाशमानता नहीं मानी जा सकती, ऐसी बात नहीं है। अङ्गी का आश्रय कर अङ्ग की सत्ता का बहुत से दार्शनिकों ने स्वीकार किया है एवं उस स्थल में अङ्ग का मिथ्या होने से वे प्रत्याख्यान नहीं करते हैं। इस विषय में बहुत प्रकार की दृष्टियां हैं, यहां उनकी आलोचना करना अप्रासंगिक

होगा। प्रश्नकर्त्ता के मत से जो चतुर्थ भूमि है वही विशुद्ध अद्वैत भूमि है। उस भूमि में द्वैत का भान बिलकुल नहीं रहता। यह भूमि और मां द्वारा उक्त पूर्ण ब्रह्मज्ञानी की स्थिति-भूमि सर्वथा एक ही है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। मां के विवरण का ध्यानपूर्वक मनन करने पर दोनों भूमियों में भेद प्रतीत होता है, यह अनेक लोगों को स्पष्ट हो सकता है। अर्थात् लौकिक दृष्टि से जिसे द्वैत कहा जाता है उसे हटा कर या उसका अतिक्रमण कर अद्वैत स्थिति एवं उसका ग्रहण या आत्मसात् कर अद्वैत स्थिति—दोनों में भेद है। अवश्य स्थिति के स्वरूपगत एकत्व के सम्बन्ध में प्रकाशांश की दृष्टि से किसी प्रकार के पार्थक्य का विश्लेषण करना संभव नहीं है।

२ सर्वाङ्गीण रूप से अपने को पाना—

माँ कहती हैं, पूर्णब्रह्मभूमि में स्थित हुए बिना अपने को सर्वाङ्गीण रूप से पाना नहीं बनता। जिस दृष्टि में ब्रह्म विश्व के अतीत है उस दृष्टि के अनुसार सर्वतत्त्वमय विश्व का अतिक्रम न कर सकने पर ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता। वस्तुतः यह विश्वातीत, निर्गुण, निष्कल, परब्रह्म का साक्षात्कार है। दूसरे पक्ष में विश्व के प्रत्येक अणु परमाणु में उस परब्रह्म का आत्मप्रकाश है—यह अनुभव प्राप्त होने पर स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है कि जिसको लोग विश्व कहते हैं या जगत् कहते हैं वह भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। अर्थात् विश्व ब्रह्म है एवं विश्व के बाहर भी ब्रह्म है। इस स्थल में ब्रह्मदर्शन करना हो तो विश्व के बाहर भी लक्ष्य करना होगा ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि वही ब्रह्मसत्ता—एक ही रूप से, अक्षत स्वरूप से विश्व में भी देदीप्यमान है। यह ब्रह्मसत्ता ही पूर्ण ब्रह्म है। इस स्थल में भीतर और बाहर समान हैं और साकार तथा निराकार अभिन्न हैं। क्योंकि जो निराकार है वही तो साथ हो साथ साकार भी है एवं जो साकार है वह साकार रहकर भी निराकार है। साकार और निराकार इन दोनों का अभिन्न रूप से दर्शन ही पूर्णब्रह्मसाक्षात्कार है। केवल साकारदर्शन ब्रह्मदर्शन हो सकता है, किन्तु वह पूर्णब्रह्मदर्शन नहीं है। केवल निराकारदर्शन भी ब्रह्मदर्शन हो सकता है, किन्तु वह पूर्णब्रह्मदर्शन नहीं है। पूर्ण ब्रह्म कहने से साकार और निराकार का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। साकार और निराकार का जो विरोध है, वह जागतिक दृष्टि का विरोध है। स्वरूप एक ही है। इस एक ही स्वरूप का दर्शन पूर्ण ब्रह्मदर्शन है। यही आत्मदर्शन है। मां ने इसी को सर्वाङ्गीण रूप से अपने को पाना कहा है। यह न होने पर भी अपने को पाया जा सकता हैं, पर आंशिक रूप से, सर्वाङ्गीण रूप से नहीं। सर्वाङ्गीण आत्मदर्शन होने पर जगत् में सब कुछ एक ही है ऐसा ज्ञात होता है। उस समय किसी की भी दृष्टि को मिथ्या मानकर उसकी उपेक्षा करने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए मां ने बहुत बार बहुत जगह स्पष्ट किया है कि जहां से जो जो कुछ कहता है वहां से वही ठीक है। एक स्थान के साथ दूसरे स्थान का विरोध दिखाई देने पर दर्शन दर्शन में विरोध प्रतीत होता है। किन्तु सभी स्थान या अङ्ग एक ही अङ्गी के आत्मरूप हैं; यह समझ सकने पर किसी भी दर्शन को मिथ्या मान कर उसका त्याग करना नहीं बनता। कोई दर्शन मिथ्या नहीं है, पर खण्ड है। अखण्ड में सबका महा समन्वय विद्यमान है।

३ एक में अनन्त का प्रकाश—

जो लोग जागतिक विरोधदृष्टि से पूर्ण सत्य में भी विरोध के संभव की आशङ्का करते हैं वे सोचते हैं कि

विशेष अवस्था में जागतिक विरोध स्वीकार न करना संभव नहीं है। प्रश्नकर्त्ता ने दृष्टान्तरूप से इस शङ्का का उत्थापन करने के लिए जिज्ञासुभाव से जिज्ञासा की है—विश्वनाथ-दर्शन की इच्छा से दुर्गामन्दिर में जाकर दुर्गा को यदि कोई विश्वनाथ माने तो क्या वह ठीक होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जान लेना होगा कि विश्वनाथ के दर्शन चाहने वाला यात्री कैसा अधिकारी है। यदि उसको भक्त जन के रूप में, योगी के रूप में अथवा विश्वनाथजी के दर्शनों की तीव्र लालसा से सम्पन्न व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जाय तो लोकदृष्ट दुर्गाप्रतिमा के दर्शन कर के भी वह यदि कहे कि यह विश्वनाथ हैं तो उसका वाक्य मिथ्या नहीं होगा। वह सचमुच वहाँ दुर्गाप्रतिमा के बदले विश्वनाथजी का दर्शन प्राप्त करेगा। अवश्य यह उसकी एकान्त भक्ति और तीव्र इच्छा का फल है। किन्तु वास्तव में इसका मूल रहस्य यह है कि लोगों की दृष्टि में दुर्गा और विश्वनाथ में व्यवधान रहने पर भी वास्तव में कोई व्यवधान नहीं है। क्योंकि एक ही के तो अनन्त रूप हैं। भक्त या योगी यदि तीव्र इच्छा का विकास कर सकें तो जिस किसी स्थान से जिस किसी वस्तु का आकर्षण कर सकता है। यह सदा से होते आया है और होगा। इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि "सर्वं सर्वात्मकम्"—सब जगह सर्वसत्ता ही विद्यमान है। क्योंकि मूल में सभी एक सत्ता ही है—विभिन्न रूपों में भी। कारणसामग्री के द्वारा अभिव्यक्त कर सकने पर जिस किसी स्थान से जिस किसी रूप की अभिव्यक्ति हो सकती है। क्योंकि किसी भी स्थान में किसी का अभाव नहीं है। यह समझ में आ सकने पर लौकिक विरोध वस्तुतः विरोध नहीं यह समझना सहज होगा। देशगत विरोध, कालगत विरोध, भावगत विरोध, आदर्शगत, गुणगत, प्रकृतिगत सभी विरोध हट जाते हैं। खण्ड दृष्टि में विरोध है, था और रहेगा। अखण्ड दृष्टि में या योग-दृष्टि में विरोध का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। क्योंकि विरोध के धर्म हैं परस्पर एक दूसरे के साथ नहीं रहना एक ही अधिकरण में अनन्त विरुद्ध धर्म विद्यमान रहते हैं, यह स्वीकार करने पर वास्तव में विरोध का अरितत्व रहेगा कहां ! इससे लौकिक दृष्टि के विरोध ज्ञान का अपलाप नहीं किया जाता। अतएव पूर्ण ब्रह्म का उदय होने पर कोई भी विरोध वहां बाधक नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में भी विशेष अवस्था में प्रयोजनवश विरुद्धवत् कार्य का अनुष्ठान संभव हो सकता है। उससे ज्ञान के अस्तित्व के संबन्ध में सन्देह करना उचित नहीं है। मां ने कहा है—जहां से जो कुछ करने का प्रयोजन रहता है उसमें कुछ भी नहीं छूटता। स्थिति एक में निश्चल होने पर अनन्त चलन भी स्थिति के विरोधी नहीं होते, यह कहना निरर्थक है।

४ एक सत्ता में स्थिति—

माँ कहती हैं एक सत्ता में स्थिति दो प्रकार की है—अपरिक्व और परिपक्व। अर्थात् उस स्थिति का लाभ होने के बाद भी यदि उससे च्युति हो जाय तो ऐसी स्थिति को वास्तविक स्थिति नहीं कहा जा सकता। उसी को मां ने अपरिपक्व स्थिति कहा है। यदि उस स्थिति-लाभ के बाद उससे च्युति या पुनरावृत्ति न हो तो उसे परिपक्व अवस्था समझना चाहिये। इस प्रसङ्ग में एक विषय विशेष-रूप से ध्यान देने योग्य है। यह जो अपरिपक्व स्थिति की बात कही गई है उसे कोई प्राकृत या मायिक स्थिति न समझें। क्योंकि वह भी अज्ञानातीत अवस्था है। भावसाधना से भावसमाधि प्राप्त होने पर इस स्थिति

की प्राप्ति होती है। भक्त लोग भावराज्य में संचरण करते करते पारापारी से विरह और मिलन की अवस्था का अनुभव करते हैं। विरह वियोग की अवस्था है और मिलन है योग की अवस्था। किन्तु नित्य लीला में वियोग भी नित्य नहीं है और योग भी नित्य नहीं है, किन्तु लीला नित्य है। इसलिए लीला की नित्यता के अनुरोध से विरह या वियोग का अन्त होता है। मिलन के आनन्द से विरह का तिरोधान हो जाता है। मिलन की परावस्था सुशीतल शान्ति पूर्णअवस्था है। किन्तु यह मिलन स्थायी नहीं रहता। कुछ क्षण संभोग के बाद उसका भङ्ग हो जाता है फिर विरह जाग उठता है। अष्ट कालीन लीला में प्रतिदिन कुञ्जभङ्गलीला इसी लिए होती है। किन्तु यह सत्य है कि यद्यपि उस मिलन का आनन्द मिलन के बाद नहीं रहता। फिर भी प्रबल ताप विरहाग्नि में भी एक प्रकार के आनन्द का अनुभव अनुस्यूत रहता है, क्योंकि इसमें त्रिताप की क्रीड़ा नहीं है, काल का कलना नहीं है, प्रकृति का परिणाम नहीं है तथा अहमिका की टक्कर नहीं है। किन्तु तथापि विरह विरह ही है। उसका ताप क्रमशः असह्य हो उठता है। इसके बाद फिर जब मिलन संघटित होता है तब पूर्ववर्ती मिलन की अपेक्षा अधिक आनन्द या रस का आस्वादन प्राप्त होता है। इस प्रकार अनन्त लीला के पथ पर रसकी साधना में योग और वियोग का चक्र चलता रहता है। इस भूमि को माँ ने अति संक्षिप्त भाषा में खींचातानी की भूमि कहा है। अर्थात् एक बार साधक भगवत्सत्ता के आकर्षण से उसमें प्रविष्ट होता है फिर वहां से च्युत होकर बाहर निकल पड़ता है। आकर्षण उसका अनुग्रह है और धक्का देकर बाहर निकाल देना ही उसका निग्रह है। यह खींचातानी की अवस्था भावसाधना के मध्य निरन्तर रसास्वादन में सूक्ष्मरूप से अनुस्यूत रहती है। किन्तु ऐसी एक स्थिति है जिसमें अपक्व अवस्था में प्रवेश नहीं होता। यह कहना निरर्थक है कि पूर्वोक्त भाव की अवस्था भी अपक्व अवस्था के सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि उस में आगम-निर्गम रहते हैं। किन्तु यह एक चमत्कारावस्था है इसका भी मां ने विशेषरूप से उल्लेख किया है। उक्त रसिक लोग ही इसका रसास्वादन कर पाते हैं, दूसरों के लिए यह दुर्लभ है। किन्तु जिस परपक्व अवस्था की चर्चा ऊपर की गई है, अत्यन्त गहरे में प्रवेश किये बिना वह प्राप्त नहीं हो सकती। उस अवस्था की स्पर्शप्राप्ति का माँ ने जड़ पत्थर के स्पर्श के रूप में उल्लेख किया है—अर्थात् वह अवस्था जड़ की नाईं पत्थर की नाईं निश्चल स्थिरता की अवस्था है। वही पूर्ण सत्य की गूढ़तम स्थिति है। उसका स्पर्श प्राप्त हुए बिना वास्तविक अद्वैत भाव का उदय नहीं हो सकता। उस स्पर्श को प्राप्त कर नाना में भी अपने को अखण्ड एक की सत्ता में अभिन्न रूप से प्रतिष्ठित देखा जाता है। यही परिपक्व अवस्था है। इस अवस्था में द्वन्द्व और विरोध सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। जगत् के विरोधवैचित्र्य, नानात्व सभी वह देखते हैं एवं जगत् की दृष्टि से यह ब्रह्मविद् भी पूर्वोक्त विरोधमय व्यवहार के अन्तर्गत प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में स्वरूपदृष्टि से उस अवस्था में फिर किसी प्रकार के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् के साथ जगत् के अनुरूप भाव से व्यवहार रहने पर भी वह अपनी अद्वैतभूमि में ही सदा विराजमान रहते हैं। उनका नीचे उतरना और ऊपर चढ़ना, भीतर जाना और बाहर आना ये सब वस्तुतः नहीं रहते। लोकदृष्टि से हैं, ऐसा प्रतीत होने पर भी वास्तव में रहते नहीं। पहले अपरिपक्वावस्था में एक में स्थिति अस्थायी है एवं वह अखण्ड भी नहीं है।

इसी लिए वह टूट जाती है एवं कालान्तर में च्युति होती है। किन्तु परिपक्वावस्था में स्थिति नित्य है। इस अवस्था में द्वितीय कुछ भी भासता नहीं। अपने निकट सदा सर्वदा आप ही भासमान रहता है—एक रूप में, नाना रूपों में और एक और नाना के विरोधहीन अद्वयरूप में। यही पूर्ण ब्रह्मभाव में स्थिति का थोड़ा-सा विवरण है।

—:o:—

ॐ

अनुकम्पा-धारा

लेखक—श्री चरणकमलाश्रिता

१-ओग्रम बोदा (पाकिस्तान) में माँ के साथ

"तेरे दर्बार में माता यही बात एक नयी देखी ।
"तुझे देते नहीं देखा मगर झोली भरी देखी ।"
अनुकम्पा की तेरी माँ नहीं सीमा कोई देखी ।
तेरी प्रत्येक बातों में किरपा ही भरी देखी ।
तेरी महिमा की बातें माँ जबाँ से कह नहीं सकती ।
कि लेनेवालों से तेरी देन इच्छा अधिक देखी ॥

माँ के एक भक्त ने दुर्गापूजा पर माँ से ओग्राम बोदा पधारने की प्रार्थना की। भक्तवत्सला माँ भला कैसे न जाती ? कुछ कारणों से बहुत दिनों से माँ के दर्शन नहीं हो सके थे। (मैंने कुछ समय पूर्व, दो-तीन स्थानों में जा-जाकर माँ के दर्शनों की चेष्टा की। परन्तु प्रत्येक स्थान में यही सुनने को मिला कि माँ एक दिन या दो दिन अथवा ३ दिन पूर्व यहाँ से चली गयीं। सोचा, अभी भाग्य में नहीं है, पर निराशा भी बहुत हुई।) पतिदेव की पूजा की छुट्टी आरम्भ हुई तो मैंने उनसे अनुरोध किया कि बोदा, मुझे मां के पास, ले चलें। उन्होंने कहा, 'मां को तार देकर यहां पधारने के लिए प्रार्थना करो न।' मां की सेवा में जवाबी तार भेजा गया तथा मैं उसके उत्तर की अधीरता के साथ प्रतीक्षा करने लगी। जब कई दिन प्रतीक्षा करने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला तो मैंने फिर पतिदेव से आग्रह किया कि 'बहुत दिनों से मां के दर्शन नहीं हुए हैं, हम लोग ही मां के पास बोदा चले चलें।' मां की कृपा से मेरे चलने के लिए राजी हो गये।

पूरे एक दिन रेल से यात्रा करके हम लोग सिलिगुड़ी पहुँचे। वहां पहुँचकर पता चला कि ओग्राम बोदा जाने के लिए वहां से लगभग ३२ मील मोटर से जाना पड़ेगा। हम लोगों ने सोचा 'एक टैक्सी लेकर चलें, परन्तु जब "टैक्सी" तलाश की तो पता चला कि दुर्गापूजा के कारण वहां जो थोड़ी सी "टैक्सियां" थीं, सब घिरी हुई हैं। एक मिली भी, तो टैक्सीवाले ने ६०) रु० या शायद इससे भी कुछ अधिक ३२ मील ले जाने का मांगा। दो दिन बाद मां का सिलिगुड़ी पधारने का प्रोग्राम था। पतिदेव ने कहा, 'यहीं ठहरकर मां की प्रतीक्षा करें।' ऊपर लिख ही चुकी हूं कि पहले २-३. स्थानों से मां का दर्शन न पा, निराश होकर, लौट ही चुकी थी। इस बार भी भय हुआ कि कहीं ऐसा न हो हम लोग सिलिगुड़ी में प्रतीक्षा करते ही रह जायँ एवं मां का कहीं और जाने का हठात् ख्याल हो जाय—उधर से ही किसी और जगह चली जायँ। किसी ने बताया कि यदि कुछ दूर बैलगाड़ी से चलने का कष्ट उठायें तो हम लोग ट्रेन से भी जा सकते हैं। मैंने पतिदेव से फिर अनुरोध किया कि दूसरे दिन प्रातःकाल को ट्रेन से हम लोग चल दें। पहले तो उन्होंने कहा, जब मां यहां आ ही रही हैं तो बेकार ही है एक दिन के लिए जाना। पर अन्त में उन्होंने मेरी बात मान ली।

प्रातःकाल हम लोग ट्रेन से चल दिये। सिलाटी के

स्टेशन पर उतरना था। जब उतर कर प्लेटफार्म पर खड़े हुए तथा ट्रेन हम लोगों को छोड़कर चल दी तब चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। सोचा, किससे पूछें, बोदा कितनी दूर है तथा बैलगाड़ी कहां मिलेगी! रेल के कर्मचारी, कुली आदि सब चारों ओर मुसलमान थे। सोचा, स्टेशन मास्टर से चलकर पता लगायें। उन्होंने बताया १२ – १४ मील बैलगाड़ी से जाना पड़ेगा यह पूछने पर कि बैलगाड़ी कहां मिलेगी। उन्होंने कहा—कुली से मँगाये देते हैं। कुली थोड़ी देर में एक बैलगाड़ी ले आया। उसका हांकनेवाला भी मुसलमान था। उसके चेहरे की आकृति से कुछ विश्वसनीय व्यक्ति नहीं मालूम होता था। पर करते क्या! दूर जाना था, जल्दी न चलने से रात होने का भी भय था। मां का नाम लेकर गाड़ी में बैठकर चल दिये।

बैलगाड़ी की छत बड़ी नीची थी। इसमें सीधे बैठने से सिर छत में लगता था, अतः झुककर बैठना पड़ता था। पतिदेव तंग आकर उतर कर गाड़ी के साथ साथ पैदल ही चलने लगे और कहने लगे कि 'तू जिद करके चली तो आयी, परन्तु यदि यहां हम लोगों को कोई काटकर भी फेंक दे तो हमारी सरकार कुछ नहीं कर सकती।' मैं चुपचाप सब सुनती रही तथा मन में मां को याद करती रही। रास्ते में जब मुसलमानों के गांव पड़ते तो कौतूहलवश वे लोग हम लोगों की गाड़ी आकर घेर लेते। तब तो थोड़ी देर को मेरा भी दिल धड़कने लगता था। एक जगह आकर गाड़ी रुकी। सामने नदी बह रही थी। बैलगाड़ी को नाव पर चढ़ाकर पार करना था। गाड़ीवाले ने कुछ सुस्ता कर चलने का विचार किया। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे उसके मस्तिष्क में कोई हानिकारक विचार चक्कर काट रहा है। खैर, मां का ही भरोसा था। हम लोगों ने कुछ खाकर ठण्डा जल पिया। गाड़ीवाले को भी कुछ भोजन दिया। थोड़ी देर के पश्चात् देखा तो गाड़ीवाला साधारण ढंग से गाड़ी चढ़ाकर चलने को तैय्यार हो गया। मां की कृपा से सायंकाल के लगभग हम लोग सकुशल बोदा पहुँच गये।

उन भाई का, जिनके यहां दुर्गापूजा थी, घर ढूँढ़ने में भी कठिनाई नहीं हुई। मां के दर्शनमात्र से ही सब कष्ट तथा थकान दूर हो गयी। मां के पास उनके कमरे में बैठी, तो मां ने सिरहाने से उठा, कर तहा हुआ एक कागज़ मेरे हाथ में दिया। यह उसी जबाबी तार का, जो हम लोगों ने भेजा था, खाली फार्म था। मेरे मुँह से निकला, 'मां तब तो मुझे जबाब मिल गया।' (अर्थात् मां मेरे साथ चलेंगी।) मां ने केवल मुस्कुरा भर दिया। यह दुर्गापूजा का अन्तिम दिवस था तथा मां अपने प्रोग्राम के अनुसार दूसरे दिन सिलिगुड़ी जा रही थीं।

यहां एक छोटी सी घटना उल्लेखनीय है। मां बैठी हुई थीं, और लोग भी चारों ओर बैठे थे। पतिदेव को ऐसा ख्याल हुआ कि मां पहले से कुछ दुबली हो गयी हैं–मां का चेहरा कुछ पतला लगा। इतने में उन्हें ऐसा भी लगा कि जैसे माँ के चेहरे के सामने कुछ कोहरा-सा आ गया तथा मां की शकल साफ़ नहीं दिखाई दी। फिर वह हट गया तथा मां का चेहरा बिल्कुल भरा-भरा गोल (जैसी पहले किशोरावस्था के कृष्णजी की तस्वीरें बुलाक पहने छपा करती थीं) दिखाई देने लगा। बड़ी सुन्दर मूर्ति थी! पतिदेव ने मां की ओर आंख मलकर फिर देखा, तब भी वैसा ही था। तनिक देर बाद

फिर जैसे मां पहले वैठी थीं, वैसी ही दिखाई दीं। बाद में यह घटना उन्होंने मुझे बतायी।

वोदा से ही मैंने माँ से तथा श्री गुरुप्रिया दीदी से, प्रार्थना शुरू कर दी कि मां मेरे साथ चलें। मां ने दीदी के पूछने पर भी कुछ विशेष उत्तर नहीं दिया। शायद इतना ही कहा, 'देखो क्या होता है।' दूसरे दिन हम सब लोग मां के साथ मोटरों और बसों से सकुशल सिलिगुड़ी पहुंच गये। वहां एक कालीमन्दिर में मां ठहरीं। सिलिगुड़ी पहुँचने पर दूसरे दिन, तीसरे पहर तक भी किसीको पता नहीं कि मां (प्रोग्राम के अनुसार) कलकत्ता, मेरे साथ या दार्जिलिंग कहां जायँगी। (दार्जिलिंग से भी एक भाई आये थे, जो मां से दार्जिलिंग चलने की प्रार्थना कर रहे थे। सिलिगुड़ी से प्रस्थान का समय आ गया। इतने में किसीने आकर मुझसे कहा कि मां बुला रही हैं। मैं मां के पास गयी तो उन्होंने बड़े ही मधुर शब्दों में मुझसे कहा, "अब तो मुलाकात हो गयी, एक-दो दिन साथ भी रहना हो गया। अब यह शरीर कलकत्ता चला जाय ?" मैंने जब देखा कि इतनी जल्दी मांको छोड़ना पड़ जायगा, मैंने जैसे घबरा कर मां का हाथ पकड़ लिया और कहा, "नहीं मां, मेरे साथ चलिये।" मां अपने दूसरे हाथ से मेरा हाथ आस्ते-आस्ते सहलाने लगीं मानो कह रही हों, 'घबराओं नहीं, मैं चलूंगी।' इतनेमें उन्होने स्वामीजी से कहा कि 'मेरे साथ चलने के लिये तैय्यारी की जाय।' पाठकगण मेरी खुशी का स्वयं अनुमान कर सकते हैं। थोड़ी देर बाद ही हम लोग रवाना हो गये। मुझे जैसे विश्वास नहीं हो रहा था कि यह सत्य है कि मां मेरे साथ जा रही हैं। असीम करुणामयी मां की करुणा की कोई सीमा थोड़े ही है तभी तो मुझ जैसी अयोग्य अकिञ्चन पर भी इतनी कृपा है।

वोदा की एक और छोटी-सी घटना लिखकर समाप्त करती हूँ। मैं नवरात्र में ६ दिन देवीजी की कथा कहकर नवमी के दिन कभी एक और कभी २ ब्राह्मण-कन्याओं को भोजन कराकर कुछ वस्त्रदक्षिणा दिया करती थी। इस वार नवमी वोदा में पड़ी, तो मैं मन में सोचने लगी—कितनी कन्याएं जिमाऊं, तो जैसे किसी ने कहा, 'चार' मैं कुछ चौंक-सी पड़ी। मैंने दीदी के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि मेरे लिए ४ ब्राह्मण-कन्याओं के लाने तथा भोजन का प्रवंध कराने की कृपा करें। दीदी ने तुरन्त सब प्रवंध करा दिया। जब कन्याएं भोजन करने वैठीं, तो असीम करुणामयी मां भी आकर देखने लगीं। जब कन्याएँ भोजन करने लगीं, तो एक छोटा-सा वालक, जो अपनी माता के साथ आया था, रोने तथा मचलने लगा कि वह भी कन्याओं के साथ भोजन करेगा। उसकी माता उसको फुसलाने की कोशिश करने लगीं, पर वह मचले ही गया। मुझे पता चला तो मैंने उसे भी भोजन के लिये वैठा दिया। अब मैं सोचती हूं कि उस वालक के मचलने में भी कुछ अर्थ छिपा था, क्योंकि मुझे पूजा की विधि आदि तो कुछ आती नहीं। जो कुछ उल्टा-सीधा समझ में आ जाता है, वही करने लगती हूँ। वाद में मुझे पता चला कि कन्याओं के साथ एक वटुक (ब्राह्मण-वालक) को भी भोजन कराने का नियम है। सो मां की कृपा से उस बालक ने रोकर मुझसे पूरा करा लिया। वहुत दिनों वाद एक वार मैंने मां को सुनाया कि वोदा में जब मैं सोच रही थी कि कितनी कन्याओं को भोजन के लिए बुलाऊँ, तो सुनाई दिया, 'चार' मां ने कहा, "ऐसा कभी-कभी होता है।" फिर कहा, मालूम है चार क्यों ? एक छठ की, एक सप्तमी की, एक अष्टमी की और एक नवमी की—चार दिनों की चार कन्याओं को जिमाया जाता है। असीम करुणामयी माँ प्रत्येक की इच्छा अथवा

संस्कार के अनुसार स्वयं ही काम करा लेती हैं। इसपर श्रीतुलसीदासजी महाराज का यह पद्य याद आता है—

'ऐसो को उदार जग माहीं,
बिन सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोऊ नाहीं।'

२—प्रयाग में अर्द्ध कुम्भ पर

सन् १९४७ के अर्द्ध-कुम्भ में मां लगभग १ मास प्रयागराज में पधारीं। मुझको भी लगभग ३ सप्ताह वहां मां के पास रहने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। मां के अनेक भक्त-गण इस शुभ अवसर पर आए हुए थे। सुन्दर सत्संग होता और कुम्भ मेले में श्रीयमुनाजी के तट पर मां का "कैम्प" था प्रातःकाल से रात तक सुन्दर कीर्तन, महात्माओं के प्रवचन, कथा, पाठादि "लाउड-स्पीकर" पर सुनने को मिलते। कभी कभी भक्तों के अनुरोध से मां जब कीर्तन करने लगतीं तो उनके सामने "माइक" रख दिया जाता। उस समय मां के श्रीमुख से निकला हुआ वह कीर्तन लाउड स्पीकर पर भी कितना मधुर होता था—मानो कानों में किसी ने अमृत घोल दिया हो।

एक दिन रात भर स्त्रियों का कीर्तन हुआ। उस दिन मां ने भी काफी देर कीर्तन किया। प्रातःकाल पर्व के समय सब लोग (२०० के लगभग व्यक्ति) दो बड़े बजड़ों में संगम पर स्नान के लिये गए। मां तथा श्रीहरिबाबाजी तथा अन्य एक दो महात्मा नौका से गए। पर्व के दिन दो बड़े बजड़ों का मिलना अत्यन्त कठिन था, परन्तु मां की कृपा से किसी भाँति प्रबन्ध हो ही गया।

एक दिन मां पण्डाल में थीं। सहसा एक फूलों की माला की आवश्यकता पड़ गई (शायद कोई महात्मा आए थे)। माताजी ने किसी से जल्दी माला लाने को कहा। वहां पास में कहीं फूलों की माला नहीं मिलती थी। कुछ लोग इधर उधर दौड़े। मेरे मन में उस समय कुछ ऐसा आ गया कि अवश्य पास ही कहीं फूलों की माला होगी नहीं तो मां "जल्दी लाओ" नहीं कहतीं। यह सोचकर मैं जैसे ही पण्डाल के द्वार तक आई तो देखा एक सज्जन दोने में एक माला लिये हैं तथा एक हाथ से उसको लटका कर मानो मुझे दिखा रहे हों। मैंने उनसे पूछा, "भाई" यह माला आप दे सकते हैं, क्योंकि एक माला की बहुत जल्दी आवश्यकता है।" ऐसा ही कुछ कहा तो उन्होंने वह माला सहर्ष मुझे दे दी और मैंने तुरन्त लाकर मां को दे दी।

एक दिन दूर से मां को भोजन करते देखकर न जाने क्यों एक विचित्र ही बात मेरे हृदय से उदय हुई कि मां तो जगत-मां हैं और मां प्रायः बच्चों को अपने हाथ से खिलाती हैं। सो मां के भोग के पश्चात् यदि मां का प्रसाद सर्वप्रथम मुझको ही मिले तो मैं समझूँगी कि मां ने मुझे अपने हाथ से ही दिया। कुछ ऐसी मूर्खतापूर्ण बात मेरे मन में आई। सहसा मुझे लगा जैसे मां कह रही हों, "मैं ही तो सबके हाथों द्वारा तुम्हें खिलाती हूँ अर्थात् जितने हाथ हैं सब मेरे ही तो हैं।" कुछ ऐसा ही सुनाई दिया। मैं अवाक् हो चुप खड़ी रही। इतने में देखा मां का भोजन हो गया तथा उदास मां को मुखशुद्धि खिला रही है। मां ने उदास को कुछ इशारा किया उसके पश्चात् मेरे पास आकर जो बची हुई मुखशुद्धि उसके हाथ में थी मुझको दे दी। इस प्रकार मां का प्रसाद सबसे पहले मुझे मिल गया। मैं गद्‌गद् हो सोचने लगी कि मेरे मन में जो बात आई थी वह अन्तर्यामिनी करुणामयी मां ने इस प्रकार पूरी की। ऐसे ही जिस दिन कुम्भ के पर्व-स्नान को सब लोग दो बजड़ों में संगम को चले तो मैंने

सोचा कि संगम पर मां की पूजा करके चरणामृत लूंगी, परन्तु ऐसा संयोग हुआ कि मां बजड़े में न जा सकीं तथा एक भक्त उनको एक छोटी नौका में ले गये तो मुझे संगम पर मां को केवल माला ही पहनाने का अवसर मिल सका। मां जल्दी लौट आईं बजड़े के लौटने में काफी विलम्ब हो गया। जब हम लोगों का बजड़ा तट के समीप पहुंचा तो मैंने देखा कि मां एक छोटी नौका में पुनः बैठ रही हैं मैं बजड़े से सबके साथ उतर कर वहीं खड़ी होकर, मां की नौका देखने लगी। थोड़ी देर मां की नौका इधर उधर तैरती रही फिर सहसा मां ने मुझे इशारे से नाव में आने के लिये कहा। मैं महान्आनन्द के साथ शीघ्रता से मां की नौका में चढ़ गई। मुझे कुछ पता नहीं कहां जाना है। नौका तेजी से चलने लगी। थोड़ी देर में देखा कि हम लोग फिर संगम पहुँच गये। मैं मां का संग पाकर वह चरणामृतवाली बात भूल चुकी थी। महात्माओं का अखाड़ा कुछ दूर स्नान करने को उतरा। चारों ओर भीड़ थी। मां थोड़ा नौका के एक ओर झुकीं उनके दोनों चरणकमल के गुलाबी कोमल तलवे मेरी ओर थे। फिर भी मुझे चरणामृतवाली बात याद न आयी। उनके दर्शन में ही शायद लग गयी। एक ब्रह्मचारी या संन्यासी भाई, जो मां की ही नाव में आये थे, एक पात्र में थोड़ा-सा संगम का जल ले आये तथा मां के अंगूठे से स्पर्श कराकर जब बांटने लगे तथा मुझे भी दिया, तब चरणामृत की बात याद आ गयी साथ ही मेरी समझ में ऐसा आया कि असीम दयामयी मां मेरी इच्छा पूर्ण करने के लिए ही स्वयं इतना कष्ट उठाकर फिर से मुझे साथ लेकर संगम आयीं। मुझ अयोग्य की आंखों के सामने अपने दिव्य चरण-कमल-तल कर दिये कि शायद अब भी इसको स्मरण हो आये। पर तब भी स्मरण नहीं आया तब भाई को प्रेरणा करके, संगमजल मँगाकर मुझे चरणामृत प्रदान कर ही दिया। अभी तक मेरा विश्वास है कि मां के फिर से संगम जाने का कारण मेरे मन में जो यह इच्छा उस दिन जगी थी कि संगम पर मां का चरणामृत लूं, उसको पूर्ण करना ही था। कैसी अहैतुकी करुणा !

एक डाक्टर के अनुभव

चार

गाजीपुर में एक महिला को देखने जाना पड़ा। तीन स्वस्थ बच्चों की मां। छोटे बच्चे की उम्र साल भर की। मां को चार महीने से धीमा-धीमा बुखार चल रहा है। कभी-कभी बुखार में अचानक वृद्धि हो जाती है। दो-चार दिन पर कम हो जाता है, पर एकदम छूटता नहीं। ऊपरी कोई कष्ट नहीं है पर मृदु गति से कमजोरी बढ़ती ही जा रही है। नहाना, पूजा, भोजन आदि व्यवस्था पूर्ववत् चल रही है। नहाने से भी बुखार में कोई आराम नहीं। भूख लगती है, खाने में रुचि भी है। शरीर के परीक्षण में ऐसी कोई बात नहीं मिली, जिससे रोग के कारण का कोई इशारा भी मिले। हर किस्म की दवा का सेवन कर चुकी पर कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ा। विफल होकर रामनगर के अस्पताल में एक सप्ताह के लिए भर्ती होने का अनुरोध किया। परिवार के लिए भी रामनगर में किराये का मकान देने का वचन दिया। सब लोग राजी हो गये। अस्पताल में भर्ती होने के बाद हर किस्म की जांच शुरू की। एक्स-रे, मल-मूत्र आदि दो-दो तीन-तीन दफा जांच की। अनुमान से जितने रोगों का संदेह हो सकता था, सबके लिए कई बार जांच की। संदेह-जनक कोई सूत्र नहीं मिला।

अस्पताल में आने के चौथे रोज बारह बजे रात को नर्स ने हमको फोन किया कि "आधा घंटा से मरीज के मुख से एक आवाज निकल रही है, परन्तु वह गहरी नींद में मालूम पड़ती है। आर० एम० ए० साहब की इच्छा है कि एक दफा इस अवस्था में आप देख लें।" मैं गया।

नाड़ी में या श्वास में कोई खास परिवर्तन नहीं मालूम पड़ा। परन्तु रह-रहकर शरीरमें एक सिहरन हो रही थी। उसी समय मुहँ से आवाज निकल रही थी। पति से पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ कि महीने में चार पांच दफा रात को ऐसा ही होता है और दो तीन घंटे में आप से आप ठीक हो जाता है। ऐसी घटना से मरीज की नींद नहीं खुलती।

एकाएक ख्याल आया कि अमावास्या की रात है। अस्पताल में तो सब तैयारी रहती ही है, झट से नींद में सोई मरीजा का दो तीन बूँद खून निकाला। तुरन्त अणुवीक्षण यंत्र से देखा। आश्चर्य-चकित हो गया। एक एक बूँद खून में करोड़ों फीलपांव के कीटाणु (**Microfilaria**) तिर्यक् गति से छटपटा रहे थे। दिन को लिये गये खून में, जो तीन दफा लिया जा चुका था, इस रोग का संदेह तक नहीं हुआ।

फीलपांव रोग की चिकित्सा शुरू हुई। चिकित्साकाल में तीन दौरा ऐसा ही रात में आया था—चतुर्थी, एकादशी और पूर्णिमा को। बुखार हट गया, पूर्ण स्वस्थ होकर माताजी घर गयीं।

—]*[—

॥ ॐ माँ ॥

मातृ-सत्संग

लेखक—श्रीरघुनाथदास गोस्वामी 'कान्ति भाई'

अगस्त १९५७ के अंक में अहमदाबाद में माँ के सत्संग का विवरण ३ मई से ७ मई तक का दिया था। प्रस्तुत लेख में ८ मई से १२ मई तक के मातृ-सत्संग का विवरण देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। ८ मई से १० मई तक का सत्संग रात को ९ से ९॥ बजे तक श्रीमुकुन्द भाई ठाकुर के यहाँ हुआ था और ११ मई से १७ मई तक का सत्संग श्रीकान्तिलाल मुनसा के यहाँ हुआ था। उस समय सत्संग के शुभ अवसर पर श्री श्री माँ के श्रीमुख से जो परम मधुर कथामृत सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उसी को यहाँ मैं लिपिबद्ध करने की चेष्टा कर रहा हूँ। यथासंभव माँ के मुख से निःसृत शब्दों को ज्यों के त्यों रखने का उद्योग कर रहा हूँ किन्तु मैं यह दावा नहीं कर सकता कि माँ के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द इसमें लिखा जा सका है। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह से लोग अपनी शक्ति के अनुसार गंगा-जल ले आते हैं उसी प्रकार मैं भी श्री श्री माँ के 'कथामृत' रूपी गंगा-प्रवाह में से अपनी अल्पशक्ति से जो कुछ संग्रह कर सका हूँ वह लिख रहा हूँ, अतः भूल-चूक के लिए श्री श्री माँ के चरणों में क्षमा-याचना करता हूँ।

८ मई १९५७ ई०—

आज रात को माँ के सत्संग के समय गोस्वामी मुकुटविहारीजी ने व्रजरस पर व्याख्यान दिया। आज केवल कथा-प्रसंग में माँ ने एक कहानी सुनाई।

माँ ने कहा, "भगवान् राम के आदेश से जब सेतुबन्ध का कार्य चल रहा था एक से एक वीर बड़े बड़े पर्वतखण्डों को ला ला कर समुद्र में डालते जाते थे। ठीक उसी अवसर पर उसी दौड़-धूप में दो क्षुद्र प्राणियों का एक युग्म, जिन्हें गिलहरी कहा जाता है, भी सेतु बन्ध के महत् कार्य में संलग्न था। अर्थात् दोनों समुद्र के जल में शरीर को गीला करते, बालुका पर लोटते और उस बालुका को जो शरीर में लिपट जाती थी दो शिलाओं के बीच में लोट कर झाड़ देते थे। पुनः जल में शरीर गीला करते, बालुका से आवेष्टित होते और पुनः उक्त प्रकार से झाड़ देते थे। बस यही कार्य चल रहा था उनका। उन्हें इतने लोगों के पदाघात से मरने जीने का भय नहीं था। अकस्मात् एक घटना घट ही गई। भगवान् राम के प्रिय दूत महाबली हनुमान ने उन्हें देखा और इस दौड़-धूप में से हट जाने को कहा पर वे क्यों हटने वाले थे। अन्ततोगत्वा हनुमान ने उस क्षुद्र प्राणी को पैर के अंगूठे से दूर फेंक दिया। परिणाम यह हुआ कि वह वेदना से कराह उठा। उसकी जीवनसंगिनी बहुत क्रुद्ध हुई और उसने इस घटना

का अभियोग भगवान राम से कह सुनाया और न्याय चाहा। भगवान राम सब देख ही रहे थे। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मुस्करा कर उस आहत प्राणी को तुरन्त अपने करकमलों से उठा लिया और अत्यन्त स्नेह से एक हथेली पर रख दूसरे हाथ से उसकी पीठ पर प्यार के साथ अंगुलियों से सहला कर सारी वेदना हर ली और पूछा, "कहो भाई, हनुमान को कौनसा दंड दूँ ?" इस पर उसने कहा, "ठहरिये जरा मैं अपनी स्त्री से राय ले लूं।" उसने राय ले कर कहा कि हे राम! जैसे हनुमान ने मुझे पैर से मारा है उसी प्रकार आप उन्हें भी मारें। राम को ऐसा करना पड़ा। ऐसा करने पर वह प्राणी फूला न समाया और अपने को भाग्यशाली और निर्भय समझ गर्ज कर गर्वपूर्वक उसने हनुमान से पूछा 'क्यों हनुमानजी, पुनः आप मुझे मारेंगे ? हनुमान ने कहा, "हाँ रोज मारूँगा, बार बार मारूँगा।" उसने पूछा, "क्यो ?" हनुमान ने कहा, "इसी लिये कि प्रभु राम अपने चरणकमलों से पुनः पुनः मुझे मारेंगे।" भगवान राम ने उस क्षुद्र प्राणी को निर्भय करते हुए कहा, "अब तुम निःशंक हो जाओ, तुम्हें कोई नहीं मार सकता। ये मेरी अंगुलियों के चिह्न तुम्हारी पीठ पर अंकित हो गये हैं।"

माँ ने लोगों के आग्रह से 'राधे-राधे' कीर्तन किया। इतना मधुर और स्निग्ध कीर्तन था कि सब लोग मंत्र-मुग्ध हो एक साथ माँ के साथ गाने लगे एवं प्रत्येक अणु-परमाणु झंकृत हो उठा था।

* * *

६ मई १९५७ ई० —

प्रश्न—जप पवित्र जगह में करना चाहिये पर पवित्र जगह कहां मिले ?

माँ—जहां भगवन्नाम होता है वहां पवित्रता अपने आप आ जाती है। देवमन्दिर पवित्र है, फिर महात्माओं का चरणतल पवित्र है, महात्माओं का सांनि पवित्र है, सब तीर्थ पवित्र हैं। कोई कहता है कि अमुक तीर्थ में जप करने से जप सिद्ध होता है। भगवन्नाम चिर पवित्र है। जहां भागवत पाठ हो वहाँ की वायु पवित्र हो जाती है। ऐसी जगह बैठने से मन साफ हो जाता है।

प्रश्न—जप का उच्चारण झंकार से क्यों करते हैं ?

माँ—(स्वामी माधव तीर्थ के प्रति) पिताजी, तुम बोलो। मंत्र जप अर्थभावनापूर्वक करना चाहिये। इससे उत्तम परिणाम होता है जैसा कि योग सूत्र में लिखा है।

प्रश्न—यदि जप का उचारण अशुद्ध हो ऐसे मंत्र में अर्थभावना कैसे करें ?

स्वा० मा०—बीज-मंत्र में अर्थभावना की आवश्यकता नहीं है।

माँ—एक होता है अर्थभावना करके जप करना और दूसरे में भावना की बात नहीं है। शब्दब्रह्म अक्षरब्रह्म जो क्षय नहीं होता है। जहां ब्रह्म है वहां नित्य है क्षय नहीं है। शब्द का झंकार होता है जैसे बाजा बजाने का झंकार होता है। अक्षरशब्द द्वारा उसका झंकार-अजपा जप-यदि हो जाय तो ग्रन्थि में ठोकर लगेगी। ग्रन्थि खुलने का रास्ता खुल जायेगा। जैसे शब्दब्रह्म प्रणव का झंकार हर वक्त हो रहा है। योगी लोग सुनते हैं। बीजमंत्र का भी झंकार होता है। जप करते करते अर्थप्रकाश हो जाता है। जैसे घिसने से आग पैदा होती है वैसे ही जप करते करते अर्थ का प्रकाश हो

जाता है। एक गँवार भागवत पाठ सुन रहा था। मूल पाठ था 'जगत हिताय' गँवार नें समझा 'जगत-ढिपाय।' वह 'जगत ढिपाय' पढ़ रहा था और आँखों से आँसू आ रहे थे। किसी ने देखा और उससे पूछा कि तुम 'जगत-ढिपाय' पढ़ रहे हो, क्या अर्थ है इसका। उसने कहा कि विश्व जगत भगवान में ठूस(!) रहा है। ऐसा कह रहा था और आँखों से आँसू झर रहे थे तथा भगवान कृष्ण का दर्शन कर रहा था।

स्वा॰ मा॰—अन्तःकरण शुद्ध होने से ऐसा होता है।

माँ॰—भाव शुद्ध हो तो अर्थप्रकाश होता है। यह शरीर तो कहता है कि अगर कर सको तो भगवान के दरवाजे में पड़ कर रोवो। जब तक दरवाजा न खुले रोना पुकारना बन्द नहीं करना। शरीर जाय या रहे कोई परवाह नहीं। अगर शक्ति रहे तो भगवान का दरवाजा तोड़कर जाय जैसा पिताजी ने कहा कि अर्थभावना करके जप करना चाहिए। कोई कहते हैं कि अर्थभावना की आवश्यकता नहीं है। विश्वास से भगवान का नाम जपे जाओ। "विश्वास से मिलाए भगवान तरके अति दूर।" यह शरीर हर समय उटपटाँग बातें करता है। जैसे तुमने राख रखी है, यदि उसमें आग रहे तो स्पर्श करने से जला देगी। विना देखे हुए जहर खाने से लोग मर जाते हैं, इसलिये चाहे श्रद्धा से या अश्रद्धा से या अर्थभावना से या बिना अर्थभावना के भगवन्नाम लेने से अवश्य कल्याण होगा। भगवन्नाम जप करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं। कोई कोई कहते हैं कि भगवन्नाम में पाप जलाने की इतनी शक्ति है कि मनुष्य उतने पाप कर ही नहीं सकता। अग्नि एवं अग्नि के स्फुलिंग में दाहिका शक्ति समान है। एक स्फुलिंग सारे विश्व को जला सकता है।

स्वा॰ मा॰—भागवत एवं अन्य ग्रंथों में ऐसा वर्णन है कि जप के द्वारा केवल पाप समाप्त किये जाते है पुण्य नहीं। पुण्यफल अथवा अच्छे कार्यों का परिणाम आत्मज्ञान द्वारा हटाया जाता है। अजामिल हरिद्वार गया और वहां उसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। पुण्य को काटने के लिए क्या करें?

माँ—पुण्य क्षय होने वाला क्षीण हो जायेगा। जलने वाला जल जायेगा।

स्वा॰ मा॰—भगवन्नाम से पाप जल जाता है और तपश्चर्या से पुण्य समाप्त हो जाता है।

माँ—चाहे जो नाम ले, जिस मंत्र का जप करे—सब में सब है, इसलिये सब आ सकता है। ग्रंथि-भेद हो जाय तो फिर रहेगा क्या? स्टेज वाइ स्टेज (क्रम क्रम से) सब आ जाता है। पिताजी ने जैसा बताया कि यह ठीक बात है कि अगर ठीक नाम हो तो सब कुछ हो सकता है। भगवन्नाम भगवान का विग्रह ही है। भगवान्नाम के संग सब पाप ताप जल जाते हैं ऐसा भगवन्नाम का प्रभाव है। भगवन्नाम के प्रभाव से तत्त्वप्रकाश हो जायेगा।

भगवान परम बन्धु हैं, आप के प्राणों के प्राण हैं। भगवान साकार और निराकार दोनों हैं। भगवान का जप करने से उनका स्वभाव है अपना प्रकाश कर देना। इसलिए चाहे ज्ञान से या अज्ञान से, चाहे इच्छा से या अनिच्छा से, चाहे विश्वास से या अविश्वास से भगवन्नाम करोगे या भगवत्स्मरण करोगे तो जलने वाला जल जायेगा और गलने वाला गल जायेगा। लोग तस्वीर को सामने रखकर ध्यान करते हैं, किन्तु तस्वीर में क्या है? कागज है पर तस्वीर में शुद्ध ध्यान करते करते उस तस्वीर से भगवान स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

प्रश्न—जप की संख्या की क्या आवश्यकता है?

माँ—संख्या में तत्त्व रहता है। भगवान की एक सच्ची पुकार आ जाय तो बस भगवान प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उसी एक सच्ची पुकार के आने के लिए अनन्त जप करना पड़ता है। किसी संख्या में पूर्ण होता है। कौन जाने किस संख्या में तुम्हारा जप सफल हो जायेगा। कोई श्वास प्रश्वास के साथ जप करते हैं। अपने अपने गुरु जिसको जैसा बतावें करना चाहिए। संख्या अगर गुरु दे दें तो कौन जाने किस समय संख्या पूर्ण हो जाय।

× × ×

कथाप्रसंग में माँ ने कहा कि साधारणतः मंत्र के द्वारा गुरु का शक्तिपात होता है। जो मंत्र है वह वह स्वयं सिद्ध ही है। ऋषि-मुनि मंत्रद्रष्टा थे। उन लोगों के सामने मंत्र प्रत्यक्ष हुए थे। मंत्र जिन्होंने पाया उन लोगों ने उसका प्रत्यक्ष किया है। किताब में से अपने आप पढ़ कर मंत्र ले लेते हैं। लेकिन मंत्र गुरुमुख से ही लेना अच्छा है, क्योंकि मंत्र के साथ गुरुशक्ति प्रवेश करती है। यदि कोई पूर्व जन्म का संस्कार वाला व्यक्ति हो तो बिना गुरुशक्ति के ही हो सकता है। सुना है कि कबीर मंत्र लेने के लिए गुरु के दरवाजे पर बहुत दिनों तक पड़े रहे। एक दिन गुरुजी बाहर निकले कबीर रास्ते में पड़े थे। गुरुजी के पैर में चोट लगने से मुख से 'हे राम' निकल गया। कबीरजी ने सोचा कि बस यही गुरुमत्र है। उसी का जप कर कबीरजी सिद्ध हो गये। महात्माओं के मुख से शब्द निकलने से उसमें विशेष शक्ति आ जाती है।

स्वा० मा०—यदि गुरु अपने शिष्य से प्रतिदिन दश मालाएँ करने को कहता है और एक दिन यदि पाँच माला करने पर ही ईश्वर दर्शन दे दे तो क्या शिष्य को गुरु आज्ञानुसार दश मालाएँ पूरी होने तक ईश्वर को रुकने को कहना पड़ेगा ?

माँ—नित्य दश मालाओं का जो फल था वह पांच मालाओं में हो गया। कौन जानता है कि किस संख्या में फल प्रकाशित हो जाय ?

स्वा० मा०—मेरे गुरु ने जप करने के लिए एक मंत्र दिया और उसी समय वेदान्त सिखाने लगे। कुछ वर्षों के उपरान्त वेदान्त का मुझे अनुभव करा दिया और मेरी माला—तुम्हें अब इसकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं ऐसा कहते हुए—ले ली।

माँ—सभी कुछ हो सकता है।

प्रश्न—हमारा जप करने के लिये गुरु जप की माला ले गये।

माँ—जप करने से उत्पन्न फल गुरु के अर्पण करना चाहियें।

प्र०—हम जप की माला गुरु को दे देंगे। गुरु हमारे लिए जप करें। गुरु की शक्ति से फल क्यों नहीं मिलेगा। यहाँ पर गुरु के माहात्म्य का प्रश्न आ गया (सब लोग हँस पड़े)।

माँ—सब को दिखा कर देखो देखो बालमुकुन्द घुटने से बैठ गया।

स्वा०मा०—कमीशन में मोक्ष मिलना चाहिये।

माँ—(मुकुन्द भाई की तरफ देख कर) वकील हैं न।

प्र०—गुरु है, इसलिए शिष्य को फल अवश्य मिलना चाहिए।

माँ—गुरु करना है 'तुम' को मारने के लिए। 'तुम' को मार खानी पड़ेगी।

मुकुन्द भाई—मार खायेंगे किन्तु माला नहीं फेरेंगे। हमारा साधन गुरु करे।

माँ—साधन गुरु ही करते हैं--जैसे बालमुकुन्द जप करता है।

प्र०—हम न करें तो ?

माँ—गुरु जरूर करेंगे। मार दे कर करेंगे। मारने वाले को मार कर करेंगे। मंत्ररूप में गुरु ही तुम्हारे भीतर में हैं। गुरु शक्तिरूप में तुम्हारे भीतर है। तुम्हारी बात पूरी मान ली किसलिए 'मैं' को मारने के लिए। 'मैं' करने वाला उनको मारने के लिए दंड खाता है। जब दो व्यक्ति लड़ते हैं और एक दूसरे पर आक्षेप करते हैं कि तुमने यह किया—तुमने यह किया तब बहुत सुन्दर दिखता है। मानो दोनों अहं एक दूसरे से युद्ध करते हों। उस अहं को मारने के लिये गुरु अपने में प्रकाशित हो जाते हैं। तुम्हारी बात बिल्कुल पक्की है।

प्र०—सुख दुख मारने वाला पुरुष कौन है ?

स्वा० मा०—साँख्य का पुरुष कर्ता नहीं है भोक्ता है। वेदान्त का पुरुष कर्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं।

प्र०—ज्ञानी लोग जाग्रत् को स्वप्न कहते हैं।

माँ—जहाँ ज्ञान है—एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति—वहाँ तुम जो देख रहे हो सारा का सारा स्वप्न है। एक जाग्रत्-स्वप्न है और एक स्वप्न-स्वप्न है।

प्र०—तुमको आज भी देखा कल भी देखा ?

माँ—जो देखना होता है वह नहीं हुआ यदि ठीक ठीक देखना होता तो कल आज का सवाल नहीं रहता।

प्र०—मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

माँ—पिताजी उत्तर देंगे।

स्वा० मा०—माया के क्षेत्र में पुरुष परतन्त्र है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुष स्वतन्त्र है।

माँ—जब तक 'मैं भगवान का यन्त्र हूँ' यह प्रकाश न हो तब तक भगवान को मान कर चलना चाहिए। उपनिषद में आता है कि दो रास्ते है एक प्रेय का और एक श्रेय का। प्रेय का रास्ता त्याज्य है, श्रेय का ग्रहण करना चाहिये।

अपने स्वरूप के पहचानने की लाइन में चलो। जैसे तुम अपनी शक्ति से पैसा कमाते हो, बाल बच्चों का पोषण करते हो उसी शक्ति को भगवत्प्राप्ति में लगाओ। भगवान को पाने की चेष्टा करो। भगवान को पाना यानी अपने को पाना, अपने को पाना यानी भगवान को पाना। भगवान तो प्रकाशित है ही, आवरण पड़ा है, इसलिये दिखता नहीं। आवरण हटाने के लिए कर्म करना चाहिये। जो शरीर मिला हैं वह पूर्व कर्मों के भोगने के लिए मिला है। जब तक कामनायें-वासनायें रहती हैं तब तक जन्म मृत्यु—'रिटर्न टिकट—करना पड़ेगा। मृत्यु के रास्ते में मत चलो। विषयरूपी विष स्लो पायजन है। वह तो मृत्यु देगा। तुम अमृत की संतान हो हर समय सोचो कि हम अमर आत्मा हैं। "मैं कौन हूँ" यह जानना चाहिये। जिसकी हिम्मत हो वह इस परमार्थ लाइन पर चले।

परमार्थ माने परमधन—अपना धन जो रहा है। परमधन रहते हुए भी भिखारी की तरह दुखी क्यों हो रहे हो ? तुम अमृतपथ के यात्री बन जाओ।

+ \+ \+

१० मई १९५७ ई०—

प्र०—माया किसके पास है ?

माँ—माया प्रश्न करने वाले के पास है।

प्र०—प्रश्न पूछता कौन है ?

मा०—प्रश्न पूछता है अज्ञानी। पर्दे में ढका हुआ व्यक्ति पूछता है। पर्दा अपना है, प्रश्नकर्ता अपना है, अपने को लेकर अपना है, अपनी मौज है। भगवान का कैसा सुन्दर विधान है दुनियाँ के भोगों की क्रिया रक्खी और भगवान को पाने की भी क्रिया रक्खी। दोनों क्रियायें अलग अलग रक्खी हैं। अज्ञान से प्रश्न होता है। तुम कहते हो अज्ञानी भगवान है। भगवान कहोगे और अज्ञानी कहोगे दोनों बातें एक साथ ठहर नहीं सकतीं। "एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" जहाँ हो वहां कौन पर्दा। तुम स्वरूपतः माया के अतीत हो किन्तु तुम आज अपने को माया के बन्धन में मान रहे हो। मान रहे हो वही पर्दा है। स्वप्रकाश की प्राप्ति के लिए चेष्टा करो। तब अतीत होओगे। यत्र जीवस्तत्र शिवः यत्र नारी तत्र गौरी। एकमात्र आत्मा ही सर्वत्र है। जब तक पर्दा न हटे तब तक प्रश्न जायगा नहीं।

× × ×

कथा-प्रसंग में मां ने कहा—जगत् माने गतिशील इसलिए मिथ्या। यह पंडाल जहां तुम बैठे हो कल नहीं रहेगा, इसलिए मिथ्या है। जैसे वृक्ष आगे भी नहीं पीछे भी नहीं, इसलिए नित्य नहीं है। तुम लोग सत्य-नित्य की ओर क्यों नहीं जाते हो ? वेदान्त अथवा अद्वैत मत में नाम रूप मिथ्या माने गये हैं। नाम-रूप करके जो अलग मानना है वह मिथ्या है। जहाँ चिन्मय विग्रह की बात है वहाँ अनित्यता नहीं। तुम सत्य-बुद्ध आत्मा हो सारे नामों से अतीत आत्मस्वरूप मुक्त ज्ञानस्वरूप तुम हो। जब से भगवान है तब से माया है। भगवान मायातीत है। जल बर्फ का नित्य सम्बन्ध है। बर्फ में तो जल ही है वैसे निराकार साकार एक ही है। प्राकृत माने पर पर होना है, प्राकृत जगत में तुम निवास करते हो और वहाँ का जैसा चश्मा लगा है वैसा दिखाई देता है। जहाँ रूप और गुण को लेकर रहना हो वहाँ दुख-सुख का द्वन्द्व रहेगा ही। प्राकृत जगत में दुख-सुख का ही खेल है। अपने को लेकर भगवान खेल कर रहा है। भगवान की कल्पनामात्र से जगत की सृष्टि होती है। उपनिषद में आता है कि मुख नहीं खाता है, पैर नहीं चलता है बस वह स्वयं ही है। माया के अतीत भी वही माया के अधीन भी वही है। उसकी मौज है खेल रहा है। मन को एकाग्र करो, मन को अमन करो। चाहे 'नेति-नेति' करके चलो चाहे तुम ही तुम करके चलो जो सब को दिख रहा है वह ब्रह्म ही ब्रह्म है। राम, कृष्ण, काली सब एक ही रूप है सब में सब हैं। वृक्ष के ऊपर भी भगवद्दृष्टि करोगे तो वहाँ भी भगवान का प्रकाश हो जायगा। भगवान कहाँ नहीं हैं सगुण-स्वयं ही गुणस्वरूप बन जाता है। भगवान ही खेल के लिए माया का रूप धारण करके रहता है। जहाँ असली दृष्टि है वही सर्वज्ञ है, जहाँ किसी वस्तु की अपेक्षासुख है वही दुख में परिणत हो जाता है। बचा हुआ खुश हो गया, मर गया दुख हो गया। जहाँ स्त्री-पुत्र या संसार की किसी वस्तु से सुख की अपेक्षा है वहीं दुखी होना पड़ेगा। जहाँ निरपेक्षता है वहीं सच्चा सुख है। जहाँ भगवान और दास का संबन्ध है वहाँ सुख है। विग्रह माने—विशेष रूप ग्रहण कर लें तत्वतः हरि और जीव अलग नहीं है। एक दृष्टि से किसका जन्म ? जन्म हुआ ही नहीं। जन्म मानना

ही आवरण है। जगत के जितने संबन्ध हैं शत्रु या मित्र के वे सब मन के मानने पर हैं। मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ कहा जाता है। यदि मनुष्य इच्छा करे तो अज्ञान का पर्दा हटा कर भगवान को पा सकता है। 'भगवान को जानने की इच्छा' जीव की स्वाभाविक इच्छा है। अज्ञानी रहना मनुष्य नहीं चाहता क्योंकि तुम स्वरूपतः ज्ञानस्वरूप हो, शान्तस्वरूप हो। तुम झूठ नहीं चाहते सत्य चाहते हो, क्योंकि तुम सत्यस्वरूप हो। भगवान के रास्ते में चलो भगवान की कृपा हर समय है ही। भगवत्कृपा का अनुभव क्यों नहीं होता है, इसलिए कि तुमने अपना पात्र उल्टा करके रक्खा है। अतः कृपा हर समय बह जाती है। अपना पात्र सीधा रक्खो कृपा भर जायेगी। यह शरीर सब किसी को माता पिता कहता है यह तो छोटी बच्ची है। तुम लोगों ने दया करके दर्शन दिया है। सब कोई अपने को पाने का प्रयत्न करो। यह शरीर ऐसा नहीं कहता है कि तुम गृहस्थी छोड़कर वन में जाओ। तुम जहाँ रहोगे भगवान का ही घर है। घर के मालिक मत बनो घर के मैनेजर बनो। मैनेजर को कब बुलावा आयेगा पता नहीं। सबके बीच में भगवान है। हम भगवान के सेवक हैं, भगवान के मन्दिर के मैनेजर हैं। गृहस्थाश्रम में सेवाभाव से रहो। अपने बालक की सेवा गोपालभाव से करो। स्त्री की सेवा देवीभाव से करो। भगवान का नाम लेकर बैठो इसके सिवा जो कुछ करने जाओगे उसमें पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकेगी। तुम लोगों को आत्मकर्म करना चाहिए।

किसी एक भाई की प्रार्थना पर माँ ने एक कहानी सुनाई। एक बड़ा राजा था। उसके चार प्रश्न थे—'भगवान कहाँ रहता है? भगवान क्या खाता है? भगवान कब हँसता है? और भगवान क्या करता है?' राजा ने नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई इन प्रश्नों का उत्तर दे देगा उसे यथेष्ट पुरष्कार दिया जायेगा। इस ढिंढोरे को सुन कर सब एक से एक बड़े कढ़े चढ़े वाले लोगों ने विद्वानों ने पुरस्कार पाने की आशा से चारों प्रश्नों का उत्तर देने लिये मष्तिक पर जोर दिया पर कोई राजा को संतुष्ट न कर सका। राजा स्वयं व्यथित हो बैठा कि कैसे समाधान हो। चारों ओर राजा के प्रश्नों की ही चर्चा चल रही थी। इसी बीच एक अत्यन्त सीधे सादे गरीब किसान के कान में आपस में बातें कर रहे कुछ लोगों की भनक पड़ी, वह किसान खेत जोत रहा था। किसान ने कार्य से विरत हो पूछा कि भाई क्या बातें कर रहे हो मुझे भी सुनाओ। लोगों ने हँस कर टाल दिया और कहा तुम क्या करोगे ऐसी बातें सुन कर? अन्ततः बहुत आग्रह करने पर लोगों ने उसे राजा के प्रश्न सुनाये। सुनते ही वह हँस पड़ा और बोला इसमें कौन बड़ी बात है चलो मैं उत्तर दिये देता हूँ। किसान सत्संगी था उसे सब ज्ञात था। उसकी बातें सुनीं तो लोगों को बड़ा अजीब सा लगा। उन्होंने उसे प्रलाप ही समझा और कहा कि चलो चलो तुम क्या उत्तर दे सकोगे हो जहाँ बड़े बड़ों की बुद्धि चकरा गई वहाँ तुम क्या करोगे? जाओ अपना काम करो। पर किसान के आग्रह करने पर लोगों ने मान लिया और कहा कि अच्छा चलो तुम भी चलो। किसान साथ हो लिया और राजा के समीप लाया गया। उस सीधे सादे मलिन वस्त्रधारी किसान को देख सब हँस पड़े राजा स्वयं हँस पड़ा कि क्या खिलवाड़ का स्वाँग किया जा रहा है। पर राजा था विचारशील उसने उसे पास बुलाया और बैठाया। सारी की सारी सभा, बड़े बड़े पंडित सभी एकटक इस दृश्य को उत्सुकतापूर्वक देखने लगे। राजा ने प्रश्न को पूछा एवं किसान ने बड़ी सरलता से मुस्कुराते हुए उत्तर देना प्रारंभ किया। 'भगवान कहाँ है' इस प्रश्न के

उत्तर में तुरन्त किसान ने राजा से पूछा कि अच्छा यह बताइये कि "भगवान कहाँ नहीं है ?" इसे सुन राजा विचार में पड़ गया और समाधान हो गया कि वस्तुतः भगवान तो सर्वत्र है। दूसरे प्रश्न पर कि 'भगवान क्या खाता है ? किसान ने कहा कि 'भगवान अहंकार खाता है। यदि अहंकार न खाता होता तो कोई भी साधना आगे बढ़ कैसे पाती। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े का मैल चाट-चाट कर साफ़ कर देती है उसी प्रकार भगवान अहंकार आदि रूपी मैल खाता है। 'भगवान कब हँसता है ? इस प्रश्न के उत्तर में किसान ने कहा कि जिस समय जीव मां के गर्भ में रहता है अनन्त यन्त्रणाएँ भोगता है सौ जन्मों की बातें उसके स्मृतिपटल पर अंकित रहती हैं। उस समय वह अत्यन्त कातर हृदय से प्रार्थना करता है कि हे भगवान, मुझे इस दारुण क्लेश से निकालो। मैं अब तुम्हारा भजन ही करूँगा ऐसा प्रण करता है। पर जब वह माया के साम्राज्य में बाहर आता है तो सब भूल जाता है एवं पुनः उसी चक्र में फँस नाचता रहता है। इस बात को स्मरण कर गर्भ से बाहर आते समय भगवान हँसते है कि यह इतनी बातें तो कर रहा है पर करेगा नहीं। इस प्रकार तीन प्रश्नों का समुचित उत्तर सुन राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और चौथा पूछने को उद्यत हुआ कि भगवान क्या करता है !

किसान ने कहा कि हे राजा ! इस प्रश्न का उत्तर ऐसे नहीं होगा यह बड़ा गंभीर विषय है। इसके हेतु कुछ करना पड़ेगा। राजा उसपर प्रसन्न था ही उसने कहा कि कहिए मैं सब कुछ करने को प्रस्तुत हूँ। इसपर किसान ने कहा कि अपने आसन को छोड़ कर आइये यहाँ मेरे आसन पर बैठिये और मैं आप के आसन पर बैठता हूँ। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। राजा किसान के आसन पर बैठा और किसान राजा के रत्नखचित स्वर्ण सिंहासन पर बैठा एवं खूब मस्ती से गाने लगा। बड़ी देर तक अपनी ही धुन में मस्त रहा। यह दृश्य लोगों को बड़ा विचित्र लगा। राजा ने कहा—दीजिये इसका भी उत्तर। किसान ने कहा—दे तो दिया उत्तर। पर राजा समझ नहीं सका। इसपर किसान ने स्पष्ट किया कि देखो न भगवान यही करता रहता है "उलट फेर" राजा को रंक बनाना और रंक को राजा बनाना। जैसे कि आप मुझ अकिंचन किसान के आसन पर बैठ गये हैं और मैं फटे चिटे चिथड़ों वाला किसान इस आप के आसन पर बैठा हूं। यही भगवान करता रहता है। इस पर राजा अत्यन्त प्रसन्न तथा आनन्दित हो उठा।

+ \+ \+

११ मई १९५७ ई०—

प्र०—विषयानन्द और निजानन्द में क्या अन्तर है ?

माँ—प्रश्न में ही उत्तर विद्यमान है। अगर तुमको परमानन्द मिला होता तो पूछते क्यों ? शिवजी ने जहर कण्ठ में धारण कर लिया, फेंक नहीं दिया। जहाँ विषयानन्द है वहीं प्रश्न आ जाता है और मृत्यु की ओर खींच कर ले जाता है। परमानन्द है जिससे पर आनन्द नहीं है। परमानन्द-ब्रह्मानन्द केवल सुख देता है।

प्र०—ब्रह्माकार वृत्ति कैसे हो ?

माँ—किसी तरीके से नहीं होती। यदि तरीके से होती तो भगवान को कर्माधीन माना जायगा। जैसे सूर्य-प्रकाश है, किन्तु बादल से ढका हुआ है वैसे ही तुम्हारा आवरण हटाने के लिए गुरुकृपा चाहिए। तरीका होते हुए भी तरीका नहीं है। तुममें जितनी शक्ति है उसको भगवत्प्राप्ति में लगाना पड़ेगा। तुम्हींको करना पड़ेगा दूसरे के करने से नहीं होगा। तुम्हारे खाने से पेट भर जायगा, किन्तु

तुम्हारे बदले दूसरे के खाने से तुम्हारा पेट नहीं भरेगा। जब तक दूरत्व है अपना काम स्वयं ही करना पड़ेगा। गुरु का उपदेश मान कर चलो।

प्र०—जो लोग आप के पास रहते हैं उनको क्या आपकी अधिक कृपा मिलती है?

माँ—भगवान की कृपा में कोई हेर फेर नहीं है। जैसे माँ अपने सब बालकों के ऊपर समान प्यार रखती है और समदृष्टि रखती है। माँ भोजन वाले लड़के को भोजन खिलाती है। यदि कोई कहे कि माँ पक्षपात करती है तो यह ठीक नहीं होगा। माँ की दृष्टि में सब समान हैं। भगवान के पास कुछ चाहो मत। हे भगवान, हम तो तुमको चाहते हैं हमारे लिए क्या अच्छा है क्या बुरा है हम नहीं जानते। हमारे लिए जो अच्छा समझो वही करो। जो समझदार होते हैं वे होशियारी से चलते हैं। भगवान के नजदीक कौन है? विश्व व्यापक सारा भगवान का ही है। सांनिध्य कहते हैं मन का। शरीर यदि रहे सेना में और मन रहे दुनिया में तो वह सांनिध्य कहां हुआ। कोई यदि दूर रह कर भी अपना मन भगवान के पास रक्खे तो वह सेवा ही हो रही है। इसलिये भगवान सम है।

प्र०—भगवान पक्षपाती है, प्रह्लाद को बचा दिया और हिरण्यकश्यप को मार दिया।

माँ—जिसकी जैसी दृष्टि है वैसा बोलेगा। जहाँ पक्षपातदृष्टि है वहां ऐसा ही है।

प्र०—प्रह्लाद को बचाया और हिरण्यकश्यप को मारा।

माँ—मार के कहां भेज दिया। (सब लोग हँस पड़े।)

भगवान जो करते हैं वही ठीक है। कथाप्रसंग में माँ ने कहा आत्मा में जाति कहाँ? वाल्मीकि की उच्च अवस्था भगवत्कृपा से हो गई। वाल्मीकि को मरा मरा कहने पर भी रामकृपा से राम की प्राप्ति हुई।

प्र०—वाल्मीकि तो मेहनत करके ऋषि हुए।

माँ—तुमको भी मेहनत से ही होगा। (सब लोगों का हास्य)। क्या यह बात ठीक है न?

प्र०—यदि वाल्मीकि परिश्रम नहीं करते तो भगवत्कृपा नहीं होती?

माँ—हम तो सब की बातें मानते हैं।

स्वा० मा०—भगवान की कृपा के योग्य होना चाहिए।

प्र०—"भगवत्कृपा से वाल्मीकि का हुआ" ऐसा सिद्ध कीजिए।

माँ--यह शरीर तो कहता है कि राम में इतनी शक्ति है कि उनका काम बन गया।

प्र०—इतने दीमकों को खिलाने के बाद क्यों?

माँ—राम की इच्छा है उनकी मौज है।

प्र०—तो फिर परिश्रम की अपेक्षा रही?

माँ०—तुम्हारा काम करना पड़ेगा तुम्हें, क्योंकि तुम में क्रियाशक्ति है। जीवजगत् में क्रिया का ही खेल है। जो बन्धन में है वह जीव है और जो गतिशील है वह जगत् है। विषय में चलोगे तो उसका स्वभाव है फँसा देना। भगवान के नाम का स्वभाव है कि जलाने वाले को जला देना और गलने वाले को गला देना। वाल्मीकि का भगवन्नाम लेना भगवत्कृपा से ही हुआ। तुम आत्माराम हो, ऋषि

हो। जो क्रिया करने से ऋषित्व का प्रकाश हो वह क्रिया तुम्हारे भीतर में विद्यमान है। भगवत् या पारमार्थिक पथ पर चलो। चलते चलते ऋषित्व प्रकाशित हो जायगा। भगवान सब में निवास करते हैं। वहां न स्त्री है, न पुरुष है और न जाति है। अपने में ही सब कुछ है। अपनी क्रिया करनी पड़ेगी। अपने भीतर जो शक्ति है उसे जाग्रत् करना पड़ेगा।

एक भक्त ने प्रार्थना की कि माँ, तुम रामनाम सुना दो। सब लोग माँ से रामनाम सुनाने का आग्रह करने लगे। आग्रह से माँ ने रामनाम कीर्तन प्रारम्भ किया। अहा! कितना मधुर-सुन्दर कीर्तन। सब लोगों का अन्तर्मन एक तार हो माँ के सुर में सुर मिला कीर्तन कर रहा था। ऐसा मालूम हो रहा था मानो राम साक्षात् प्रगट हो गये हों।

× × ×

१२ मई १९५७ ई०—

प्र०—सगुण साकार की उपासना के बिना निर्गुण निराकार की प्रतीति हो सकती है क्या?

माँ—निराकार और साकार एक ही है जैसे जल और वर्फ में क्या है जल ही तो है। जो कोई जिस मार्ग पर चलेगा उसे वही लक्ष्य प्राप्ति होगी चाहे द्वैत से चले चाहे अद्वैत से चले।

प्र०—उपनिषद में आता है कि भगवान ने सृष्टि पैदा की और कहीं लिखा है कि सृष्टि हुई ही नहीं सब माया है तो सत्य क्या है?

माँ—जहां दृष्टि-सृष्टि है वहां सृष्टि है और जहां दृष्टि-सृष्टि नहीं है वहां सृष्टि की बात ही नहीं है।

प्र०—पाप के लिए आत्मा जबाबदार है कि जीव?

माँ—आत्मा का वन्धन है क्या? जहां हमारा तुम्हारा है वहां बन्धन है। तुम्हारा घर हमारा घर एक ही है कहीं जाने की जगह ही नहीं।

प्र०—आत्मा का प्रकाश सूर्य जैसा है या ज्ञान जैसा?

माँ—भिन्न है कि अभिन्न? अभिन्न है। किन्तु समझाने के हेतु तरह-तरह की बातें आती हैं।

प्र०—वास्तव में क्या है?

माँ—वास्तव में कुछ नहीं जो है वही। तुम जो कहो वही है। दृष्टिवाद कहो तो हाँ दृष्टिवाद है। यदि कहो दृष्टि सृष्टि नहीं है तो नहीं है। वहाँ 'हाँ ना' है भी, नहीं भी नहीं है।

स्वा० मा०—उनको अनिर्वचनीय कहते हैं। तत्त्व एक मात्र वही है। दूसरा कहाँ से आवे। वहाँ ही सब सम्भव है।

प्र०—इससे प्रश्न नहीं करना ही अच्छा है।

माँ०—प्रश्न के बिना तुम रह ही नहीं सकते।

प्र०—भगवान् ने क्यों सृष्टि की?

माँ०—उनकी मौज है। कल्पनामात्र से सृष्टि हुई।

प्र०—विना पूछे रहा नहीं जाता इसका क्या कारण?

माँ—जहाँ अज्ञान रहता है वहाँ प्रश्न आता है। उन्हें प्रश्न नहीं आता जिन्होंने पास कर लिया और दूसरे जो मूर्ख हैं उन्हें भी प्रश्न नहीं आता। प्रश्न होता है जो पढ़ता है। जीव का स्वभाव है ज्ञान, शान्ति और आनंद का चाहना। जीव का प्रश्न करना स्वभाव है।

प्र०—संगीत की साधना से आत्मा की प्राप्ति हो सकती है क्या?

माँ—संगीत माने 'स्वयं गीत स्वरूप प्रकाश' स्वप्रकाश जो है तो अवश्य हो सकती है। अगर संगीत रहे प्रतिष्ठा के लिए तो और बात है। सारा लक्ष्य के ऊपर है। जिस लक्ष्य को लेकर चलोगे वही प्राप्त होगा।

प्र०—आकार पहले कि निराकार पहले ?

माँ०—आकार हुए तुम।

स्वा०मा०—आकार माने मुकुन्द भाई और निराकार माने तुम।

प्र०—साकार को लाँघकर निराकार में कैसे जायेगा ?

माँ—यदि तुम अद्वैत लाइन में चलोगे चलते-चलते आवरण हट जायेगा—पर्दा फट जायेगा। निरावरण जो स्वयंप्रकाश है। 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' वह स्वयं प्रकाशित हो जायेगा। अन्त में जो लक्ष्य हो वह प्रकाशित हो जायेगा।

प्र०—आप ने कृष्ण को देखा है ? उनका कैसा स्वरूप है ?

माँ—इस शरीर की बात छोड़ दो। साकार उपासना में साकार को लेकर रहते हैं। द्वन्द्वातीत साकार मान कर चलते रहते हैं। वहाँ आपने इष्ट के साथ तादात्म्य हो जाता है। एक फूल कैसा सुन्दर है चाहे जितना तुम उसका वर्णन करो तुम नहीं बता सकते। चाहे बहुत बढ़िया मीठा खाओ पर उसका वर्णन तुम नहीं कर सकते। वहाँ वाणी पहुँच नहीं सकती।

प्र०—पहले भगवान को दिखा दो फिर भजन करेंगे।

माँ—भगवान प्रकट हो जाय फिर भजन करोगे, भगवत्प्राप्ति के लिये भजन पूजन करो। जब तक भगवान न मिले उनका भजन पूजन छोड़ो मत। गुरु जैसा बताये वैसा करो।

प्र०—गुरु लोग सुन्दर बातें बताते हैं भगवान को नहीं बताते।

माँ—इसलिए गुरुधारण करना पड़ता है। भगवान की सेवा के मार्ग का आदेश पालन करना चाहिए। यदि सच्चा अविचार से पालन करें तो भगवान बिना प्रकट हुए रह नहीं सकते। भगवान स्वयंप्रकाश हैं ही। यह सब सारा भगवान का ही विग्रह है।

प्र०—जो आपत्ति सताती है उसे दूर करने का क्या उपाय है ?

माँ—गुरु का उपदेश सुनो इससे जो नाश होने वाला है वह नाश हो जायेगा और जो नाश होने वाला नहीं है वह भगवतत्त्व प्रकाशित हो जाएगा।

मां को खोकर मां को पाया

गोपाल

[गतांक से आगे]

माँ

पास नहीं कुछ
तब भी मन व्याकुल,
चरणों में अर्घ्य देने को दान,
लाया हूँ, अश्रु सजल नयनों में,
भरकर, अतीत की गाथा ।
अनन्त कृपा का कर विस्तार
शरण में तुमने दिया स्थान ।
सब कुछ अपना तुम्हें सौंपकर
जीवन मेरा धन्य बनेगा ।

माँ,

तुम तो माँ हो,
व्याकुलता से तुम्हें बुलाता
देती तुम कृपा, करुणा
तुम तो माँ हो
रोकर तेरा दर्शन चाहे
होना पड़े न उसे निराश
तुम तो मां हो,
चाहे जितनी व्यथा मिले पर
रखना निकट, भूलने मत देना
तुम तो मां हो
प्रेम दान कर, तुम्हें चाह कर
छल सकती है क्या छलना
तुम तो मां हो
शरण यदि तव कोई चाहे
पूरी करना उसकी आस
तुम तो माँ हो
देवता मधुर भाव के
अन्तर भावना तुम्हें ज्ञात
तुम तो मां हो
भूलकर भी तुम्हें न भूले
उसको दो स्थान बड़ा या हो छोटा
तुम तो मां हो
इस पार तुम्हीं उस पार तुम्हीं
तुम्हीं प्रकाशान्धकार लय-रचना ।

मां के कमरे में, मैं मां के चरणों के पास बैठा था । राधू जरा दूर दीवाल के पास खड़ी थी । अचानक मां ने राधू की ओर देखकर कहा, "राधू, विवाह करेगी ! कैसा वर चाहती है ?

राधू चकपका कर बोलीं "जरा लम्बा हो तो ठीक है ।"

"और अगर तुम्हारे पिता की तरह गंजा हो ?"

"वह हो, पर मां की तरह मां मिले ," इतना कहते ही फूट-फूट कर रोने लगी । हाल ही में उसकी मां का देहांत हुआ था ।

"मिलेगी रे, मिलेगी, रो मत ।"

राधू आंख पोछती हुई बाहर चली गई । मेरी ओर देख कर मां ने कहाँ "पिताजी, राधू के विवाह की चेष्टा करो ।"

"राधू कालेज में पढ़ रही है अभी ही विवाह कर दूं?

"कालेज में पढ़े न। क्या इसी से तुम विवाह की चेष्टा न करोगे? तुम पिता हो, अपना कर्त्तव्य करो। समय का कार्य समय पर ही करना होता है। राधू का भाग्य तो कोई बदल नहीं सकता।"

चिंतित-मन घर लौटा। मन में निश्चय किया कि जब मां कह रही हैं तब अब चेष्टा करनी ही होगी।

दूसरे दिन कलकत्ते से मझले पुत्र की चिट्ठी आई। यहां पर एक कविराजजी का एक लड़का है, सुनता हूं अच्छा है, और परिवार भी बहुत अच्छा है। लड़के का विवाह करेंगे। लड़के के मौसा कल लखनऊ जा रहे हैं। इन्हें कोई संतान नहीं है, कविराजजी का पुत्र ही इनके पुत्र की तरह है। इन्हीं की पसन्द के ऊपर सब है। दिया तुम अभी राधू का विवाह करना चाहते हो तो राधू को लेकर कैण्ट स्टेशन पर मुलाकात करो।

कैसा अद्भुत संयोग है!

स्टेशन पर मिलना निश्चय किया। राधू से कुछ नहीं कहा। कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। मातृवियोग के बाद से, कालेज से लौट कर बाप के पास ही बनी रहती थी। पास से हटती न थी।

रिजर्व डब्बे में लड़के के मौसा, मौसी अकेले ही थे। पुराने परिचितों की तरह बातें होने लगी। राधू को देख कर वे बड़े खुश हुए। लौटते हुए मार्ग में राधू बोली, "बाबूजी, ये तो बड़े अच्छे लोग हैं! तुम्हारे परिचित हैं शायद, अचानक मुलाकात हो गई?"

"हां बेटी, नियति होने से ही मुलाकात होती है।"

स्टेशन से लौटकर घर के फाटक पर मोटर से उतर ही रहा था कि एक दूसरी मोटर आ कर ठीक मेरी मोटर के पीछे रुकी। घूम कर देखा, तो मां। राधू ने दौड़कर, मोटर का द्वार खोलकर मां को प्रणाम किया। मां ने उसे माला पहनायी। राधू खड़ी थी, कि मां ने कहा, "ले राधू एक माला और ले, बता तो यह किसकी है?"

राधू का मुख लज्जा से लाल हो गया।

किसलिए, कहां गया था यह किसी को मालूम नहीं था। इस घटना का क्या मूल्य है यह भी तब नहीं समझा था।

कई दिन बाद मेरे लड़के ने चिट्ठी लिखी—"लड़के के मौसा, मौसी को राधू बहुत पसंद आई। तुम राधू की कुण्डली मेरे पास भेज दो। कविराजजी ज्योतिष भी जानते हैं और उसपर विश्वास करते हैं।" कुंडली लड़के के पास भेज दी।

कई महीने बीत गए। सारी घटनाएं मन के किसी कोने में चली गयीं। पूजा राँची में बिता कर, लौटते समय मां को प्रणाम करने गया। कमरे में और कोई नहीं था।

"पिताजी, इसी अगहन में राधू का विवाह कर दो।"

"यह कैसे हो सकता है मां? यह कार्तिक का मध्य है, अगहन को अब कितने दिन रही गये हैं। इसके अलावा राधू की माँ का श्राद्ध भी अभी नहीं हुआ है। एक लड़का भी तो चाहिये। अभी तक कोई खोज नहीं सका हूँ। इसके भी अलावा जानती ही हो इस समय पास में पैसा भी नहीं है।"

माँ—"मैं यह सब कुछ न जानना चाहती हूँ, न सुनूंगी। राधू की माँ का वार्षिक श्राद्ध नहीं हुआ है, किन्तु मैं कहती हूँ कि इससे कोई दोष नहीं लगेगा। सुना है, अरक्षणीया कन्या का विवाह अटकता नहीं।"

अगहन में विवाह करना ही होगा। लाचार हा

काशी लौट आया। राधू कालेज जाने लगी। मैं मन ही मन रोता रहा—काश, मां तुम मेरी भावना समझती!

कोई चारा न देखकर घटक को ठीक किया। कई प्रस्ताव भी आए। पर मन कहीं जमता न था। एक दिन राधू से कहा, "मां तुम्हारे विवाह के लिए चेष्टा करने को कहती हैं। मैं कर रहा हूँ। तुम्हें कुछ कहना हो तो निःसंकोच मुझ से कहो। मां और बाप मैं ही हूं। मेरे कार्य में कहीं कोई त्रुटि न हो।"

"मां ने तुमसे चेष्टा करने को कहा है, तुम मुझे जिसके हाथ में सौंपोगे उसी में मेरा मंगल होगा। मैं अपनी मां की तरह होना चाहती हूँ।"

इधर से निश्चिन्त हो गया।

मां चली गई बम्बई। अगहन भी आ गया। मां की इच्छा शायद पूरी न कर सकूंगा। मन में कुछ हीनता का भाव आने लगा। क्यों मां की इच्छा पूरी नहीं कर पा रहा हूं? निश्चय ही मुझ में ऐसी कोई कालिमा है जिसके कारण मां का आशीर्वाद भी मुझ में प्रस्फुटित नहीं हो पा रहा है।

रे मन,
यदि हो सकता तू
प्रतीक, भक्ति, विनय, नम्रता का
अन्तर दीप-प्रकाश फैलाकर
मन का होता दूर अन्धकार
विचारबुद्धि, तर्कबुद्धि
अहंबुद्धि का गुरु भार
साधन, भजन, मनन, सिद्धि
सब कर देता शून्याकार
कर दे चिन्तामणि
माँ के चरणों में अर्पण
चरण शरण में ले ले छाया
कर ले पद में शिर अवनत
अच्छा! बुरा? फल क्या होगा
तुझसे इसका क्या संबन्ध
सेवा में रह मगन,
दूर फेंक कर स्वार्थ विचार
मां के चरणों में निश्चल
करके अपना सब उत्सर्ग
स्वयं अङ्क में भर लेगी वह
देगी पोंछ आंख का जल
देखं पुकारे माता आकर
"हुई सांझ घर आना"
छोड़ खेल चल उठ रे ओरे
अभय चरण में शरण ग्रहण कर

"मां, भावनाओं की अशांति अच्छी नहीं लगती तुम जो अच्छा समझो, करो। तुम मंगलमयी हो, करुणामयी हो, यह सिर्फ समझा भर दो।"

दो दिन बाद मेरे एक निकटसंबंधी मिलने आए। "दादा, आपसे कुछ खास बात करना है। कलकत्ते के किसी कविराजजी के लड़के से क्या राधू के विवाह की बात चली थी? कविराजजी के यहां से मेरी बड़ी बहन की ससुराल से बड़ी घनिष्टता है। इसी सूत्र से कविराजजी ने मुझे पत्र लिखा है और उसे आपको दिखाने को भी लिखा है। कुण्डली मिल गई है। आप या और कोई क्या लड़का देखेंगे? परिवार को मैं जानता हूँ। एक शब्द में कह दूं अद्भुत है। हां, आर्थिक स्वच्छन्दता बहुत नहीं है।"

"देखो भाई, मैं मनुष्य चाहता हूं, ऐश्वर्य नहीं। लड़का सचमुच मनुष्य है न?"

"हां, दादा, सचमुच मनुष्य है।"

सहसा स्मरण आया, उस दिन राधू के गले में प्रसादी माला का आशीर्वाद पड़ा था। सोचा, कैसा मूर्ख हूँ इतना प्राञ्जल तात्पर्य भी नहीं देख पाया।

"देखो भाई, जिसे लड़का देखना था देख चुका है। अब मेरे देखने, जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सिर्फ एक शर्त है—अगहन में विवाह करना होगा।"

चुटकी बजाते सब हो गया।

बारात आई। वर साक्षी करने गया। वर का सर मेरी ही तरह गंजा था। लौट कर राधू से कहा, "राधू तेरा वर तो खूब लम्बा है।"

मेरे मुँह की बात छीन कर राधू बोली "और सर शायद गंजा है?" सब लोग हँस पड़े।

सन्ध्या लग्न में ही विवाह था।

तीसरे पहर, व्यस्तता के बीच खबर मिली कि एक महिला बहुत जरूरी काम से एक मिनट के लिए मुझसे मिलना चाहती है। बम्बई से आ रही हैं।

महिला ने आकर मेरे हाथ में एक पिटारी दी। "बम्बई से आज ही आई हूँ। माँ ने कह दिया था, पहुँचते ही यह पिटारी पिताजी के हाथ में दे देना। इसीलिए आई हूं।"

पिटारी खोल कर देखा, वंशी बजाते हुए कृष्ण की सुन्दर छोटी मूर्ति, चरणामृत, डिबिया में सिन्दूर भरा हुआ, प्रसादी माला और फूल।

बाप और बेटी के हृदय की जो पुञ्जीभूत व्यथा अब तक सांसारिक बाधाओं के कारण हृदय में दबी थी, सारा बन्धन तोड़ कर, फूट कर निकल पड़ी। बाप-बेटी की अश्रुधारा हृदय तल पर आकर एक हो गई।

कैसी शान्ति!

माँ,

इतना स्नेह—इतना प्यार
स्वप्न में भी थी क्या आशा?
कहूँ तभी।
तुम आनन्दमयी
तुम मंगलमयी
न भूलूं कभी॥

शुभ-दृष्टि के समय, माला बदलते वक्त वर के गंजे सर पर राधू की आनन्दोज्ज्वल, कौतुकपूर्ण दृष्टि देख कर हृदय भर आया।

माँ की शरण उन्हें अक्षय हो।

अगले वर्ष पूजा पर कलकत्ता। मां भी कलकत्ते पहुँची। शाम को मां दीदी के कमरे में बैठी थीं। भीड़ ऐसी थी कि तिल रखने को भी स्थान नहीं। मैं दीदी के पास बैठा था! सहसा देखता हूँ कि राधू भीड़ ठेल कर एकबारगी आकर माँ के पैरों पर गिरी।

राधू का सिन्दूर-भूषित मुख देखा। "यह क्या तुम उतनी दूर क्यों खड़े हो, यहां आओ युगल-मूर्ति देखूं।" कह कर, माँने, वही स्नेहविगलित हँसी हँसी।

माँ के आशीर्वाद की माला गले में पहने दोनों बाहर आए। मैं भी साथ ही आया।

आशू (राधू का पति) ने चिंतित, विह्वल होकर मुझसे पूछा, "अच्छा बाबूजी, माँ ने तो मुझे कभी देखा नहीं फिर इस भीड़ में मुझे पहचाना कैसे? बुलाया कैसे?

मेरे उत्तर देने के पहले ही राधू ने उत्तर दिया, "मेरे तुम्हारे जन्म के पहले ही माँ ने मेरा-तुम्हारा जोड़ा

निश्चित कर रक्खा था। फिर भी मां नहीं पहचानेंगी।"

"बाबूजी, मैं अभी मां से क्या कह रही थी जानते हो? मां की तरह मां तो पायी ही और पिता की तरह पिता भी पाया। घाते में पायी है एक बहन, जैसे कि मेरी लड़की हो।"

मां,

हृदय बीच में रखना चाहूँ
तेरे दोनों चरण कमल
सभी काज में करना चाहूँ
स्मरण तुम्हारे वचन विमल
मन मन्दिर में सदा बिठाऊँ
देकर तुमको सुन्दर आसन
अश्रुजलों से चरण पखारूँ
नाम उचारूँ निशिवासर
प्रेमदीप का कर प्रकाश नित
करूँ तुम्हारा आराधन
सेवा का होगा मम साधन
पुष्प बनेगा प्यार हमारा
चरण युगल की होगी पूजा
क्रन्दन होगा मंत्र हमारा
और न साधन दूजा।

भक्तिसाधना की एक झलक

महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज एम्० ए०, डी–लिट्०

अध्यात्मसाधना के विभिन्न मार्ग हैं यह प्रायः सभी जानते हैं। कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति आदि उपायों की चर्चा भी अनेकों ने अल्पाधिक सुनी ही है। इन सब साधनाओं में क्रम है यह भी सत्य है। और एक साथ एक ही महासाधना के अङ्गरूप में इनमें से प्रत्येक का स्थान निर्दिष्ट है, यह भी सत्य है। क्रमिक साधना में भी साधक के दृष्टिकोण के भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं। वैसे ही महासाधना के प्रकार भेद भी बहुत स्थानों में दिखाई देते हैं।

वर्तमान निबन्ध में महासाधना के रूप में ही भक्ति साधन की एक झलक प्रदर्शित करने की चेष्टा की जा रही है। भक्तिसाधना से भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश पाकर अनन्त काल तक उनके किङ्कर के रूप में अपने अधिकारानुसार उनकी सेवा करना और लीला का संभोग करना यही उद्देश्य है। यदि इस पथ का पथिक बनना हो तो सर्वप्रथम पथप्रदर्शक सद्गुरु का सहारा लेना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि सद्गुरु की कृपा प्राप्त हुए बिना अपने स्वरूप का आवरण नहीं हटता एवं मुक्त स्वरूप का आविर्भाव भी नहीं होता। अविद्या ही आवरण है एवं शुद्ध विद्या के द्वारा इस आवरण की निवृत्ति होने पर ज्ञानमय शरीर की अभिव्यक्ति होती है। शुद्ध विद्या सद्गुरु के कृपाकटाक्ष के बिना प्राप्त नहीं होती।

सद्गुरु का मिलना अत्यन्त कठिन है। जब तक जन्मजन्मान्तरों के पुण्यसंस्कार परिपक्व न हों तथा अनादि संचित मल (पापों) के क्षीण होने का अवसर न आवे तब तक सद्गुरु का साक्षात्कार एवं उनकी शरण मिलना किसी प्रकार संभव नहीं है। इसी लिए गुरुप्राप्ति के इच्छुक साधक धर्मजीवनलाभ के लिए कटिबद्ध होकर भगवान् के अनन्त नामों में से अपनी अभिरुचि के अनुसार किसी एक नाम का अवलम्बन करते हैं। एवं भावना द्वारा नाम और नामी का अभेद मान कर निरन्तर व्याकुल चित्त से, शुद्ध और संयत चित्त से, उस नाम का अवलंबन कर पुकारते रहते हैं। यदि चित्त में लौकिक भोगों की आकांक्षा क्षीण हो जाय तथा आभास रूप से वैराग्य का बीज पड़ा हो तो यह नाम–साधना क्रमशः अकृत्रिम ज्ञान-साधना के पूर्व अङ्ग के रूप में परिणत हो जाती है। दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है कि नामसाधना से विश्वगुरु किसी एक मूर्ति को धारण कर दीन साधक की व्याकुल दृष्टि के सामने आविर्भूत होते हैं। एवं साधक को आनन्द राज्य में ले जाने के लिए सर्वप्रथम उसमें अनुग्रह रूप ज्ञानशक्ति का संचार करते हैं।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि साधक का कारण शरीर अज्ञानकल्पित है। इसलिए गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा का प्रभाव सर्वप्रथम इस अज्ञानमय कारण शरीर के ऊपर ही पड़ता है। गुरु द्वारा दिया गया बीज मन्त्र वास्तव में शुद्ध ज्ञानशरीर का बीज है। वह अङ्कुरित होकर समय पर साधक की अकृत्रिम साधना के उपाय स्वरूप नित्य शरीर का अभिव्यञ्जक होता है। जैसे बीज अङ्कुरित होकर क्रम से वृक्ष, पत्ते, पुष्प और फल के रूप में

परिणत होता है एवं फल में, परिपाक होने से, क्रमशः रस का उद्गम होता है वैसे ही यह गुरुद्वारा प्रदत्त ज्ञान-बीज भी साधक के हृदयरूपी खेत में पड़ कर क्रमशः विशुद्धज्ञानदेह का रूप धारण करता है। साथ ही साथ अज्ञान और अज्ञान के कार्य निवृत्त हो जाते हैं। गुरुदत्त मन्त्र की साधना इसलिए एक प्रकार से ज्ञान की ही साधना है। किन्तु यह शुष्क ज्ञान नहीं है, यह क्रमशः समझ में आ सकेगा। ज्ञानसाधना पूरी होने पर अज्ञान के उपादान विनष्ट हो जाते हैं एवं अपना स्वरूप उज्ज्वल स्वभाव में पर्यवसित होता है। अशुद्ध अचिदंश का विनाश होने पर दैहिक प्रकृति त्रिगुणमयी अवस्था से शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था में व्यक्त होने की योग्यता प्राप्त करती है।

जिन लोगों के मत में केवल मलिन अचित् धर्मों से छुटकारा पाना ही परम लक्ष्य नहीं है वे सीधे पथ से अखण्ड चैतन्य की ओर अग्रसर न होकर भाव के पथ से पूर्णत्व के अभिमुख दौड़ लगाते हैं। चित्त के उपादान सत्त्वगुणप्रधान हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। चित्तशुद्धि होने के बाद इस चित्त में रजोगुण और तमोगुण का अंश निश्चेष्ट या स्तम्भित हो जाता है यह भी सत्य है, किन्तु यह शुद्ध सत्त्व प्रकृति के भेद से विभिन्न योग्यतासम्पन्न होता है। दर्पण स्वच्छ है, इसलिए उसके सामने जो कोई चीज आती है वह उसमें ज्यों की त्यों प्रतिबिम्बित होती है यही सच्छता का लक्षण है। किन्तु दर्पण के स्वच्छ होने पर भी विम्ब यदि हटाया जाय तो ऐसी स्थिति में प्रतिबिम्ब का आभास नहीं पड़ता, दूसरे पक्ष में उसी स्वच्छ दर्पण में किसी वस्तु का संमिश्रण रह सकता है जिसके कारण विम्ब ने पर भी दर्पण में पड़ा प्रतिबिम्ब अङ्कित रहता है। चित्त दर्पण की नाईं स्वच्छ पदार्थ है उसमें वस्तु का आकार प्रकाशित होने पर भी स्थायी नहीं रहता। किन्तु विशेष अवस्था में वह स्थायी रहता भी है। चित्तक्षेत्र में भाव की सत्ता निहित है, यही इसका कारण समझना चाहिये। भावरहित चित्त शुष्क ज्ञानमार्ग का उपयोगी है। किन्तु भावयुक्त चित्त भावसाधना में अग्रसर होने को बाध्य होता है।

गुरुदत्त ज्ञान प्राप्त कर जब साधक सिद्ध अवस्था में पहुंचता है तब एक प्रकार से उसका साधन कार्य आपेक्षिक रूप से समाप्त हुआ कहा जा सकता है। अवश्य साधना की वास्तविक समाप्ति पूर्ण तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर ही होती है, वह उस समय भी शेष रहती है, किन्तु चित्त स्वच्छ और विमल होने पर भी भाव-युक्त रहने से पूर्वोक्त विशुद्ध ज्ञानदेह भावदेह के रूप में अपने को व्यक्त न करे ऐसा नहीं हो सकता। यही निराकार से साकार साधना के क्षेत्र में पदार्पण है। भावदेह अशुद्ध मायिक देह नहीं है—यह स्वभाव की देह है। एक हिसाब से इसे स्वरूपदेह कहा जा सकता है। भावगत विशिष्टता के कारण यह भेद दिखाई देता है। यह भाव आगन्तुक और विनश्वर भाव नहीं हैं। किन्तु निजभाव या स्व-भाव है। भावसाधना भावदेह में ही निष्पन्न होती हैं। पहले जिस साधना की चर्चा की गई है वह कृत्रिम साधना है, किन्तु भाव की साधना स्वाभाविक और अकृत्रिम है। इस साधना को सिखाने के लिए पृथक् गुरु की आवश्यकता नहीं होती। पर जिनकी भावदेह की अभिव्यक्ति हुई नहीं और भावसाधना में रुचि है उनमें कृत्रिम उपाय से भावनायोग से भावदेह की रचना कर उस देह के अवलम्बनपूर्वक रागानुगा मार्ग से भाव

साधना करने की व्यवस्था है। यह भी भक्तिसाधना का एक विशिष्ट मार्ग है एवं वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति से इसका स्थान उत्कृष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि इसमें कुछ कृत्रिमता है—क्योंकि सचमुच भावदेह की अभिव्यक्ति एवं प्राकृत देह में स्थित होकर कल्पना द्वारा भावदेह का आविर्भाव ये दोनों ठीक एक नहीं हैं। दोनों साधनाएं यद्यपि भावसाधनाएं हैं तथापि एक साधना में शास्त्र का निर्देश और गुरु-परम्परा विद्यमान है, किन्तु दूसरी में किसी की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि इस लीलानुगामिनी भक्ति-साधना में चार मुख्य दशाएँ या अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं, इन चार दशाओं का ज्ञान, वरण, प्राप्ति और अनुभव के नाम से वर्णन किया जा सकता है। सद्गुरु की प्राप्ति होकर उनकी शरण पकड़ने पर ज्ञात होगा कि प्रथम दशा का आविर्भाव हुआ, इस का नाम 'आचार्य प्रपत्ति' है। इस अवस्था में गुरु के शरणागत होकर सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा, परमात्मा और जगत् के तत्त्व का निरूपण करना पड़ता है। यह एक प्रकार की ज्ञान की ही साधना कही जा सकती है। किन्तु यह परोक्ष ज्ञान है, आचार्य के अनुगतरूप से उन्हीं की कृपा से इस ज्ञान का उदय होता है, इस ज्ञान की दृष्टि से ही इस दशा का किसी किसी ने ज्ञानदशा के रूप से वर्णन किया है। इसके बाद दूसरी दशा यानी वरणदशा में भक्त और भगवान् के साथ परस्पर का जो नित्य सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह भावदेह का उदय न होने तक सटीक रूप से नहीं हो सकती। आचार्य इसका सम्बन्धदीक्षा के नाम से उल्लेख करते हैं। जीव जब तक अपनी भावदेह में प्रतिष्ठित न हो तब तक भगवान् के साथ अपना नित्य सम्बन्ध उसे ज्ञात नहीं हो सकता। ज्ञानदशा का अन्त होने पर जब भाव का उदय होता है तब गुरुकृपा से एवं अपनी अनादि सिद्ध रुचि के अनुसार भगवान् के साथ भावदेही साधक का नित्य सम्बन्ध खुल जाता है। इस सम्बन्ध के ज्ञात न होने पर जीव सेवकरूप से आराध्य भगवान की सेवा करने में समर्थ नहीं होता। जीवों के अनन्त और भगवान के एक होने पर भी एवं मूल में प्रत्येक जीव के साथ अभिन्न होने पर भी भावदृष्टि से प्रत्येक जीव के साथ विलक्षण सम्बन्ध है, जीव जब तक स्वभाव में प्रतिष्ठालाभ नहीं करता तब तक उसके हृदय में इस सम्बन्ध की स्मृति जागती नहीं एवं उसके जागे विना अकृत्रिम भावसाधना नहीं हो सकती। भगवद्धाम में प्रवेश कर उनके साथ नित्य लीला में योगदान करना सेव्य सेवक भाव के ऊपर निर्भर है। प्रत्येक भक्त जीव की सेवा उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार होती है। प्रत्येक की सेवा पृथक् पृथक् है, जिनकी जो सेवा है उनके लिए वही स्वाभाविक है। नित्य धाम में भगवान् को केन्द्र बना कर जो नित्य आनन्दमय उत्सव चल रहा है उसमें प्रत्येक जीव का एक विशिष्ट और निर्दिष्ट स्थान है। केवल यही नहीं, उसकी एक विशिष्ट सेवा भी है, विशिष्ट दृष्टिकोण भी है एवं उसीके अनुरूप एक रस का आस्वादन भी है। सम्बन्ध दीक्षा के सुसम्पन्न हुए बिना कोई जीव भगवत्सम्बन्ध में अपना निज स्थान स्पष्टतः नहीं देख पाता। यह जो वरण की बात कही गई है यह वस्तुतः स्वाभाविक होने से दोनों पक्षों में निष्पन्न होती है। अर्थात् ईश्वर द्वारा जीव का वरण और जीव द्वारा ईश्वर का वरण ऐसा हुए बिना इष्टसाधना में व्याघात हो जाता है।

भावदेह में भावसाधना के परिपक्व होने पर भाव के पूर्ण परिपाक वश प्रेम का उदय होता है। भाव के तुल्य प्रेम की भी पूर्णता आवश्यक है। प्रेम का चरम उत्कर्ष सम्पादन ही साधना का उद्देश्य है। श्रीभगवान् का नित्य किङ्कर जीव साक्षात् सेवा करने की योग्यता प्राप्त करने पर नित्य लीला में प्रवेश प्राप्त करता है। नित्य लीला चक्र में भी प्रत्येक का अपने अपने भाव के अनुकूल सेवा का स्थान निर्दिष्ट है। जिसका जो स्थान है उसके लिए वही उत्कृष्ट है, क्योंकि वहीं से वह अपने धर्म का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है। नित्य लीला में प्रविष्ट कोई भी जीव स्वधर्म का त्याग कर परधर्म के प्रति आकृष्ट नहीं होता अर्थात् अपनी विशिष्ट सेवा का त्याग कर अन्य की सेवा ग्रहण करने की अभिलाषा नहीं करता। इस तृतीय दशाका "प्राप्ति" के नाम से वर्णन किया जाता है। सेवा के बाद जो रसास्वाद होता है वही अनुभव दशा नाम की चौथी दशा है, यह लीलारस का आस्वादन है। रसिक भक्तों के मतानुसार ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भी लीलारस की मिठास अनन्त गुना अधिक है। पर स्वरूपतः दोनों एक ही हैं। यह परम रसास्वादन ही भक्तिसाधना का चरम लक्ष्य है। इस विषय में विशेष विवरण कभी फिर लिखने की इच्छा है।

—:o:—

रहस्यानुभूतिगत उदात्त भावना*

सिंहावलोकन तथा नव सृजन

रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, एम० ए०, डी० लिट०

सम्मानप्राप्त आचार्य, दर्शनविभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

आदरणीय राष्ट्रपति जी, आज सायंकाल यहाँ भाषण देने के लिये बुला कर जो उल्लेखनीय सम्मान मुझे प्रदान किया है उसके लिये मैं आप का बहुत कृतज्ञ हूँ। भाषण का विषय मैंने चुना है आध्यात्मिक अनुभूति अथवा तत्त्वोपलब्धि का आलोचन। आलोचन का प्रयोग यहाँ काण्ट के आलोचन (Critique) के अर्थ में है। इसका अर्थ आलोचना या खण्डन नहीं। इसका अर्थ प्रत्याख्यान नहीं। इस का अर्थ किसी भी दार्शनिक समस्या का बहुत ही सावधान अध्ययन, विवेचन तथा अभिव्यञ्जन है। काण्ट सम्भवतः यूरोपीय श्रेष्ठ दार्शनिकों में से है। उसकी तीन कृतियाँ बहुत उल्लेखनीय हैं—विशुद्ध बुद्धि का आलोचन (The critique of pure reason), प्रायोगिक बुद्धि का आलोचन (The critique of practical reason) और निर्णय का आलोचन (The critique of judgement) जिन में से परवर्ती कृतियाँ पूर्ववर्ती कृतियों के मूर्धन्य पर आधारित हैं। जब मैं तरुण विद्यार्थी था तो वे मुझे दर्शन-ग्रन्थ की भाँति लगती थी, अब वे मुझे काव्य ग्रन्थ के सदृश प्रतीत होती हैं। जब काण्ट जैसा विचारक इन तीन आलोचनों में विचार तथा अनुभूति के प्रत्येक विषय पर अपना अत्यन्त गम्भीर ज्ञान प्रकट करता है तो किसी साधारण अथवा दार्शनिक व्यक्ति के लिये इन तीन आलोचनों के अतिरिक्त योजनाओं का निर्माण करना बहुत कठिन कार्य है। पर तो भी जिन लोगों ने समसामयिक दर्शन पढ़ा है और जिन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य विचार का आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि काण्ट में एक वस्तु का अभाव है; वह है प्रातिभ ज्ञान का तत्त्व। हाँ उसके ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादकों ने प्रातिभका प्रयोग प्रत्यक्ष के अर्थ में किया है। जिस अर्थ में मैं इस शब्द का प्रयोग करने जा रहा हूँ और जिस अर्थ में यह सम-सामयिक विचार में प्रयुक्त होता है वह अतीन्द्रिया शक्ति (Super-sensuous faculty) है, जो बुद्धि (Reason) के परे जाती है और हमें बुद्धि से अगम्य वस्तुओं का ज्ञान कराती है। जिस शक्ति के द्वारा हम आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश कर सकते हैं, वही प्रातिभ है। इसी को शङ्कराचार्य अनुभूति कहते हैं।' अस्तु मैं काण्ट के विशुद्ध बुद्धि, प्रायोगिक बुद्धि और निर्णय

---

* १६ अप्रैल १९५४ को राष्ट्रपति-भवन दिल्ली में दिये भाषण का हरिमाधवशरण कृत हिन्दी अनुवाद। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका "दार्शनिक" के सम्पादक के सौजन्यसे प्राप्त।

के तीनों आलोचनों को एक नये आलोचन अर्थात् प्रातिभ का आलोचन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति के आलोचन द्वारा परिपूर्ण करने की आवश्यकता सोचता हूँ। भगवद्गीता के अध्ययन में मुझे वह ज्ञान प्राप्त हुआ। १९२८ में नागपुर विश्वविद्यालय में मैंने भगवद्गीता पर कई भाषण दिए। तब से ले कर बहुत दिनों तक उक्त विषय पर मैं विचार करता रहा। पर नाना पूर्व व्यवसायों और समयाभाव ने अब तक उन भाषणों को प्रकाशित न होने दिया। उस समय मैंने तीन मुख्य विषयों पर विचार किया था—(१) अध्यात्म शास्त्र का द्वन्द्व (Antinomies of Metaphysics) (२) अहैतुक आदेश Categorical imperative) और (३) आत्मानुभूति में उदात्त की भावना। ये ही तीन विषय काण्ट-दर्शन के मुख्य विषय हैं और क्रमशः विशुद्ध बुद्धि के आलोचन, प्रायोगिक बुद्धि के आलोचन तथा निर्णय के आलोचन में व्यवहृत हैं। प्रस्तुत कृति पर यदि कोई आपाततः भी दृष्टिपात करेगा तो उसे विदित हो जायगा कि ये ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनसे प्रस्तुत कृति का सम्बन्ध है।'

काण्ट के विशुद्ध बुद्धि के आलोचन में द्वन्द्वों के ऊपर सुप्रसिद्ध अध्याय है। उसके द्वारा मैं इस विषय में प्रवेश करने को लालायित हुआ। सचमुच वह विशुद्ध बुद्धि के आलोचन का सार और बीज है। उसके बाद काण्ट ने इधर-उधर देखना आरम्भ किया; आगे पीछे अनेक अधिकरणों को जोड़ दिया और इस प्रकार अपनी कृति विशुद्ध बुद्धि का आलोचन पूर्ण किया। यदि आप द्वन्द्वों की रचना पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि उनमें चार समस्याएँ हैं। जगत की समस्या, आत्मा की समस्या, स्वातन्त्र्य की समस्या और ईश्वर की समस्या। हमें और क्या चाहिये? द्वन्द्वों में इन सब पर विचार किया गया है। काण्ट चूंकि अपनी नैसर्गिक तार्किक रीति से अपने दार्शनिक पर्यवेक्षणों का एक प्रकार की तार्किक प्रणाली से समर्थन करना चाहता था। इसी लिये उसने हमें एक ओर हेत्वाभासों (Paralogisms) और आदर्शों (Ideals) को दिया तो दूसरी ओर पदार्थों (Categories) और और आत्म प्रयत्न (Apperception) की एकता को। किन्तु जहाँ तक विशुद्ध बुद्धि की बात है काण्ट के दर्शन का सार द्वन्द्व है। काण्ट के तर्कवाक्य ये हैं—द्वन्द्व का अर्थ है एक नियम का दूसरे के विरोध में तुल्यबल होना। दर्शन में यह शाश्वत होता है। काण्ट के अनुसार इस प्रकार के उपयुक्त चार द्वन्द्व हैं अर्थात् बद्ध अबद्ध का द्वन्द्व, साधारण तथा मिश्र का द्वन्द्व, स्वातंत्र्य तथा कार्यकारणवाद का द्वन्द्व और अनिवार्य तथा संभाव्य सत्ता का द्वन्द्व। काण्ट ने इन द्वन्द्वों का समाधान भी किया है। भगवद्गीता भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों को उठाती है। पहला द्वन्द्व है ईश्वर सशरीर है अथवा अशरीर 'दूसरा है ईश्वर कर्त्ता है या द्रष्टा, तीसरा है ईश्वर सर्वातीत है अथवा सर्वान्तर, चौथा है जगत सत्य है अथवा असत्य और पाँचवाँ है क्रममुक्ति है या सद्योमुक्ति। इस प्रकार गीता के आध्यात्मिक अधिकरण में ये समस्यायें वर्णित हैं। जिनकी प्रायेण उपेक्षा की गई है। हम अपने विवाद में देखेंगे कि गीता ने इन तत्वों का कैसे समाधान किया है।

मगर आज मेरी प्रधान समस्या द्वन्द्व और उनके समाधान अथवा अहैतुक आदेश और उसके प्रकार नहीं है। मेरी समस्या दूसरी है, उसपर शीघ्र ही विचार करेंगे, उस समस्या पर हम विशेष ध्यान देंगे।

द्वन्द्वों पर विचार कीजिए। पहले पौरुषेय

(सशरीर) और अपौरुषेय (अशरीर) के द्वन्द्व के सम्बन्ध में हमें भगवद्गीता में इन दोनों सिद्धान्तों की समर्थक उक्तियाँ मिलती हैं। 'ज्ञेयं यदत्र वक्ष्यामि' में पौरुषेय-परक प्रत्यय है। 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः', यहाँ अपौरुषेयपरक प्रत्यय है। 'पिताहमस्य जगतः……… प्रभवप्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्, यह ऊपर के दोनों कथनों का समन्वय करता है। अतः हम कह सकते हैं कि पौरुषेय तथा अपौरुषेय दोनों प्रत्ययों का तथाकथित अतिपौरुषेय में समन्वय है। मैं विस्तार में नहीं जाना चाहता, फिर भी मैं आप के समक्ष इन निष्कर्षों को रखना चाहता हूं।

(२) दूसरा द्वन्द्व है—ईश्वर कर्ता है या द्रष्टा ? जो लोग समझते हैं कि ईश्वर सब कुछ करता है वे भूले हुए हैं, क्योंकि वह प्रकृति है जो सब कुछ करती है। जो ईश्वर को कर्ता मानता है वह कुछ नहीं समझता।

> 'तत्रैवं सति कर्त्तारम् आत्मानं केवलं तु यः।
> पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥'

इस के विपरीत प्रकृति सर्वशक्तिसम्पन्न है। पर इस सिद्धान्त के प्रतिकूल भगवद्गीता में ही हमें दूसरा सिद्धान्त मिलता है।

> 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि ··· ··· ··· ॥'

यह गेटे की आत्मा की भाँति बतलाता है कि ईश्वर अपनी अंगुलियों के चारों ओर अखिल जगत को घुमाता है। समाधान क्या है ? कर्तृत्व-द्रष्टृत्व द्वन्द्व का समाधान है कि ईश्वर प्रकृति में निवास करता है और उसकी उपस्थिति के कारण ही प्रकृति घूमती है।

> 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'

इस सिद्धान्त को हम निःसरणवाद (Emanationism) कह सकते हैं।

(३) तीसरा द्वन्द्व सर्वातीतत्व और सर्वान्तरत्व का है। क्या ईश्वर सम्पूर्णतया संसार में सर्वान्तर ही है। अथवा वह संसार के बाहर भी है ?

'समाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।' यह सर्वान्तरीय सिद्धान्त है। इसके प्रतिकूल 'यथा प्रकाशयत्येएकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः, में सर्वातीतीय सिद्धान्त है। जैसे सूर्य अथवा आकाश निर्लिप्त रहते हैं अर्थात् जैसे सूर्य और आकाश सर्वातीत हैं वैसे ही ईश्वर भी। इस द्वन्द्व का समाधान दो प्रकार से हो सकता है। एक तो जैसा अर्वाचीन ईश्वरवादी मानते हैं 'ईश्वर को सर्वगतातीत मानने से द्वन्द्व का समाधान हो जाता है।' अवतार का प्रत्यय वस्तुतः यह है कि जो सर्वातीत है वह सर्वान्तर होता है। अतः अवतारवाद जो हिन्दू और ईसाई धर्म की अनोखी विशेषता है सर्वान्तरत्व-द्वन्द्व का समाधान करता है।

(४) जगत् की सत्यता और असत्यता नामक चौथे द्वन्द्व के सम्बन्ध में एक स्थल पर हमें सभी तत्त्वों की सत्यता बताई जाती है।

> 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
> अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥'

दूसरी जगह हमें माया तथा अज्ञान के विषय में बताया जाता है। आगे अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन मिलता है जो स्केन्डेनेविया के कथासाहित्य में इग्ड्रैसिल वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। अश्वत्थ की परिभाषा है—न श्वोपि तिष्ठति इति अश्वत्थः। इसी लिये यह असत् का प्रतीक है। अब उपनिषद् और भगवद्गीता में एक भेद है, उपनिषद् अश्वत्थ की सत्ता घोषित करते हैं—

'एषोऽश्वत्थः सनातनः।' इस के विपरीत भगवद्गीता में हमें बताया जाता है कि जो अश्वत्थ वृक्ष को काटता नहीं है वह अपना जीवन व्यर्थ में बिताता है। अतः जहाँ तक भगवद्गीता का विचार है अश्वत्थ का प्रत्यय असत् का प्रत्यय है। इसका समन्वय श्रीकृष्ण ने स्वयं व्यक्तमध्य के सिद्धान्त में दिया है।

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥'

कारलाइल भी कहता है—थोड़ा पहले तुम नहीं थे; थोड़ा बाद तुम नहीं रहोगे। तुम केवल सुप्रतीयमान वर्तमान में ही हो। भगवद्गीता के व्यक्तमध्य का भी यही सिद्धान्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षण-भंगुरवाद का सिद्धान्त सदसद् द्वन्द्व को समन्वित करता है।

(५) अन्ततः अन्तिम द्वन्द्व आता है। यह द्वन्द्व वेदान्तसाहित्य में सर्वप्रसिद्ध और समादृत है। क्या मनुष्य मृत्यु के क्षण ही मुक्त हो जाता है? अथवा वह नाना मोक्ष—समीपतर जीवनों के द्वारा मुक्त होता है?

'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्' में प्रथम उक्ति की अभिव्यक्ति है और 'अनेकजन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' में दूसरे की। इन दोनों विकल्पों का समन्वय जीवन्मुक्ति अर्थात् यहीं और इसी समय मुक्ति में है। जीवन्मुक्ति को ही भगवद्गीता ब्राह्मी स्थिति ... कहती है। 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ।' यहाँ तक मैंने आप को काण्ट के द्वन्द्व और समाधानों की शैली में गीतोक्त द्वन्द्व और उनके समाधान का यत्किञ्चित् परिचय दिया।

अहैतुक आदेश के विषय पर भी प्रायोगिक बुद्धि के आलोचन और भगवद्गीता में बहुत समानान्तर वर्णन है। भगवद्गीता अवश्य काण्ट से प्राचीनतर है और काण्ट न तो भगवद्गीता को जानता था और न जान ही सकता था। तो भी काण्ट महान पुरुष था, और सभी महापुरुषों के विचार में सादृश्य रहता ही है। जिन्होंने काण्ट के नीतिशास्त्र का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि कार्य का उच्चतम सिद्धान्त उसका अहैतुक आदेश है। उसी सूक्ति के अनुसार कार्य कीजिए जिससे आप विश्वजनीन नियम होने का सङ्कल्प कर सकें। यह अहैतुक आदेश का सामान्य सूत्रीकरण है। काण्ट ने बाद को तीन सुविविक्त और क्रमिक सूत्रीकरणों की रचना की। काण्ट का कहना है कि सामान्य सूक्ति में जो सार्वभौमता निहित है उसे अवश्य प्रकृति के नियम का रूप धारण करना चाहिए। अन्ततः इसे साध्यों के उस राज्य की सहायता करनी चाहिए जिस में प्रत्येक मनुष्य। सदा साध्य समझा जाय और कभी साधन न माना जाय और जिसमें प्रत्येक मानव प्राणी की इच्छा शक्ति बुद्धिपरता की हैसियत से समस्त मानवता के लिए विधान बन सके। यही काण्ट के नीतिदर्शन की विस्तृत बातें हैं। जिनमें इस समय मैं पड़ना नहीं चाहता हूं। मैंने आप के समक्ष केवल वह विधि रक्खी है जिसमें अहैतुक आदेश का सामान्य सूत्रीकरण तीन उपसूत्रों में विशिष्ट बन जाता है।

ठीक उपर्युक्त रीति में ही भगवद्गीता भी अहैतुक आदेश की सामान्य सूक्ति हमें देती है।

'कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं कुरुतेऽर्जुन।'

तुम्हें अपना कर्तव्य करना चाहिए। कारण, यह तुम्हारा कर्तव्य है और कोई बात नहीं। यह सामान्य सिद्धान्त है। जो काण्ट के अहैतुक आदेश की सामान्य सूक्ति से भली भांति मिलता जुलता है। बाद में भगवद्गीता इसके तीन क्रमिक विशेषीकरणों का उल्लेख करती है। पहला है—

'संगं त्यक्त्वा फलानि च' जब तुम कार्य कर रहे हो उस समय तुम्हें न तो लिप्त होना चाहिए और न तो कार्य के फल की परवाह करनी चाहिए। दूसरा विशेषीकरण है—तुम्हें समदृष्टिपूर्वक और कारीगर की भाँति कार्य करना चाहिए। जैसे कि महात्मा गान्धी अपने को सत्याग्रह का कारीगर कहते थे। 'समत्वं योग उच्यते' और 'योगः कर्मसु कौशलम्।' और अन्ततः सर्वश्रेष्ठ विषयीकरण है कि यज्ञ की भावना से कार्य करना चाहिए।

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।' यज्ञ का अर्थ पशुवध अथवा घृत, तण्डुल और तिल की आहुति नहीं है। यह ईश्वर के लिए सभी स्वत्वों का बलिदान या त्याग है। यही यज्ञ का अर्थ है। संक्षेप में भगवद्गीता के अनुसार जो लोग अपना कर्तव्य करने के लिए अपने आध्यात्मिक संतोष के निमित्त कार्य करते हैं वे उचतम सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं। काण्ट के अनुसार यदि आप कार्य करते समय आनन्द तथा भोग करते हैं तो आप अपना कर्तव्य बिल्कुल नहीं कर रहे हैं। जब हम अपना कर्त्तव्य करें तो सुख या दुःख का विचारमात्र भी न लावें। किसी कवि ने काण्ट का उपहास यह कह कर किया है कि यदि हमारे मां बाप मर रहे हों तो काण्ट हमें परामर्श देते हैं कि उनके पर्यङ्क के पास हमें एक बूंद भी आंसू नहीं गिराना चाहिए। तुम्हें अपना कर्तव्य इसलिए करना चाहिए कि यह तुम्हारा कर्तव्य है। अतः संवेग की अभिव्यक्ति काण्ट के मत में सर्वथा नीतिक्षेत्र से बाहर है।

यदि हम भगवद्गीता पर पुनः विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसमें विविध यज्ञों का वर्णन है। सचमुच यह जानकर आश्चर्य होता है कि कृष्ण स्वयं समाजवादी सिद्धान्त द्रव्ययज्ञ से आरम्भ करते हैं। गीता कहती है कि हमें कार्यकुसुमों को ईश्वर-शरीर पर रखना चाहिए। अतः हमें अपने कार्यों से ईश्वर को विभूषित करना चाहिए और अन्ततोगत्वा उन्हें ईश्वर के पास सुरक्षित रख छोड़ना चाहिए। 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि।'

इस प्रकार जहां तक अहैतुक आदेश का सम्बन्ध है गीता के ये ही विचार हैं। आप देखेंगे कि काण्ट और गीता एक ही प्रकार से सोचते हैं, यद्यपि न तो काण्ट गीता को जानता था और न गीता काण्ट-दर्शन का ही प्राक्चिन्तन कर सकी।

आखिर में हमें औदात्त्य पर विचार करना है। यही आज का मेरा प्रस्तुत विषय है। भगवद्गीता में विशेषतः ११ वें अध्याय में इस विषय पर सुन्दर विचार किया गया है। मैं समझता हूँ कि काण्ट ने औदात्त्य पदार्थ को निर्णय के आलोचन में सौन्दर्य तथा साध्यता संबन्धी (The teleological) पदार्थों के मध्यस्थ मान कर बड़ी भूल की है। यह कुछ शास्त्रीय विषय है। काण्ट कहता है कि स्वादु और औदात्त्य दोनों सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णय के अन्तर्गत हैं। मेरा इनसे मतभेद है। मैं समझता हूँ कि औदात्त्य स्वादु और साध्यता (Teleology) का समन्वय है। अतः औदात्त्य को स्वादु तथा साध्यता के मध्य स्थापित करने के बजाय काण्ट को साध्यता को सौन्दर्य तथा औदात्त्य के मध्य रखना चाहिए था। इतने पर भी काण्टकृत औदात्यवर्णन आश्चर्यजनक है। मुझे इस विषय को ग्रहण करने को जिस वस्तु ने उत्सुक किया वह इसी प्रकार का औदात्य है जो काव्यकला, मानवजीवन तथा आध्यात्मिक अनुभव में होता है। ताजमहल एक सुन्दर भवन हो सकता है पर राष्ट्रपतिभवन तक २ मील आयत मार्ग तथा संसद के सदन उदात्त हैं। काण्ट के अनुसार सौन्दर्य तथा औदात्त्य में यह भेद है, सौन्दर्य का लक्ष्य क्रम (Order), सन्तुलन (Symmetry) तथा, समरसता (Harmony) है और सौन्दर्य में दर्शक का मन दृश्य विषय से अनुप्राणित और अनुस्यूत हो जाता है। औदात्य

में मन दृश्य विषय द्वारा जीत लिया जाता है। जब भूचाल आता है तो क्या होता है? तूफान में, अग्निकाण्ड में, युद्ध में, महामारियों और प्रचण्ड बाढ़ों में मनुष्य के मन को प्रकृति जीत लेती है। अतः यहाँ उदात्त की भावना आ जाती है। इतने पर भी काण्ट कहता है कि मनुष्य का मन इतना विशाल है कि उसे इन वस्तुओं द्वारा अपने मन को पराजित न होने देना चाहिए। सम्भव है कि ये शक्तियाँ किसी मनुष्य को क्षण भर गतिशून्य कर दें पर मनुष्य जानता है कि उसकी आन्तरिक आत्मा प्रकृति की इन सकल शक्तियों से विशाल है, और आन्तरिक विजय प्रकृति की विजय से कहीं उच्चतर है।

एडोल्फ आट्टो जैसे विश्रुत विद्वान् लेखक ने हाल ही में काण्ट की उदात्त भावना का सामानान्तर "शुचिता के विचार" (Idea of the holy) में दिया है। यदि आप आट्टो की पुस्तक शुचिता का विचार पढ़ें तो आपको यह अद्भुत ग्रन्थ लगेगा। १९२७ में पूना में उनसे मिल कर मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। मैंने उनकी पुस्तक पढ़ी थी और उन्होंने उपनिषदों पर लिखी मेरी पुस्तक पढ़ी थी, उन्होंने मुझे सन्देश भेजा था — मैं आपसे मिलूँगा। मैंने कहा—महाशय, आप अतिवृद्ध हैं, आपको मेरे यहां आने की आवश्यकता नहीं है, मैं स्वयं आपके दर्शन हेतु आप के यहाँ आऊंगा। मैं डा० नैकनियल और डा० वेल्वल्कर के साथ उनके पास गया। मैं क्या बताऊं कि वह कितने अद्भुत पुरुष थे। वे जर्मन थे पर अंगरेजी सुन्दर ढंग से बोलते थे। जब मैं उनसे विदा हुआ तो कहा, महाशय आप सच्चे आचार्य हैं। मैंने आट्टो जैसा दूसरा ईसाई नहीं देखा जो अन्तःकरण का शुद्ध हो और दूसरे धर्म के ग्रन्थों को बहुमूल्य निधि समझता हो। आट्टो ने गीता के ११ वें अध्याय का पद्यमय अनुवाद किया है और अपनी पुस्तक शुचिता के विचार में परिशिष्ट रूप में उसे जोड़ दिया है। केवल दर्शन के दृष्टिकोण से ही नहीं वरन् साहित्य दृष्टि से भी 'शुचिता का विचार' सुन्दर ग्रन्थ है। हमारे अनुभूति-प्रत्यय की भांति आट्टो ने एक दूसरा प्रत्यय किया है। हमारी अनुभूति विशुद्ध बुद्धि, प्रायोगिक बुद्धि तथा निर्णय के मूर्धन्य पर है। इसी प्रकार आट्टो कहते हैं कि शुचिता का विचार 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के ऊपर है। यह स्वतः एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसका किसी पदार्थ में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। शुचिता ईश्वर पदार्थ है। इसको वे मिस्टीरियस ट्रेमेण्डम (Mysterious tremendum) कहते हैं, यह रहस्यों तथा ईश्वर-प्रेरित विशाल भयों से भरी है। ऐसा ही भय कृष्ण के विश्वरूप से अर्जुन के मन में उदय हुआ था। हम ऊपर के विवेचन से देख सकते हैं कि काण्ट की उदात्त भावना, आट्टो की शुचिता भावना तथा मेरी अपरोक्षानुभूति की भावना परस्पर सदृश भावनाएँ हैं।

भगवद्गीता का ११ वां अध्याय उदात्त की भावना का संस्कृतसाहित्य का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी इस प्रकार के अनुभव की अभिव्यक्ति का अभाव नहीं। मैं भारत की तीन प्रान्तीय भाषाओं, हिन्दी, कन्नड़ और मराठी से उदात्त की भावना के उदाहरण देना चाहता हूँ। ये भाषाएं केवल उदाहरणभूत हैं। अन्य भाषाओं से भी ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं। मैं हिन्दी सन्त-साहित्य के तीन कवि कबीर, तुलसी एवं गुलाल से तीन उदाहरण लूँगा। कन्नड़ के अवतारक से एक उदाहरण लूँगा। और मराठी के ज्ञानेश्वर से भी एक उदाहरण दूँगा। रहस्यानुभूति के दृष्टिकोण में ये उदाहरण औदात्त्य के उस विवेचन का पोषण करेंगे जो भगवद्गीता के आधार पर मैंने किया है। ये पाँच उदाहरण रहस्यानुभूति में औदात्त्य के स्वरूप, शुचिता

की विशेषताएं तथा प्रातिभ विधि—जिसके द्वारा उनका ग्रहण होता है—को भली भांति स्पष्ट कर देंगे।

पहले हिन्दी-आध्यात्मिक साहित्य की तीन महान् कविताओं को लीजिए "चुअत अमीरस भरत ताल जहँ" इस कविता में कबीर कहते हैं कि नदी इतनी शक्तिशालिनी हो गई कि उसने सागर को निगलडाला। जीवात्मा ने ईश्वर की सत्ता को निगल डाला। 'सरिता उमड़ि सिन्धु को सोखै।' मानव अस्तित्व ईश्वर को खा डाल रहा है। कबीर फिर कहते हैं—"दस अवतार एक रत राजै" अस्तुति सहज से आनी हो—मैं अपने सामने एक रात्रि में दसों अवतारों को गुजरते हुए देखता हूँ। क्या यह मुझे महान् भय तथा आश्चर्य से भर नहीं देगा? प्रशंसा के शब्द स्वतः मेरे ओष्ठों पर आ जाते हैं—कबीर कहते हैं। यही उदात्त है। पुनश्च गुलाल में हमें उदात्त की अनुभूति मिलती है। हम मानव—शिशु क्षुद्र आत्माएं हैं। और मातः द्वारा छोटे पलने पर पड़े हैं। मैं इस विषय का कन्नड़ के एक गीत अयुतिधा कन्दा से एक कन्नड़ उत्सव में कल विचार करूँगा। पर यहाँ गुलाल कहते हैं कि इस पालना में, जिसमें ईश्वर ने मनुष्य को रख छोड़ा है, न तो आधारभूत स्तम्भ हैं और न बन्धनभूत रस्सियाँ। बिन डोरी बिन खम्भे पौढ़ल। चौबीसों घण्टे पलने की घण्टियाँ निरन्तर संगीत ध्वनि कर रही हैं। आठों पहर झङ्कार। हमें हिंडोला राग में इस गाने को गाने दीजिए—गाओ सखी हिंडोलवा हो। आगे चल कर गुलाल कहते हैं कि जब गुरु ने हिंडोले को धक्का दिया, तो हिंडोले के सभी बन्धन टूट गए, असद्भूत स्तम्भों एवं रज्जुओं के योग नष्ट हो गए और वायुमण्डल में विलीन हो गए। जैसा वर्डस्वर्थ ने कहा है—आध्यात्मिक तत्त्व जो अन्दर था सकल विश्व में समा गया। "छुटत जगत कर झुलना हो, प्रेम पदार्थ भइल निनार।" इस प्रकार की उदात्तानुभूति साधक को मिल सकती है। यदि वह अपने को ईश्वर-शिशु समझे। अब मैं तुलसीदास को लेता हूँ, जिन्होंने चातक का उदाहरण दिया है। प्रकृति चातक पर ओले फेंक कर उसके पंखों को तोड़ डालती है। इसके अतिरिक्त बहेलिए ने भी उसपर घातक बाण मारा। तब उसने क्या किया? वह गंगा में गिर तो जरूर पड़ा पर उसने अपनी चोंच को नीचे नहीं किया। गंगा का पवित्र जल पीने से उसने इन्कार किया। उसने अपनी चोंच मेघों की ओर ऊपर रखी ताकि उनसे निकली हुई बूंदों को वह पी सके। यह उदाहरण बताता है कि मनुष्य में एक भक्ति होनी चाहिए, यदि वह ईश्वर से अनुग्रह-जल की कामना करता है। चातक के ध्यान का लक्ष्य मेघ से निकले जलकण हैं। भक्त के ध्यान का लक्ष्य ईश्वर से निकले अनुग्रह कण होने चाहिए। इस प्रकार यह उदात्त भावना है। अब मैं आध्यात्मिक स्तर में औदात्य पर विचार करना उन लोगों के ऊपर छोड़ रहा हूँ जो भारतीय, यूरोपीय अथवा यूनानी अलंकार शास्त्र तथा काव्य के छात्र हैं।

अब कन्नड़ की अवतारककृत एक प्रसिद्ध कविता को लीजिए। 'दृष्टि योडगे दृष्टि नितितु'। कवि कहता है जब आँख आँख के सामने खड़ी हुई तो एक बड़ा दृश्य सामने आया, संसार नष्ट हो गया। दृष्टवेलनष्टवायितु। आँख के सामने आँख की दृष्टि का अभिप्राय संसार दृष्टि का अन्यतः भाव है। अवतारक आगे कहते हैं कि जब वे जीवात्मा रूप से संसार में आए तो वे २५ तत्त्वों में उतर पड़े। अरस्तु का कहना है कि विभिन्न तत्त्वों के समुदाय में बाहर से ईश्वर तुल्य क्रिया आकर निवास करती है। बाइबल का कहना है कि ईश्वर ने मनुष्य की नासिका में जीवन श्वास फूंका और मिट्टी के पुतले को सजीव कर दिया। वेदों में भी प्रसिद्ध उक्ति है—अस्थन्वन्तं यदनस्थाव बिभर्ति—अस्थिहीन सत्ता ने अपने लिए अस्थि-युक्त पुतले का निर्माण

किया। यही अवतार का शाब्दिक अर्थ है। अवतारक दो प्रसिद्ध पंक्तियों में कहते हैं—आध्यात्मिका उपलब्धि के अनन्तर उन्होंने संसार में नया वैभव देखा। ऐसा लगा मानो समस्त जीवन का पुनर्जन्म हुआ। आभूमिशैलशिखर निर्विकार आत्मा से ओतप्रोत हैं। पर्वताग्र भूमियिन्तु निर्विकार तोरितक्ष। ये सचमुच उदात्त के ही उदाहरण हैं।

मराठी से उदात्त का उदाहरण लेने के लिए हम ज्ञानेश्वर का यह उद्धरण लेते हैं—अर्जुन ने ईश्वर सहित अपने को ईश्वर में देखा। और सञ्जय ने उन दोनों को एक साथ देखा………. जब एक दर्पण दूसरे के सामने रखा जाता है तो कौन किसको प्रतिबिम्बित करता है ? क्या कहे ? बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद नष्ट हो जाता है। प्रत्येक दूसरे का अनन्त प्रतिबिम्ब प्रदान करता है। कल्पना कीजिए, एक सूर्य दूसरे सूर्य के सामने उदय हुआ तब कौन प्रकाशक है कौन प्रकाश्य ? अस्तु जब कृष्ण और अर्जुन ऐक्यभाव की स्थिति में हो गए तो मैंने कहा कि सञ्जय ने तादात्म्य उनसे पा लिया।”

MATAJI'S AMARA VANI

(22)*

Mataji : Give in charity, engage yourself in service, bow down before God ("*do Pranam*")† and you will yourself come to understand in what spirit such acts are being performed by you. Feel convinced that in whatever state or condition you may be, out of that very state Enlightenment will occur. Never harbour the idea that you are involved in sin and evil deeds and can therefore never get anywhere. At all times and under all circumstances you must keep yourself in readiness to tread the path to God. Who can tell at what moment your giving, serving and bowing to God will become genuine ; for everything is possible.

Concerning *Diksha* (initiation) : He from whom you have received initiation will be able to bring you in touch with the level he himself has reached. Just as when you listen to a religious discourse the speaker will communicate to you as much as lies in his power. In this there are two factors. The effect inherent in spiritual discourses and the power of the speaker. Both are received and if the recipient has outstanding capacity, Supreme Knowledge will dawn on him at the very instant he receives the instruction.

There are various kinds of initiation : by Mantra, by touch, by a glance, by instruction. Contact with a Superman does bear fruit. Everyone will benefit in proportion to the degree of his own receptivity. There is also such a thing as special Grace by which unusual power to progress will be gained. On the other hand there are cases when even after actual contact no infusion of Grace has followed ; one who commands power is able to control it—giving and taking depend on His Will. When instruction frees a man from the knots that constitute the ego this is called initiation by instruction. On this case the instruction has fulfilled its purpose instantaneously.

---

* The Bengali original appeared in 'Ananda Varta', Vol. V/2, p. 84.

† See A. V. Vol. II/3, P. 281 where Mataji says :".........To do *Pranam* means to pour oneself out at His Feet to become closely bound to them and thereby united to Him, to become His who alone is."

When *Mantra Diksha* is given the Mantra is whispered into the initiate's ear and the initiator will confer as much power as he himself wields. If he is all-powerful he will by his very touch or glance take the disciple to his final goal. But if he is not endowed with such supreme power, he can transmit to the initiate only whatever power he himself commands and guide him as far as he himself has reached ; it is obvious that the Guru can pass on only as much wealth as he possesses. If the person who has given the *Mantra* has not reached the final goal and hence is still on the way, the disciple cannot progress any further unless the Guru does. This is why the disciple has to wait on the path so long as the Guru does not advance. Anyone aspiring to the Realization of God who starts giving initiation while he is still on the way will remain stationary at the stage at which he has arrived.

However the possibility of the disciple surpassing the Guru exists : namely when someone initiated in the conventional way has been able through personal exertion to increase his inner strength to such an extent that he may go beyond the achievement of his Guru. Here the initiate needed only just the amount of power conferred by the *diksha* to take him to his goal. If a disciple has to rely entirely on the resources of his particular Guru he will have to move side by side with him. Furthermore in the state in which one realizes that one's Guru is the World-teacher and the World-teacher one's Guru (world meaning movement, while the individual is that which is bound —the Guru delivers from individuality as well as from the relation with the world) one comes to know oneself as His servant, or as His very own self or as part of Him, either of these, depending on one's line of approach.

How is it that my Guru may be said to be the World-teacher ? For the simple reason that this is the status of a Guru. Who for instance is a cook ? The word "cook" does not denote anyone's name, it means one who can prepare food. Likewise when the status of a Guru becomes revealed to one, one understands that it has nothing to do with any person ; the Guru is none else but the World-teacher. If the power of the Guru can become effective, there will be the realization of "Who am I ?" He who is able to bestow that power is indeed the World-teacher. Guru is the name for him who out of deep darkness can reveal the hidden Truth. My Guru exists in many forms as the Guru of each and everyone and everyone else's Guru is in fact my Guru : now you see how the Guru has become one.

A person who performs rites and spiritual exercises of any kind is still on the path and not established in the Self, for he is still making effort. How can he be a Guru, since he has not transcended action ? One speaks of brothers in the spirit : the Lord who is adored by the whole world is my Lord and my Lord is the Lord of the world. A Guru is not an ordinary preceptor—a Guru is he who has the capacity to deliver man from the sea of becoming (*Bhava sagar*). Suppose an aspirant has been initiated by someone who does not command supreme power : he can progress only up to the Guru's stage and then will have to wait. Yet by some favourable conjunction, be it through his own overwhelming desire for Self-realization, or through faculties developed in former lives or even without these or similar causes, simply through the intervention of Divine Grace, he may by instruction, contact, a glance or a *Mantra* receive an influx of power that will enable him to proceed further. In the event of a flood it does not distinguish "this tree will have to be saved and that one uprooted", but carries away with it everything indiscriminately. Likewise there is no such thing as choice in the realm of the spirit, for here the Self reposes within Itself.

Then again there is yet another possibility : without instruction, without a glance, touch or *Mantra*, power may be conferred, whether the recipient be aware of it at the very moment it occurs or only very much later. The one who has bestowed the power carries along with him everything, just as the flood does. It is his very nature to bring round within himself everything, therefore it will not do to say in a particular case that initiation has been received from someone else and not from this source, for everything is His own, is verily He Himself. So then just as the flood carries everything along in complete equality, so that superman quite naturally and spontaneously makes His own what was wrongly believed to be alien. Here 'mine' and 'thine' do not exist—only the Self, Self-luminous, He and He alone. A mother does not keep accounts of what she does for her children—for are they not her own ? Likewise here also there is no accounting of how much power has been communicated.

A certain person took initiation from some Guru. Later that person met another Mahatma and began to seek his company frequently, since he felt benefited by his contact. On hearing about this, the Guru became irritated, saying: "I have cultivated the garden and you are giving its fruits away to someone else." The disciple replied: "Not so, my contact with the Mahatma has strengthened my faith in my Guru." But the Guru was unable to understand this. For the said Mahatma the world and what is beyond was all the same. For him there was complete equality, since he saw only the all-pervading Self. Whether one goes near such an one or not, He will carry along with Him everyone alike. Therefore it was said: It is not that the man had another Guru, for the conferring of power happens on the level where all are one; moreover it cannot either be said that to so and so much power was communicated, just as burning fire does not discriminate and dry up one object while leaving another wet. Spontaneously occur the instruction, touch, glance or *mantra* that constitute the *diksha*. Here there is no distinction between 'mine' and 'thine'. There are two ways: the power can either be controlled so that there will be unequal distribution of it; or else the distribution of power is universal. Which of the two methods He adopts depends on His Will.

(23)

Question: Are there as many names of God as there are creeds or is there in reality only one creed and one Name?

Mataji: What is your own line of approach, father?

Someone else: Every line represents a particular path, but as a matter of fact all roads lead to one and the same goal.

Mataji: Discussion and controversy belong to the path, but actually everyone is in his own home. The same path is not for everyone. Brothers of the same family will each have his different inclinations and likings. Vedanta may appeal to some, Vaishnavism to others and the cult of Shakti to yet others. Therefore it cannot be said that there is only one path. In fact seekers after truth are made each in a particular way, different from others as well as from one another, but in any case they will have to pass through the gate of Truth.

Question: Well then, are the creeds really different from one another?

Mataji: You can see for yourself that there is only one Guru who has any number of disciples. You are trying to convert everyone to the same creed; in spite of that, what a lot of sects have not been founded, although many people have abandoned their own. What you said, father, is very true indeed—but where? In that which emerges when everything is given up. What then emerges? HE HIMSELF—THAT.

The Questioner : My opinion is a borrowed one, what I have heard various people say.

Mataji : Why have you adopted this particular point of view? This body presents the matter from the standpoint of the Rishis and Munis, from the line of approach which they chose. Countless opinions and schools of thought exist in the world, but those will not serve the purpose of a seeker. Everyone has to accept the method indicated by his Guru : by following that current he will be carried towards the ocean.

Question : Will all finally have to merge in that ocean? But then how can it be that those whose aims are so entirely different as for instance the Vaishnavites with their '*Salokya*', '*Samipya*' etc. and on the other hand the Vedantists with their 'Self-poised State' should end up by merging in the one ocean?

A voice : Puffed rice and '*murmura*' are names for one and the same thing!

Mataji : If puffed rice and *murmura* are the same, why should they be called by two different names? There must be some element of variation in the two—although essentially both are just rice. The sense of 'mine' and 'thine' has remained, what do you say, father? (Laughter). When discussing creeds and paths one has to remember that it is only while on the way that one speaks of various paths.

Question : When one has reached beyond the level where every creed represents a different line of approach, there is no more talk and controversy.

Mataji : In "there is not" the "there is" is also implied—for without it how could the "is not" have arisen at all? Take for instance the case of people who claim to belong to a particular creed. But in cases where there is no question of any doctrine, nor of delivering discourses, there is HE at the root—HE who is present in all these innumerable guises. When one speaks of the many and of the One, it is a matter of outlook. One seed is sown and a tree grows with countless flowers and leaves, displaying infinite ways of movement and an infinite number of stages of stability—yet essentially it is one.

Every creed, every school of thought has its particular method of approach. So long as you advance along one special path there is, for that period of time, only one path for you. Very well, let us leave this point now. You asked, did you not, father, how those who aim at entirely different goals can end up by merging in the one ocean ? When you speak of an end this is within the limits of time and where time is there is something beyond it too. But where the question of 'end' or 'time' can no more arise, there everyone will be united.

Question : So long as one speaks about these things, does it mean that some sort of imperfection still persists ?

Mataji : Yes ; he who is still within the domain of speech, that is to say of worldly speech, is in the boundary of time. But '*there*', (beyond time) the question of speech does not exist. Inspite of this, one cannot place a real World-teacher into this category. He who is a World-teacher belongs to a category distinct from those of the world.

Question : Please explain the nature of worldly and divine happiness.

Mataji : Divine Happiness, that which you call *Parama Sukhadham* (=Supreme Happiness) is just pure, unalloyed happiness—happiness in its own right.

Question : But surely, there is happiness in the world too !

Mataji : Why then do you make this remark ?

Question : Why do people run after material happiness ?

Mataji : You know this happiness from experience and hence your question. But God is gracious and makes you see that this so-called happiness is not happiness. He kindles discontent and anguish in you which is due to the want of communion with the Divine. Worldly happiness is derived from the countless manifestations of God. People talk and marvel about those who have renounced, but in actual fact it is you yourself who have renounced everything. What is this 'everything' ? God ! Leaving Him aside everyone is *literally* practising supreme renunciation. (Laughter). It is only natural *that* the sense of want should awaken. Even in the midst of comforts and pleasures one feels homesick in a foreign land. There is distress even in happiness, one's possessions are not really one's own—this is what He causes you to feel. It is said, is it not, that when being hit one recovers one's senses, one learns by receiving blows.

When He manifests Himself as worldly happiness one does not feel contented, for along with it He appears as the sense of want. But Divine Happiness, even the tiniest particle of a grain of it, never leaves one again ; and when one attains to the Essence of Things one finds one's Self ; This is Supreme Happiness—when it is found, nothing else remains to be found, the sense of want will not awaken anymore and the heart's torment be stilled for ever. Do not be satisfied with fragmentary happiness which is invariably interrupted by shocks and blows of fate, but become complete and, having attained to perfection, be YOURSELF.

The Relativity of Perfection

By

Lama Anagarika Govinda,

Acharya, Arya Maitreya Mandala.

Light incessantly moves through the universe, but it becomes visible only when it meets resistance. In the same way consciousness becomes aware of itself only when there is resistance. If this resistance is impenetrable or unsurmountable, it is felt as suffering, if it can be mastered, it is felt as joy.

Joy means the overcoming of resistance. This is why people climb mountains, endure self-imposed hardships, engage in all kinds of adventure and sports. Life becomes unbearable and worthless if either there is no resistance or if the obstacles cannot be mastered.

But, we may ask, what about aesthetic pleasure, the happiness of solitude or that of *samadhi?* There is no resistance apparently. However, these pleasures cannot be attained without overcoming hindrances or without mastering our instruments of perception and knowledge.

This is why we cannot dwell indefinitely in the bliss of *samadhi* or in the enjoyment of beauty. As soon as the effort ceases and we get accustomed to a certain condition, joy ceases.

It is only in the movement towards perfection that perfection can be experienced. Only in the movement towards the infinite, infinity can be experienced. Infinity which is attained is no more infinity. In order to enjoy the blissful state of *samadhi*, we have to develop it again and again. In order to enjoy beauty, we have to create it within ourselves.

Thus there cannot even be aesthetic pleasure without creative effort: and as there is more creative effort in the artist than in the person who beholds a work of art, the former one's joy is more intense and more lasting.

The way to *samadhi* is a continuous process of spiritual renunciation, a continuous giving up. To give up a thing means to be free from it, to be master of oneself and one's decisions.

Freedom exists in the act of renunciation. In other words: it is the faculty of renunciation that gives us the power over ourselves and the things of the world around us. Not the things that we renounce but the act of renunciation is what matters. Therefore even *samadhi* has temporarily to be renounced, if we do not want to lose that faculty. Because a faculty, which is not constantly re-acquired, loses its power:

If renunciation is genuine, then things can no more enslave us, but we have become their masters and can use them without danger. Then we can fearlessly go from the unity of *samadhi* into the diversity of the world. After we have convinced ourselves that we can do without things, we have now to prove that we have no more reason to fear them, that we can accept and even create them without losing our independence, our inner freedom.

It is the Way of the Enlightened Ones: starting with the renunciation of the world, culminating in the realization of enlightenment, and leading back into the world through compassion. It is like the three fold process of breathing: the inward movement of inhalation, the moment of stopping or motionlessness, and the outward movement of exhalation.

Both sides of this process are repeated in Tantric meditation, as practised in Tibet; only that here first the objects are produced from a state of "perfect emptiness" (*sunyata*), and that afterwards they are again dissolved into "emptiness". Here the state of Buddhahood or Enlightenment, which lies between the two movements, has been chosen as starting-point.

But how can such a starting-point be chosen, if the state of Buddhahood has not yet been attained actually? Through the practice of *sadhana*, in which, after an intricate process of inner purification and perfect identification with the spiritual image or symbol of Buddhahood, a temporary state of equilibrium, a flashlike vision of reality is produced; because it is only in the movement towards perfection that perfection can be experienced.

Perfection is not an absolute value or a static condition, but the harmony of forces that can be established in every moment in which their movement is co-ordinated by the direction towards a common aim. In such a moment these forces form a "universal" group (the word "universal" taken in its literal sense: directed towards *one* point), a universe in miniature.

But the ideal point towards which these forces move, must lie in the infinite and never be reached by them, otherwise they would clash and merge into each other; *i.e.*, their ideal differentiation, which is balanced by their common direction, would be destroyed, and their movement, without which life is impossible, would be stopped. But harmony needs differentiation as much as it needs unity. One tone alone can not make music.

Thus we can say that perfection is possible at each stage of development, in each form of life. A human being who has properly developed all his or her human qualities can be called perfect, though there may be other beings surpassing humans in many respects. And in the same way we can say that an animal, which possesses all the qualities of its kind, is perfect; and similarly a plant, or a crystal, which expresses the characteristics of its nature perfectly.

Thus, perfection neither exists as an end at the top of a scale, nor as an absolute or fixed measurement, but as an infinitesimal moment of harmony in movement.

In self-conscious beings this harmony is generally disturbed by exaggerated ego-centricity and a destructive type of intellectualism. "The ego is by its nature a smallness of being; it brings contraction of the consciousness and with the contraction limitation of knowledge, disabling ignorance, confinement and a diminution of power and by that diminution incapacity and weakness—scission of oneness and by that scission disharmony and failure of sympathy and love and understanding,—inhibition or fragmentation of delight of being and by that fragmentation pain and sorrow. To recover what is lost we must break out of the worlds of ego."*

Only one who has completely overcome the illusion of egohood and its concomitant evils, *i.e.*, one who has attained enlightenment, is able to dwell permanently in a state of harmony, which ordinarily we are able to experience only for short moments.

While harmony establishes itself more or less permanently by an organic or subconscious process of continuous re-adjustment in such forms of life, in which the balance has not yet been upset by the hypertrophic growth of "ego-consciousness", a similar continuous re-adjustment takes place in those individuals who have conquered their ego and regained their spiritual balance.

---

* Sri Aurobindo: "The Synthesis of Yoga". p. 408.

The difference between the perfection of a flower (or that of an animal) and that of an Enlightened One, is that the former is unconscious, while the latter is conscious of the harmony which he has established by a creative effort and in which he continues to dwell by virtue of his wisdom, which makes a relapse into the unbalanced state impossible.

Then the rhythm of life is fulfilled and the threefold process of breathing becomes a revelation, as expressed in the following lines, in which I have tried to compress the experience of *pranayama*, and which may serve as a simple and yet effective subject of meditation.

Threefold is the rhythm of life—
taking,
giving,
self-transcending :
Inhaling, I take the world within me.
Exhaling, I give myself to the world,
Emptied, I live within myself,
live
without self
embracing the All.
Inhaling, I take the world within me,
Exhaling, I give myself to the world,
Emptied, I experience abundance,
Formless, I fulfil the form.

RUBRIC FOR WESTERNERS

Our relationship with the Indian surroundings.

By Vijayananda (Dr. A. J. Weintrob)

A great number of Westerners have already come in contact with Sri Sri Ma Anandamayi, and more and more are most probably still to come. Almost all are deeply impressed; many are eager to keep up the contact with Her—some even venerate Her as their *Guru*. A few have devoted their life to Her and live under Her guidance. But most of them find it more or less difficult to adapt themselves to Indian surroundings—some complain of lack of understanding. A few are obviously unadapted and even in conflict with their surroundings. The reason is, it seems to me, a confusion of different levels of thinking. This confusion is quite common, for the whole illusion of the mind is built on mistaking one thing for another.

But Westerners coming to India in quest of spirituality are not quite common people, and we may expect that they will behave accordingly. Those who, for the sake of the Supreme, have left their family, their country, a comfortable life in a suitable climate to stay in environments where all details of what is a natural and comfortable daily life for others, require a painful effort of adjustment, are surely not ordinary people.

Let us then examine where this confusion of planes of thinking lies. Our relationship with our human surroundings can be said to be simultaneously on four levels :—(1) The *Atmic Sambandha* — the relationship of oneness in the Universal Self, (2) The *Paramarthic Sambandha* which unites two seekers on the spiritual path, (3) The *Dharma Sambandha* the link between the devotees of the same religion, or the worshippers of the same deity, (4) The *Jati Sambandha* or blood relationship. These planes are of course not completely separate and interpenetrate one another. But what is true on one level, may be false on the other.

All men are one in the *Atmic Sambandha*, the relationship in the Universal Self. This can hardly be called a plane of thinking. It is the final goal of all true spiritual seekers.

From the absolute point of view, there is only One Consciousness which abides in all beings. The obvious differences of name and form have only a transitory reality, or even as some say are quite unreal and illusory. Of course when one has realised this Supreme Truth, no conflict or opposition can arise with regard to anybody or anything.

This exalted consciousness is the one in which Sri Sri Ma Anandamayi lives, speaks, acts under all conditions, without any break, by day and by night since the very moment She has assumed a physical frame. For Her there are no differences of race or nation, caste or creed. In Her eyes all are the manifestations of the same Divine Consciousness, nay Her very own Self, as She has Herself stated on many occasions and in many ways. If it appears to us sometimes that She behaves differently with different people, it may be due to two reasons. First it may appear to us so from our limited angle of vision. As one advances on the spiritual path, one can understand progressively how the intellect of which we are so proud, and in which we have put all our faith, makes mistakes and deludes us continually. The second reason is that Mataji is not only a great realised Being but also a great Guru among the greatest and what she does aim at awakening us to our true Nature. As regards Her attitude towards social customs and so on, it may be due to the above noted reasons. Furthermore a realised Being is not a reformer, nor a founder of a new religion. He wants only to remind us of the Eternal Truth, "THOU ART THAT". Concerning social customs and so on He may take things as they are and use them as a lever to lead us to the recognition of the source of all suffering which is unawareness of our own real nature. To change the details without having penetrated to the root will not bring any real relief. But for us who have not realised our true nature it is not possible to live in this elevated state of consciousness. Let us then consider the *Paramarthic* which is nearer at hand.

There is a deep kinship, a mystic brotherhood between all true spiritual seekers in the world, which can be felt at the first contact. By "a true spiritual seeker", I mean : not those who have come for name and fame, nor those aiming at the development of psychic powers which will only increase their bondage ; nor even the worshippers of deities who expect a reward here or hereafter ; but those who have dedicated themselves to the Supreme, the Eternal Self abiding in all beings. It is of this relationship that we think when we call one another "Brother"—it is in this spirit that we have come to India in order to claim our right of inheritance to this immense treasure of wisdom, the *Atma Vidya* transmitted since the days of yore by the great Rishis, the great saints, the great sages of India among whom Sri Sri Anandamayi is one of the greatest among the great.

Nobody in the world has ever expressed the highest Truth in such clear and sublime language as the Seers of India. No land has ever been blessed by so many Great Beings succeeding one another probably without any break for thousands and thousands of years.

The flame of this Wisdom has ever been kept burning brightly notwithstanding the invaders or the calamities in the country—much more, every saint, every seer, every sage has enriched this Divine Treasure by his own personal touch.

Our brothers of India generously open for us all the store-houses of the treasure. Every facility is given to Westerners coming to study the Wisdom of India. Indeed I have been moved to see how much interest and kindness our brothers of India show to Westerners who have even a slight interest in spiritual matters. What then to say of the great sages who are much more eager than we ourselves are to bring us on the path leading to the knowledge of our real divine Nature.

It is with the Great Sages and above all, with the *Guru* that the *Paramarthic Sambandha* finds its culmination. The *Guru* is not only a teacher. No one who has not experienced it himself can possibly imagine the deep relationship that unites *Guru* and disciple. The tender love of the most affectionate mother, the deep and manly affection of a father to his son, the faithfulness of the dearest friend all these are contained in, and transcended by the love of the *Guru* for the disciple. Nothing and nobody on earth or in heaven can ever break this relationship. It is stronger even than death. It finds its end only in the Eternal *Atman* where *Guru* and *Shishya* merge into one.

Although Mataji does not give *Mantra-Diksha*, formal initiation, a great number of people venerate Her as their *Guru*. Such a great Being has no need to go through the ceremonial of a formal initiation. The *Shakti-dana*, the transmission of Power, which is in fact the real initiation, can be given in many ways, as for example by touch *Sparsha Diksha*, by mere sight *Dristi-Diksha* and even from a distance. The *Paramarthic Sambandha* which unites the spiritual seekers, the *Guru* and the disciple, and the disciples of the same *Guru* (*Guru-Bhai*) is the deepest relationship one can ever have on earth–much more so than blood relationship which pertains only to the physical body.

The *Paramarthic Sambandha* is frequently mistaken for the *Dharmic Sambandha,* the religious relationship. And it is there that lies the knot of the misunderstanding. Although these relationships frequently go side by side, they signify two quite different things. By *Dharmic Sambandha* I mean here the relationship between the members of the same religion ; Catholics, Protestants, Jews, or the relationship between the worshippers of the same deity as for example in India, the *Saivites*, the *Shaktas*, the *Vaishnavites* etc.

In the West we think that man can change his religion, become a convert of another one if he so desires. But in India it is quite different. To every average cultured Indian it is self-evident that the religion in which we are born, is a part of our nature, as much as our race, caste etc. The question of changing over to another religion does not arise. We are born in one or another religion according to "*Samskaras*" the impressions left by our previous lives.

Some Westerners coming to India with the idea of becoming converts of Hinduism are rapidly disappointed; this becomes an important point of friction with their surroundings and many misunderstandings may thus arise. Due to different habits of thinking deeply rooted in the subconscious mind, it is very difficult to grasp the point of view of another. Religion or in other words the approach to the Supreme through the personal aspect by the medium of name and form, can be a great help to spiritual realisation. But this name or form, must be deeply rooted in the subconscious mind.

Some exceptional Westerners, who in reality are Indians, born in the West only for a temporary sojourn, are able to adjust themselves to the worship of an Indian deity. But this can be effective only after advice by the *Guru*.

However, what is wanted is not to change one's religion, but to find the common ground where all religions have their source : the Eternal One residing in the hearts of all.

It happens frequently that Westerners get offended when not allowed to take part in a *Puja* (worship festival) or to enter a Hindu temple. Orthodox Hindus are not 'idol worshippers in the sense we give to this term in the West. All images and names are for them merely different aspects of the "One". A particular form or name is used only to provide a focus for their devotion. This is not only the view of a few philosophers, but every average cultured Indian knows this as a fact.

Ever since I have come in contact with Indian culture I have been struck with admiration, seeing how profound and elaborate the science of worship is in India. It is not merely as one might think an outpouring of devotion, or religious emotion. Every detail of the image worshipped has its significance. The expression of the face, the colour of the skin, the attitude, the gestures of the hands, the ornaments, all have a definite symbolical meaning. The worship is done by a qualified Brahmin. The words he uses in the worship are mostly *mantras* that have to be modulated with mindfulness in a certain way aiming at establishing a communion between him and the Divine Power. His movements are *Mudras*, ritual gestures. The whole process of the *Puja* (worship) is to the minutest detail arranged in such a way as to invoke one's inner response to the Divine Power.

In some temples this has been done without any break for generations and generations and has created a very powerful religio-spiritual atmosphere in those places.

The Hindu devotees coming to visit such a temple vibrate in harmony with this atmosphere, for the whole texture of the sub-conscious Indian mind has for thousands of generations been in the habit of responding to it.

Whereas our sub-conscious mind, although we may be very sympathetic to Indian culture and religion, responds in quite a different way. The sub-conscious impressions one has acquired through early childhood education cannot be wiped out. The mental vibrations we would bring to such a place would not be in harmony with the atmosphere. It is just as if a non-musician sat in a symphony orchestra and played in his own rhythm and tune. Almost all religions have a code of regulations regarding the purity of food. The Hindu religion is one of them and much stress is given to the idea that pure food produces as its consequence a pure mind.

The defects in food can be of three kinds :

1. *Jati-dosha*—due to the unwholesome nature of the food *itself* (liquors, meat etc).

2. *Nimitta Dosha*—due to uncleanliness (insects, hair, dirt etc.)

3. *Ashraya-Dosha*—In Hindu religion it is believed that whoever cooks or touches cooked food transmits to it a part of his qualities—good or bad. For this reason orthodox Hindus are allowed to eat only the food prepared or touched by Hindus, in some cases only by members of their caste or a higher one. There are many deep reasons why these rules have been established, and they are the result of generations of experiences. In any case these rules and the caste system which is related to them are a part of the Hindu religion. A religion is like a big temple, where every stone, every pillar has its part to play. If one pillar is removed, the whole building may be in danger to collapse.

It is under the shelter of this huge banyan tree of Hinduism that so many Rishis, Sages and Saints could grow up : it is the support of the spiritual culture. If this tree were to perish it would be a great loss to humanity.

The blood relationship, the *Jati Sambandha* (family, nation, race etc.) can hardly provide a field for misunderstanding. It is evident to every thoughtful mind.

But there are two more differences between the Western conception of blood relationship and the one recognised by the East. The first is that the Eastern sages think that it is not by mere chance that we have been born in surroundings of a particular kind, but as a consequence of our actions and desires in previous lives. The second is that in the East, specially in India, race and religion are not separate as in the West, but are almost one and the same thing.

The blood relationship is transient and does not last beyond the physical body.

It is through Divine grace that the Western *sadhakas* in India have been up-rooted from their natural soil. The manifold ties of blood relationship and the so subtle fetters of formal religion and ritualism which bind fast so many aspirants, have by the Lord's grace been cut off all at once for them. Only the way of the spiritual relationship leading to the Oneness in Universal Consciousness has been left open.

Let them be grateful for this to the Divine Guide residing in the hearts of all.

From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi

(4)

While Sri Hara Kumar was at Ashtagram he arranged for various Kirtan parties to come and sing near Mataji's house. Twice during those Kirtans the states of *"Bhava"* were seen to manifest on Her body. Although She took no active part in the singing, the strains of devotional music sufficed to bring on these states. The few people who at that time were Her companions witnessed those *"bhavas."* A steadily increasing number of friends and neighbours began to collect daily round Mataji.

However, She did not remain at Ashtagram for very long. After having spent one year and four months there, She fell ill and went to Her parents' home at Vidyakut for a rest. Her illness was fortunately not a serious one and She regained Her health quite easily, but did not leave Vidyakut for another couple of years, while Bholanath continued at Ashtagram. After this period he was transferred to Bajitpur where Mataji came to join him once again.

While at Vidyakut Mataji had a quiet and restful time. Referring to Her life there, She has said : "At that time there was not much house-work to be done, as the children were big enough and my mother did not require my help in anything. So I had plenty of leisure on my hands which I spent calling on friends and neighbours or just strolling around by myself. In the dark I sometimes perceived a strange effulgence enveloping my body and that light seemed to move about with me."

In Her parents' village Mataji could dispense with Her heavy veils and mix freely with friends and neighbours. Didima relates that Hindus and Mussalmans alike loved to have Her visit their homes and talk to them.

One day an acquaintance came to see Mataji and borrowed Her silver anklets on the pretext that she wanted to show them to her relatives, as she wished to have a similar pair made for herself. When after a few days Mataji asked for the anklets, the girl hotly denied any knowledge of them. But when Mataji was taken to task about the loss of her ornaments, She smilingly refused to disclose the name of the thief.

Didima narrates that at that time Mataji's demeanour was very much like that of a young married woman on a visit to her parents' home. She would even enter into the spirit of teasing young married couples which is a custom in India. The bridegroom has to be very wary of his sisters and cousins-in-law, because ragging is an unwritten law of the marriage ceremonies. Amusing stories are told of how Mataji successfully duped the most cautious of bridegrooms.

As Mataji has said at various times, a particular situation draws forth a particular response from Her. She never strives to achieve an end. Her response is perfectly spontaneous, changing according to the needs of time and place and of the persons concerned. The truth of this statement is quite self-evident to all who have come in close contact with Mataji. But it is such an unusual feature that it is equally difficult to explain to those who have not had first-hand experience of Her unique ways.

From the following incidents it may be seen that although She seemed to join freely and naturally in the work and play of the village girls of Her age, She was yet fundamentally and strikingly different from them all.

Once the village girls had gathered at the house of a newly married friend to put sweets into the bride's mouth according to the custom. One of the young men present said to Mataji in rather a flippant manner: "You are also newly married, let me give you sweets too." With his hands outstretched he came forward and as Mataji backed away he followed. Mataji raising Her eyes, looked straight into his. He at once recoiled as if whipped and dared not trouble Her again.

On another occasion a young man followed Her about, passing remarks and whispering to his friends. After a while Mataji turned round and looked him full in the face. Her look sufficed to put an effective stop to his frivolous behaviour then and there.

It is strange to note that in both cases the young men fell ill soon after and one of them even succumbed to his illness and passed away. Whether there was any connexion between their unseemly behaviour and the sad fate with which they met, is of course impossible to tell. When questioned on these and other similar occurrences, Mataji has been heard to say: "This body never takes offence or wills that anyone should be punished. But that every action must bear its fruit is a law of nature. People become victims of their own evil thoughts and actions."

It seems fitting to relate here

another incident of a very different quality, in contrast to the two incidents cited above. It represents another example of the extraordinary power of Mataji's glance even when She was very young and at the same time shows what beneficial effects Her look may bring about, if the person concerned repents for his shortcoming and opens himself to Her healing and transforming influence.

When Mataji stayed at Dacca She was still very reserved and strictly observed the custom of young married women, remaining veiled and not speaking to men with the exception of certain members of Her family and very close friends. Notwithstanding men and women belonging to different classes and strata of society had started collecting round Her in fairly large numbers. One day, in the presence of many people, She suddenly raised Her veil and looking full into the face of a man who was standing in the crowd, said to him: "When you come here you must not look at any of the women who are gathered around me. They are gentlewomen, who normally would never expose themselves to the gaze of strangers, but they come here for my sake. If you must look, you may look at me only."

Nobody understood the reason for this sudden and unusual conduct on Mataji's part. However as it was the time of taking "*prasad*", people were busy and nobody took much notice of the gentleman in question. When everyone had sat down for the meal and Mataji and Didi were preparing to serve the food, he was seen standing apart, not heeding repeated requests to join the others. He said: "I cannot eat, Mataji is angry with me." Mataji happened to be near at hand serving food. She remarked clearly and distinctly: "Mataji is never angry with anyone." The gentleman heard Her words and was thereupon persuaded to sit down with the others. But he was unable to eat anything and left early.

After this, although he continued to come often, he always sat with his eyes averted and never looked at anyone. Later he confessed that he had until then never been able to look at a woman without feeling passion. Mataji's darshan had completely cured him of this weakness and his attitude towards life underwent a thorough transformation.

In this connexion another incident may be recounted although it took place much later, when Mataji was on a tour to the sacred places of Rajasthan. In one of the towns She and a few other women companions got separated from Bholanath and and the other male members of the party, while riding in a *tonga* (horse, carriage). They asked the driver to take them to the *Dharamasala* (rest-house for pilgrims) where they were to put up. But instead of taking them to their destination he began to speed up his horse and raced out of the town into the deserted country. Mataji, as befitting a young married woman, was then wearing a lot of heavy ornaments. At a lonely spot the driver stopped the carriage and getting down, advanced towards Mataji, with a sly look on his face. Mataji gazed back at him steadily and he withdrew. She then quite calmly asked him to take Her and Her companions to the *dharmasala*. Without a murmur he obediently did as he was bidden.

The fact that Mataji is free from anger under all circumstances has been borne out so many times that it is taken for granted by all who are close to Her. Nevertheless when She so pleases, Mataji can assume such an awe-inspiring appearance that the hardiest heart quails in the face of it.

The following incident may perhaps appear trifling and unimportant. But to Mataji the smallest detail may be as important and She may give it as much attention as to what seems to us a very big occasion of great importance. The onlooker is very often unable to judge how much the person concerned may gain from what Mataji does.

Once a member of the Ashram in an outburst of anger refused to eat and would neither listen to reason nor to entreaties. Informed of this, Mataji sent for a plate of food and asked the person to sit down and eat in front of Her. But overcome by a fit of obstinacy, the person remained sitting in front of the food in a stony silence, refusing to obey Mataji's request. Didi exclaimed: "How dare you behave like this with Mataji? Just because She is easily accessible to you, you seem to forget who She is. My heart trembles at your audacity." The people who happened to be present had begun to share Didi's feelings, as by that time Mataji's face had taken on a terrifying expression. Those who had never seen Her other than smiling, now felt awed and apprehensive. When the tension was at the highest pitch, Mataji suddenly looked up from the person sitting in front of Her with bowed head, and smiled broadly at the other people in the room. Everyone sighed in relief and the tension relaxed perceptibly. Sensing a change in the atmosphere, the offender quickly ventured to look at Mataji. But during this split second She had reassumed Her terrifying look, and one glance at that countenance was sufficient to bring the obstinate one to his senses and everything came to a satisfactory end.

Thus we see that Mataji's behaviour is in strict correspondence with the people She is dealing with and whatever She may do, be it agreeable or disagreeable to the person concerned, is invariably for the best of everyone and never a personal reaction.

To come back to the chronological order of events :

We have already mentioned that Mataji left Vidyakut in order to join Bholanath as soon as he was transferred to Bajitpur. This happened in 1918. Bholanath was then working under Bhudev Babu, whose wife became one of Mataji's closest friends.

Bajitpur has acquired a special significance for us as the place where Mataji played the role of a Sadhaka. It has already been pointed out that Kirtan and the reading of scriptures had from Her early childhood had the effect of inducing states of *bhava* or *samadhi* in Her. Sometimes no outer stimulus could be traced as the immediate cause for those states. Nevertheless up till 1918 such occasions had been rare and far apart and could be explained away somehow or other ; whereas from now on Mataji's ways and activities became uncompromisingly those of a Sadhaka. As everything in Her life, these practices, whether *kriyas, asanas, mudras*, etc. etc. came to Her spontaneously. She watched Her body performing those actions, just as She had watched Herself performing household work and other duties.

Our knowledge of Mataji's play of Sadhana is based upon what little She Herself has disclosed and on the testimony of Bholanath and various other persons who were fortunate enough to witness those practices. Only recently we heard Mataji relate a little incident that is highly significant for the way in which the '*sadhana*' came about. "At Bajitpur," Mataji narrated, "I one day went to bathe in a pond near the house where we lived. While I was pouring water over my body, the *Kheyal* suddenly came to me : 'How would it be to play the role of a sadhaka ?' And so the play began. As a rule there is a veil that separates man from his own Self. This veil has then to be worn off by practising *sadhana*. But here there was no veil, it was drawn only in order to be removed again. Therefore — what else should this be called, but play ?" This period lasted for six short years during which Mataji in very quick succession, went not only through the variegated Sadhanas indicated in the Hindu Scriptures, but also through those of other faiths.

It has already been pointed out that Mataji received a bare minimum of education. In the early days after Her marriage Bholanath had bought one or two books for Her. But this did not come to anything, for Mataji had never had the *Kheyal* to acquire fluency in reading. Mataji Herself relates that one day Bholanath gave Her a book and asked Her to read aloud to him. After She had with difficulty tackled one or two paragraphs, he asked Her to stop, muttering under his breath : "Lower Primary indeed."

Thus beyond listening to Kirtans and visiting temples and shrines, Mataji had had no training in religious practices. In Her childhood Her father had taught Her to repeat the names of Hari. Although no clear line of demarcation can be drawn between one period of Her life and another, we may say that She entered into the Lila of Sadhana by repeating the names of Hari as She had learnt to do in Her childhood.

—(To be continued).

A DIVINE CALL

By

Krishnanand Pant Shastri, M.A., M.O.L.

Sahityacharya, Professor & Head of the Hindi Dept., Meerut College, Meerut

Having come from an orthodox Brahmin family of Kumaon, I was brought up in the old traditions enjoined by the Shastras my father in the beginning of the present century migrated to Hardwar where he was instrumental in founding the institution named, "*RISHIKUL Brahmacharya Ashram.*" Being well versed in the Shastras and an eminent advocate of Sanatana Dharma, he insisted on my being initiated into that cult.

After I had completed the course prescribed for higher studies in Oriental learning and passed the matriculation examination, my father was persuaded to make arrangements for my studies in one of the Indian Universities. Accordingly I was sent to the Banaras Hindu University for further studies according to the Western System of education.

I was thus educated *in* two different systems and imbibed influences of two different cultures. Under the glamour of the West, I began to drift away from the East and imbibed whatever was poured in from the West. The tussle was of course long and bitter, but the West with its glittering materialism got the better of the spirituality of the East. I became a confirmed materialist after a time and advocated the glory of the West with its materialism, agnosticism and other isms, in season and out of season to the exclusion of the East and its spiritual beauty.

In fact I held and was declaring to the world around me at the top of my voice that the religions of the world were fake, make-believe and designed to drug the masses and all those who came under their vicious influence. The philosophical, emotional and other aspects of the religions of the East were a matter of ridicule for me. I was not only intolerant of but even vehemently opposed to whatever the religions taught.

My mind, nurtured as it was in the desert of scholastic pursuits, was lost in the deep sea of Western argument. I had become a complete stranger to the East.

* * *

During the summer vacation of 1931, I paid a visit to Mussoorie. I chanced to hear that Shri Anandamayi Ma was there, but since I was not interested in spiritual things, I only casually went and saw Her. My mind did not react. I was callously indifferent to what She represented.

Again in the years 1933 and 1938 I happened to be in Hardwar. Shri Anandamayi Ma was there and I made it a point to see her, but with no result. I was on the other hand vehement in my expressions in regard to Her, consistent with the influence that Western thought had exercised on my mind.

* * *

The tension caused by the influence of the West was at its height when in response to an invitation of the Raja Sahib of Solon (Simla) I went to Solon in October 1946. I was invited on his behalf to attend the Durga Puja celebrations of his state, which were expected to be graced by Sri Ma's presence.

I reached Solon in time for the celebrations. A Sat-Sanga was being held in honour of Sri MA and I was taken there by a friend of mine. The Sat-Sanga was about to break up when we arrived. At the conclusion of it, however, my friend suddenly suggested that I should speak on any subject. As I was not prepared for this eventuality, I expressed hesitation. I was, however, requested to deliver a speech by Sri Ma Herself. I found myself lacking in courage to decline and therefore obeyed.

My mind was a void and I did not know how to start. But as soon as I began to speak, I unconsciously waxed eloquent on the subtleties of certain ideas and also illuminated their hidden meanings. I learnt later from my friend that I had kept the audiance spell-bound. But I do not know anything about this. Some mysterious force was at the back it.

Again, on Saptami (the 2nd day of of the Puja) I was asked to recite the Devi Bhagavata. The time was very short and the reading had to be accomplished in three days' time. I therefore hesitated to undertake the task in the first instance. Since Shri Ma seemed interested in it, I nevertheless agreed to it with some hesitancy. My difficulty lay in the fact that I was not used to sit for more than two hours at a stretch, and the work entailed long sittings and the strain of reciting. But to my own amazement I was able to carry out the alloted duty with the same grace and facility as I had delivered the speech on the previous day. Yet I was not aware of it. The entire function came to a successful conclusion without my knowing how this had happened.

After the Puja celebrations were over I, along with others, took my departure. The miracle of Sri Ma's subtle touch had already reacted on my mind. I was simply transported to a super-natural world, entirely forgetful of my earthly surroundings. I felt that there was a fountain of eternal Bliss in Sri Anandamayi Ma which constantly overflows through Her and restores one to a calm serenity and cheerfulness, for the time being at least.

The change in me was radical and revealing. From cold cynicism I was carried away to the warmth of being. Vistas of infinity appeared to open out before me and I was transported to regions which are normally beyond one's comprehension. The ecstasy, though short-lived, was none-the-less suggestive and indicative of a Reality behind the fleeting scenes of our immediate surroundings.

But as soon as I came back to my normal self, I was subjected to an emotional outburst. It was so intense that there was an unceasing stream of tears accompanied by painful *hiccups*. This continued in the train also on my way back home the next day. I even went to the extent of hiding my face lest it might excite curiosity in some of the fellow-passengers and cause embarrassment to myself.

On arriving at home, I was still subject to those fits. A stream of tears would run down my cheeks without my being able to control it. I was in a fix.

Shri Ma had in the meantime arrived at Delhi. I therefore seriously began to think of paying a visit to Her there and have a talk with Her again. I had already hinted to Her at the appearance of tears etc. while I was still at Solon.

I proceeded to Delhi and on arriving at Sri Ma's residence was greeted with a blissful smile. I had a talk with Sri Ma and the emotional upheaval came to a standstill thereafter.

A note-worthy incident came to my notice in the course of that visit. While a Sat-Sanga was going on at Dr. Sen's residence at New-Delhi, a lady came. She had brought a dhoti which she placed over Shri Ma's shoulders. I thought that the dhoti was more suitable for a man rather than for a woman and a desire to possess it flashed across my mind. Those were the days of great scarcity and dhotis were not easily procurable. This dearth might have excited that wish in my mind. But it only floated into my mind and passed off again immediately.

Later in the day, when I was about to leave, one of Sri Ma's attendants came to me and asked me to see Her before leaving the place. I did so and to my utter surprise beheld that the same dhoti on which I had cast my longing gaze a little while back, was lying before her to be presented to me as Ma's Prasad.

Let me end up by relating one more episode. In the later part of the year 1948 a friend of mine from Delhi paid a visit to me. He had brought his own car. On his return journey he suggested that I should accompany him in his car, which was brand new, just to enjoy a drive and spend the night with him at Delhi. As I had leisure enough I readily jumped at the idea.

The car was gliding smoothly and we were engrossed in conversation to the exclusion of everything else. We were roused from the reverie, as it were by violent jerks and bumps and before we could take stock of the situation, we had been thrown out of the car unconscious of what had happened.

Later when I was recuperating from my injuries, I came to know that a Colonel who was driving in his car behind us had got down at the place of the accident and seeing the condition of our car (it was a lump of steel smashed to pieces) expected that the occupants of the car would have been minced into small pieces. He started investigations and found to his utter but delightful surprise that both of us had miraculously escaped death. Only the driver had sustained grave injuries on one leg.

After I had fully recovered from the shock and the injuries, an intense desire to have a "Darshan" of Ma surged up in my heart and I hastened to pay my homage to Her at Dehradun. This desire was further intensified by a strange incident which had occurred at my home. Sri Ma's photo which was hanging on the wall of my bed-room fell down horizontally with a crash and the glass was smashed to pieces, but the photo remained standing against the wall. This, as I found upon enquiry, had happened at the time of the accident in which I had been involved.

Sri Ma greeted me with her usual smile at Dehradun and indicated that she was aware of the accident and that I had been occupying her mind at the time of its occurrence. Sri Ma's being and Her powers are far beyond our understanding. May She grant us to know Her and through Her, our own Selves.

DIARY LEAVES

By Atmananda

(13)

In the course of Mataji's stay at Vrindaban in February-March, 1957, two European ladies, both Jungian psychologists came to see Mataji. The following conversation ensued :

Question : Psychologists cure patients by talking to them. With you it seems that your emanation cures people even without words.

It is our endeavour to help people — What is the most essential thing we should do for them ?

Mataji : Who can be said to be normal in this world ? Everyone appears to be mad after one thing or another : some after money, some after beauty, some after music, others after their children and so forth — nobody is really quite balanced.

Question : What then is the remedy ?

Mataji : Just as one does not water the leaves of a tree but its roots, so also one has to grapple with man's disease at its root. Man's root lies in the brain. Therefore the remedy for all ills is to still the mind. When man's mind has been stilled, all will be well with him, both physically and psychologically.

Question : How does the mind become still ?

Mataji : By treading the path that leads to the realisation of "Who am I ?" Your body that was young and is now old with its greying hair and its teeth falling out, does not last for ever. It is not the real "I". Therefore man has to find out who he really is. When he tries to do this, his mind will be supplied with the right nourishment that will calm it. The right sustenance for the mind cannot be had from anything that is of this world and hence perishable, but solely from that which is Eternal. The taste (*rasa*) of the Eternal will still the mind.

The universe was created out of Joy and this is why you find joy in the fleeting things of the world. Without joy life is an ordeal. You must try to attain to that great joy which has brought forth the world.

Question : What is the special contribution a woman has to make as apart from a man ?

Mataji : A woman is essentially a mother and consequently her duty is to serve everyone. Also since you are daughter, wife and mother all in one to recognise the oneness of the three. Besides in every woman is contained a man and in every man a woman. If man were not contained within you, you would not be able to recognize a man; and if woman were not contained within a man, he would be unable to recognize a woman. Thus one of the tasks of a woman is also to discover the man in herself.

Question : What then is the special contribution a man can give ?

Mataji : Man is the reflection of the Supreme (*Purusha*), the one who upholds the universe (*Jogaddhatri*). True manliness means divinity. But then there is the (*Atma*) which is beyond man and woman. Everyone has to find that *Atma* that lies hidden within himself. It is the task of every human being to unfold both the man and the woman potentially contained within him or herself and to realize the *Atma* which is beyond man and woman.

* * * *

Kishenpur, July 1957

One evening Mataji was talking about the time when She first came to Raipur near Dehradun, where She stayed with Bholanath and Bhaiji. She told us how Bhaiji (J. C. Roy) who was a high Government Official tried to serve Her and Bholanathji, attempting to do the most menial work such as he had never before done in all his life. It was a difficult undertaking, but by his great devotion and perseverance he soon acquired skill in this direction. He insisted on walking barefoot. Having worn shoes and socks for so many years, his feet became crocked and sore, but he remained undaunted. After two years of practice he said: "Now I have won the right to wear shoes, for I have learned to walk barefoot".

Mataji's older bhaktas who have known Bhaiji are still grieved at the loss of him, who was a living example to everyone at the Ashram. By his brotherly love and by his spirit of service to all without distinction he had earned for himself the name of "Bhaiji" (brother). When newcomers came he would help them to approach Mataji and make room for them near Her, whereas he himself kept in the background. In fact he never sat down in mataji's presence, but remained standing at the back of the hall or room. Only after he left his home and came to stay with Mataji and Bholanath, he was obliged to sit down in Her presence as he could not remain standing all the twentyfour hours. He would tell people: "If you come to Mataji and accept Her guidance, do not think that you must practise this or that *Sadhana*, but do exactly as She bids you. Mataji is surrounded by people of the most varying types, belonging to all classes and castes, with different outlook and different upbringing. None of them is perfected, for they have all come to improve and perfect themselves. It is therefore difficult for everyone, as he has to put up with the habits, customs, weaknesses and idiosyncrasies of all the others. Yet he should bear in mind that this is an important part of his *tapasya* or *sadhana*, which will teach him patience and forbearance and help to break down his ego. He should therefore not attempt to reform others, but try to endure things as they come and strive to improve himself rather than his companions. By this he will profit greatly."

* * *

Kishenpur, July 1957.

As so often a bereaved mother had come to pour out her heart to Mataji, lamenting the loss of her son. Mataji spoke soothing words of comfort to her, reminding her that her son was in the care of the Almighty wherever he was and that by turning her mind to Him she would also draw ever closer to her son. When the woman kept on crying, Mataji related a true story, which we have heard Her tell before on similar occasions :

"When I stayed in Bengal I used to visit Tarapith about once a year. One day a woman came, weeping at the loss of her daughter who had died at the age of seventeen or eighteen on the eve of her marriage. The woman had still a younger daughter, aged about ten or eleven. This body told them both to turn to God for comfort and the little girl also started practising *Japa* regularly every morning and evening with the help of a rosary which I presented to her. She become very fond of this practice and even when she fell ill she would keep her rosary under her pillow and continue her *japa* with great regularity. But as fate would have it, she succumbed to the illness and died. When this body came to Tarapith the following year the woman was again in mourning. Having lost both her daughters she was naturally broken hearted. I told her that her grief would react on her children, keeping them tied to the earth instead of their being able to proceed unhampered on their upward path. After much talking she finally promised to try her best to remain cheerful. She made a sincere effort, but often she could not help longing for her children. One evening she was thinking with regret: "Not even in dreams am I allowed to see my little darling." That night she dreamt of her younger child, who appeared to her dressed in white, with a wreath of flowers in her hair looking radiant and beautiful. She motioned to her mother to follow her and led her to a place where many girls of her age were singing the praises of God. All were dressed like herself and decorated with flowers. A venerable old man with a long white beard, who looked like a Rishi, seemed to instruct them. They all appeared full of joy and peace. When the woman awoke from her dream she had a distinct feeling that her little daughter was happy where she was and she made up her mind not to disturb her. However, after sometime the lonely woman started pining again for her lost children. One night her husband had a strange dream. His younger daughter came and put her arms round him, saying: "Mother is so sad and lonely without me, I can't bear it any more to see her cry, I am coming back to you." And in his dream the father took his child in his arms and placed her in her mother's lap. Ten months later a baby girl was born to them. When I came to Tarapith the next year the woman brought her tiny baby to me. The child grew up and is now a woman. In this way it may happen that the grief of their loved ones drags souls back to this world, but it is better to leave them free to progress on their upward path. God alone knows what is best for everyone and provides for it.

Kishenpur, July 1957.

The Principal of a college related as follows:

"In the town where I live there is a quite uneducated young man who, whenever he lies straight on his back (in *Savasana*) goes into a kind of trance. In that state he recites the Vedas and holds discourses on spiritual topics often for one or two hours. He also replies with great learning to whatever questions are put to him. But in his ordinary waking state he is an ignorant person, who remembers nothing of the wisdom that he displays when in trance—in fact he does not even know that he gets a trance. But when questioned about this strange phenomenon while lying in trance he declared that he was a Rishi, who burnt one of his disciples to ashes to punish him for some misdeed he had committed. Brahma then cursed him as a result of which he was born in an uneducated family and had neither inclination nor capacity to acquire knowledge. It seems to me, added the gentleman, who related the incident that the rishis are using the said young man as a medium to give teaching to the world.

Mataji did not directly comment on this but started talking about spiritualistic seances. "There was a woman," She said, "who contacted her deceased husband by using a planchette. She seemed to be successful and got much satisfaction out of this practice. But I explained to her the danger of being deceived by some other spirit and persuaded her to drop the practice. Another widow however would not listen to the advice of this body and continued the table-tapping. She got more and more fascinated by it. To contact another world, which is not ordinarily accessible, tickles one's vanity and when one has become addicted to this kind of thing it is difficult to give it up. The woman gradually became mentally disturbed and finally raving mad. To get in touch with spirits is dangerous, for one may become subjected by them.

"There is a certain sadhu who feels that he on occasions gets inspired or overshadowed by Sri Krishna. Many peple have intense faith in him and firmly believe that the inspiration is genuine. In that state he replies to questions on spiritual topics and recites poetry. The replies he gives are of a mixed quality, some are true to the spirit of the Bhagawad Gita but others are not. I told him : "If these states do not bring about a transformation in you, what is the use of them ? Moreover when the replies you give are sometimes right and sometimes wrong how can you be sure who it is that inspires you ?"

The extra-ordinary thing was that at that very moment the shadhu about whom Mataji had just spoken entered the room, arriving quite unexpectedly from a far off place in the Punjab.

MATRI LILA

(August — October 1957)

In the last issue of 'Ananda Varta' we briefly reported about Mataji's movements from May to the end of July. We mentioned that Mataji arrived in the Kishenpur Ashram at Dehradun on June 28th for a long stay for about two months, interrupted by a visit of five days to Hardwar from July 8th to 12th on the occasion of *Gurupurnima*. The celebration at Hardwar marked a joyful reunion of bhaktas who had assembled in large numbers even from places as distant as Calcutta, Bombay, Almora etc. not to speak of those who had come from Delhi, Dehradun and so forth, to pay homage to Mataji on that auspicious day.

We are sorry to state that Mataji did not keep good health during Her sojourn at Kishenpur, although for the first few weeks it would have been difficult for a casual visitor to notice it, since Mataji attended the Satsang daily, talked and joked in Her usual lively manner, and almost every evening went for walks to 'Kalyanvan,' where a great many devotees from Dehradun used to gather for *Darshan* and occasional discussions. Towards the end of July, however, Mataji's condition took a turn for the worse. From August 1st to 23rd She did not come downstairs at all. During those 23 days we had Darshan three times daily for a few minutes only and every time we found Mataji sitting or lying on Her bed.

Within that period fell *Jhulan Purnima* and *Janmastami*. Everyone felt rather anxious and perturbed about Mataji's bad health and nobody was in a mood for celebrations. But Mataji insisted that celebrations, decorations and feasts should be observed in the usual manner and She Herself gave instructions about every detail of the preparations. Although during *Jhulan* week Mataji's health was at its worst, She came out on the veranda near Her room on the nights of *Jhulan Ekadasi* and *Purnima* and sat in an arm-chair in front of a large ventilator that opens out into the hall below, 'so that She could admire the charmingly decorated swing that had been installed for the occasion. Several images of *Lord* Krishna had been placed on it, to be worshipped according to the custom. The people sitting in the hall could at the same time have Mataji's darshan from a distance.

By *Janmastami* (the birthday of Lord Krishna) which fell on August 18th this year, Mataji's condition had fortunately improved and Mataji came out of Her room four times that day and sat before the ventilator giving Darshan to all and listening to the excellent Kirtan that was sustained for twenty-four hours by bhaktas from Karanpur (Dehradun) and Delhi. Mataji was also present in the same place from 12 – 1 a. m. watching the midnight Puja. The attendance was tremendous throughout the day and night. On that special occasion people were allowed to go upstairs, to do obeisance and place their offerings before Mataji while She was sitting on the veranda. Inspite of everyone's deep regret that Mataji was too weak to come downstairs and move about among people as She always used to do on similar occasions, this festival was celebrated in a most beautiful, dignified and solemn manner. Even the frolics of the traditional '*Nandotsav,*' which expresses the joy of the cowherds over the birth of the Divine child Sri Krishna the next morning, were not omitted. Some of the young people dressed up as *Gopas* and *Gopis* and acted their parts, dancing round the room with large pots of curds on their heads. Mataji appeared again in Her elevated point of vantage, but it fell to Didi's lot this time to distribute the curds to everyone present at the end of the function.

A new feature of those days was that while as a rule whenever Mataji leaves the Satsang many people get up and follow Her wherever she goes or if she retires to Her room wait in front of the closed door, this time people attended all the meetings daily in large numbers, although Mataji's seat remained vacant.

On August 23rd almost the whole of Mataji's party, including Didima and Didi, left for Varanasi, whereas Mataji with a very few people only moved to '*Kalyanvan*', Her second Ashram at Kishenpur. To our amazement Mataji walked down the steps very steadily, after having been confined to Her set of rooms for over three weeks. After sitting in the hall for a few minutes, She boarded the car that took Her to *Kalyanvan*, where She at once began to stroll about on the large platform and then sat down in the open, giving Darshan to those who were tearfully taking leave as well as to the crowd that had come from Dehradun. Mataji spent three days in the little garden house, and then moved to the Raipur Ashram. This is the site near an old Shiva temple where Mataji stayed for many months with Bholanath and Bhaiji when She first left Bengal years ago. The approach to the Ashram is by a good number of steep steps and some of us wondered whether Mataji would not have to be carried up in an armchair. But lo and behold, She climbed up the steps as if She were quite well and strong. Her condition had improved and when Mataji left for Varanasi on August 29th She even followed the urgent invitations of bhaktas to three different houses and sat in their gardens for a few minutes each on Her way to the station. In one of the houses She responded to the host's request to sing '*Rama nama*' and to our delight we heard Her sing after a long time.

As always with Mataji, the nature of Her illness could not be defined by the various doctors that had been called from Delhi and Varanasi as well as Dehradun to relieve the anxiety of the bhaktas rather than Mataji's condition. It is a well-known fact among those who are close to Mataji, that Her illnesses baffle and bewilder medical experts as much as laymen. A doctor may diagnose a certain disease, only to discover that it has simply vanished the next day or else given place to quite a different type of illness, only to change into a third one the day after or he may possibly find Her perfectly well again. It is very similar as regards Her pulse: it may be very quick at one time and ten minutes later quite slow and weak and so forth. When taking Her temperature the thermometer may show high fever and perhaps half an hour later subnormal temperature. Doctors mostly do not dare to diagnose Her condition any more and since medicine of any kind, be it allopathic, homeopathic or ayurvedic, far from having a curative effect, only aggravates the trouble. Nobody has the courage to request Mataji to take medicine. All that doctors can do is to give suggestions as to state and rest and to allay the anxiety of Her attendants by reassuring words. Often they humbly request Mataji to explain Herself the nature of Her illness, which She does with a most radiant smile and complete detachment, as a perfectly dispassionate spectator. On such occasions She repeats invariably that She is always well and in "*Ananda*" and that She does not experience any discomfort, although the ailment seems obvious enough to us. When asked why She gets ill at all, since there is no Karma for Her to be worked out as in the case of ordinary human beings, She has often been heard to say: "Diseases are beings with definite shapes like every one of you. I do not send you away when you come to me, but welcome everyone and everything as forms of Him. Why should I make an exception with those of His guises which are called illnesses? It is all His Play. He is in all forms, be they pleasing or painful. I can assure you that I feel no discomfort, all conditions are equal to me, I am always well."

Nobody can comprehend why She should get seriously ill suddenly and be cured equally unexpectedly without the use of medicine or treatment. Sometimes, as also during Her recent sickness, Mataji has stated that health and disease depend largely on the breath, on its quality, its rhythm and rate. (It must be borne in mind that the breath is the outer expression of the life force (*prana*) which keeps the body alive.) If the rhythm of the breath is disturbed this is followed by illness, but if the normal rhythm of the breath can be regained and be made harmonious the body will be fit and healthy in no time. Then also She says: 'I am the nerves, the arteries and the veins, I am the breath as well as its movement, I am also the observer who stands apart and watches the process of living and breathing if at all the word 'I'. is to be used !"

During the days when Her condition appeared most critical to us She would perfectly calmly and smilingly—albeit with a weak voice—explain the details of the symptoms, the details of the disturbed functioning of breath and pulse, while inspite of seeing the general disability of Her body, all the doctors agreed that every one of Her organs was in perfect condition. It was in fact most perplexing.

One day, while Her illness was acute, Mataji told us that in the night certain Mahatmas had come to see Her in their subtle bodies. They first sat before Her for a while and then walked round Her in solemn circumambulation. She did not tell us why they had come, but we feel that it may probably have been to join in the fervent prayers of devotees all over India, nay all over the world, for Mataji's speedy recovery. Of course we cannot know, it is only speculation on our part.

Mataji has repeatedly been heard to state that not only visible beings flock round Her, but also equally many or even more human and other beings come to Her in their subtle bodies, invisible to the ordinary eye. They come for many different reasons: to have *darshan,* to enjoy Mataji's company, for Satsang, to ask questions and have their problems solved and also for purposes which are beyond our ken.

Fortunately Mataji has granted the prayers of all the thousands of visible and invisible devotees and been gracious enough to become much better again, although She is not yet in perfect health.

Mataji reached Varanasi on August 30th after an absence of nearly five months. From September 1st to 8th a *Bhagavata Saptah Jayanti* was held, which now has become a regular feature of the Ashram. It was celebrated in an even more impressive manner than on former occasions—perhaps to make up for Mataji's absence from Varanasi during *Jhulan* week and *Janmastami,* which used to be such feasts of joy there in years past. Part of the success of the *Bhagavata Saptah* was surely due to the active interest of a devotee from Bombay who attended with his whole family. Although functions of this kind are being repeated time after time, yet in Mataji's presence they seem ever new and inspiring.

A few years ago the parents of a promising young man, who had died under tragic circumstances in an aircrash, arranged for a *Bhagavata Saptah* in the Ashram. The bereaved father was a fairly Westernised person, who had not much faith and moreover the simplicity and frugality of the Ashram was not quite to his taste when he first arrived. But day by day his mood brightened and he came to appreciate more and more the spiritual atmosphere around him, until by the end of the week he was a changed person, full of joy at having made contact with Mataji.

A veritable host of visitors had come to take part in the *Bhagavata Jayanti* this year. Many of them returned to their homes when it was over and Mataji had a more restful time until a new influx of guests arrived to attend *Durga Puja* which was celebrated from September 30th to October 3rd.

Already a year ago an old bhakta of advanced age had begged Mataji to be present at the Durga Puja at Varanasi this year, as it might possibly be the last celebration in the old lady's lifetime. The request was granted. Preparations for the Puja began quite early and invitations were sent to all bhaktas and friends. A surprisingly large number responded to the call—in fact one was reminded of the 60th *Jayanti* celebrations in 1956; of course it was all on a miniature scale compared to that gigantic function. Nevertheless this time also many guests had to be accommodated in various houses near about, even though the Ashram itself can give shelter to a very considerable number of visitors. The whole celebration was pervaded by a great joy. Mataji was not present for as many hours as She used to in former years, visibly or invisibly She was felt to take part in everything and at intervals could be seen moving all over the Ashram giving suggestions, directions, encouragement. Visitors had Her *darshan* several times daily.

A word must be said about the artist who created the image for the Puja in front of our eyes in the Ashram itself, in an incredibly short time and yet with rare artistic skill and perfection. It was quite an experience to watch him work and produce the beautiful image, seemingly out of almost nothing, as if by magic.

On October 8th Lakshmi Puja followed. In the *Chandi Mandap* of the Ashram there is a lovely statue of the goddess Lakshmi, which was used as the focus for the worship. Lakshmi Puja is performed after dusk, in the full moon night and takes only about two hours, which Mataji graced with Her benign presence. It was on a much smaller scale than Durga Puja, but none-the-less impressive, charming and harmonious.

A fortnight later, on October 22nd and 23rd Divali, the festival of lights was observed in the traditional way by a profusion of oil lamps and candle lights outlining the Ashram roofs and verandas, by crackers and fireworks for the children and by the solemn worship of the goddess Kali througout the moonless night. Mataji was present in the evening and again during the Puja from 10 p. m. to nearly 3 a. m. When everyone had partaken of the Prasad it was nearly dawn and therefore time to start cooking for *Annakut*, the yearly feast of *Annapurna*, the goddess of plenty. An enormous quantity of food of a great variety (108 dishes in all) has to be offered on that occasion and there was no end to the guests who kept on pouring in the whole afternoon, until at about 6 p. m. everyone had his fill. No special invitations had been sent out for this feast, but everyone who ventured along was welcome to partake of the Prasad and thanks to *Annapurna's* grace there was no scarcity; everyone who came could be satisfied. It was no small task for those of the Ashramites who prepared and served the meal, not only in the two dining-halls, but also simultaneously wherever else space permitted. Mataji could be observed now in the kitchen, the next moment in the temple, then again taking part Herself in the serving of food and a little later receiving people in Her own room, putting a garland round one person's neck, a fruit into another one's hand, with a smile for one, an encouraging word for yet another — as ever giving just the right thing at the right moment to everyone who comes within Her orb.

On October 24th Mataji motored to Vindhyachal. There She had a comparatively quiet time, although guests from Calcutta, Bombay, Ahmedabad, Delhi, Kanpur, Lucknow Allahabad, Varanasi etc. kept on coming and going without a day's interval there as well.

We have already in other issues of Ananda Varta tried to give an idea of the exquisite view over the surrounding plains, hills and the Ganges which the Ashram commands, situated as it is on Ashtabhuja Hill, a few minutes' distance from the P. W. D. rest house. A visit to the Vindhyachal Ashram, however short, while Mataji is present, will remain a cherished memory for the rest of one's life. Everything is delightful on Ashtabhuja Hill. The wide landscape, the soft breeze, the sparkling water from '*Kali Kuan,*'* the excavations of ancient sculptures at the entrance to the Ashram, the herds of cows and goats grazing on the hillside, the solitude and the pervading peace — and last not least the fact that Mataji can be met here surrounded by a handful of people only in contrast to the large crowds in most other places. In the Vindhyachal Ashram there is no rush and no pushing, one may relax and feel at perfect ease......

---

* *Kalikuan'* is a famous well in the courtyard of a Kali temple nestling in the midst of a picturesque jungle. The water has curative properties and patients suffering from gestric troubles flock to Vindhyachal all the way from Calcutta, many claim to have been restored to health by drinking the water of that well.

On November 15th Mataji returned to Varanasi only to leave for New Delhi on November 19th, to be present at the sixth Samyam Mahavrata, to be held at the Ashram at Chandralok, near Kalkaji on the outskirts of New Delhi.

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram

List of Publications from Shree Shree Anandamayee Ashram

B 2/94, BHADAINI, BANARAS

No.	Name of Books	Language		Author	Price
1	Matri Darshan	Bengali		Bhaiji	2 0 0
2	Matri Darshan	Hindi		,,	2 0 0
3	Matri Darshan	Gujrati		,,	2 0 0
4	Matri Darshanam	Sanskrit		,,	1 8 0
5	Mother as Revealed to Me (English Version of Matri Darshan)	English		,,	2 0 0
6	Sadvani	Bengali		Bhaiji	1 0 0
7	Sadvani	Hindi		,,	1 0 0
8	Sri Sri Ma Anandamayi	Bengali	I	Gurupriya Devi	2 0 0
9	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	II	,,	2 0 0
10	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	III	,,	2 0 0
11	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	IV	,,	2 0 0
12	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	V	,,	2 0 0
13	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	VI	,,	2 0 0
14	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	VII	,,	2 0 0
15	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	VIII	,,	2 0 0
16	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	IX	,,	2 0 0
17	Sri Sri Ma Anandamayi	Hindi	I	,,	2 0 0
18	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	II	,,	2 0 0
19	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	III	,,	2 0 0
20	Sri Sri Ma Anandamayi	,,	IV	,,	2 0 0
21	Ma Aanandamayi	Hindi		Dr. Pannalal	0 5 0
22	Matri Lila Sankirtan	Bengali		,,	0 5 0
23	Matri Lila Sankirtan	Hindi		,,	2 8 0
24	Akhanda Mahayajna	Bengali		Gurupriya Devi	2 8 0
25	Akhanda Mahayajna	Hindi		,,	1 8 0
26	Ma Anandamayi Upadeshamrita	Bengali		,,	1 8 0
27	Ma Anandamayi Upadeshamrita	Hindi		,,	3 0 0
28	Mother as seen by Her Devotees	English		Devotees	2 0 0
29	Kirtan Rasaswarup	Bengali			1 8 0
30	Sanobali Mayer Katha (for Children)	,,			1 0 0
31	Nandini Ma				0 8 0
32	Do				
33	Anandavarta				

PHOTOS & BLOCK PRINTS OF SRI SRI MA

1.	Album (photo print)	Rs. 50/-	7.	Photo Print	Rs. 1/8/-
2.	,, (,,)	Rs. 30/-	8.	,, ,,	Re. 1/-
3.	,, (Block Print)	Rs. 1/8/-	9.	,, ,,	Rs. -/8/-
4.	Photo Prints	Rs 15/-	10.	Marble Blocks	Rs. 5/-
5.	,, ,,	Rs. 10/-	11.	Block Print (Seashore)	Re. 1/-
6.	,, ,,	Rs. 5/-	12.	,, ,, (Chuda)	Re. 1/-

LIBRARY
No.
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
B[illegible]

Ananda Varta

श्री श्री आनन्दमयी संघ
ॐ मा
मातृ शरणं

FEBRUARY 1958.

VOL. V NO. 4

HINDI & ENGLISH

Contents

Hindi Section

Page No.
1. मातृ-वाणी 241
2. श्री श्री माँ की अमरवाणी—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम०ए०, डी-लिट् कृत व्याख्या सहित 243
3. अनुकम्पा-धारा—श्रीचरणकमलाश्रिता 255
4. बनारस के एक डाक्टर का अनुभव 259
5. मां को खोकर मां को पाया—गोपाल 263
6. मातृ-सत्संग—रघुनाथ दास गोस्वामी (कान्तिभाई) ... 267
7. कृपा और उपाय का मिलन : एक दृष्टि—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी-लिट्० 277
8. माँ—श्री प्रताप उपाध्याय .... 280 (d)

ENGLISH SECTION

1. Matri Vani 281
2. Mataji's Amara Vani 285
3. Matri Lila 291
4. Mother's Physical Aspect—Vijayanand (Dr. A. Weintrob) ... 301
5. Mother : The Messenger of Certainty—Sri Madan Mohan Verma ... 308
6. The Unknown Life of Jesus Christ—Sri U. C. Dutt ... 313
7. From the life of Sri Sri Ma Anandamayee—Dr. Bithika Mukerji, M.A. PH. D. 319

Price : Rs. 1/8/-
Annual subscription (for four issues) : India Rs. 4/- Foreign Rs 5/-

Printed & Published by—Brahmachari Kamal Bhattacharjee for
Shree Shree Anandamayee Sangh, Varanasi, at the Kamala Press, Godhowlia, Varanasi.

ĀNANDA VĀRTĀ

अमर आत्मा—अमर पन्थी स्वयम्—अपने में आप

VOL. V] FEBRUARY, 1958 [NO. 4

—मातृ-वाणी—

(विभिन्न लोगों के पत्रों के उत्तर में श्री श्री माँ ने जो उपदेश दिये हैं उनका संक्षिप्त संकलन)

(१६३)

माँ ने कहा है—पिताजी निश्चिन्त होकर आनन्द से रहें—यही कहना है। जिस भाव से जो नाम आपके मन, हृदय और मुँह में आवे वही बोल कर आप उनको (भगवान् को) पुकारें। सबेरे शाम दो ही बेला क्यों ?—सदा। यही आप की रामवाण महौषधि है। वे परम पिता हैं, परम माता हैं, परम बन्धु, सखा हैं, एकरूप में वे ही सब कुछ हैं। सब नाम, सब रूप, अनाम, अरूप उन्हीं के तो हैं। अतएव जिस तरह से उनका सदा मन और हृदय से स्मरण करने से शान्ति मिले वही करना चाहिये।

(१६४)

प्रायश्चित्त करना नहीं पड़ेगा, प्रायश्चित्त का संकल्प जो मन में उठा है उसी से प्रायश्चित्त का काम हो गया। पिताजी से कह दो कि चिन्ता करने से इस (शरीर को) चिन्तायुक्त न करें। भगवान् के चिन्तन से ही सब चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं।

(१६५)

पिताजी मन की बात मन में दबा कर न रखें। हृदय खोल कर लिखें ऐसा करने पर और हृदय खुलेगा। इतने दिनों तक पिताजी ने इसे मन में क्यों दबा रक्खा। इस शरीर के निकट सामने कहने पर अच्छा होता न ? यह शरीर तो सभी का है। फलतः जिस समय जो जिस भाव की दिशा को जिस भाव से चाहता है यथासंभव यह शरीर उस भाव की रक्षा करता हुआ चलता है और व्यवहार करता है। विग्रहादि के किसी पूजन, अनुष्ठान इत्यादि में शास्त्र के विधान के अनुसार जैसा सभी ब्राह्मण पुरोहित आदि करते हैं, उस उत्सव में पूजा इत्यादि के अङ्ग के रूप से कुमारी-पूजा जब शास्त्र विधान के अनुसार की जाती है तब पुरोहित एवं सभी जो चाहें वही उनको कहने देना चाहिये, यह पिताजी को लिख

दे। अवश्य यह शरीर जब निजी बन्धु कुमार और कुमारियों के साथ खेलता है तब पुरोहितों के मत की कोई परवाह नहीं करता—चाहे कुमारी जिस किसी जाति की ही क्यों न हों। इस बार तुमने देखा नहीं—कहाँ ब्राह्मण-कुमारी ही थीं। उन्होंने जो पूजा की,—वस्त्र, भोजन इत्यादि सर्वांगीण रूप से सब किया तो? इस शरीर का तो सब ओर समभाव है।

(१६६)

पिताजी को जरा लिख तो—धीर वीर के तुल्य मन को स्वस्थ रखने के लिए। मन को अस्वस्थ करने से काम नहीं चलेगा। भय किस बात का है?—वे हैं ऐसा सदा मन में स्मरण रखना चाहिये। उनकी जो इच्छा हो करें। वे अपने हैं, सन्तान के ऊपर उनका पूरा अधिकार है—अपनी इच्छा से सन्तान को चलाने के लिए, यही मन में स्मरण रखना चाहिये—वे जो करेंगे सभी मंगल है।

(१६७)

वह कह सकते हैं कि सबके साथ बैठ कर भगवान् का नामकीर्तन, जप, ध्यान आदि करने में क्या क्षति है—किन्तु संग का जो आकर्षण है उसमें वह विघ्न डालता है। चञ्चलता आना स्वाभाविक है। फिर प्रधान या मुख्य होकर बैठने की यदि इच्छा हो या रहे; तो उससे भी अकल्याण होता है। इस तरह के भी स्त्री और पुरुष हैं। किन्तु इस शरीर से यदि पूछो तो यही कहेगा कि पहले स्वयं उत्तम साधक के समान एक स्थान में बैठ कर साधना कर अपनी कलसी भर लेनी चाहिये—तब स्वतः ही तो उफान आवेगा अर्थात् वितरण होगा। मगर यदि पहिले से ही वितरण आरम्भ कर दे (सेवा, शिक्षा आदि द्वारा) तब तो शून्य हो जायगा और बाद में पश्चात्ताप करना पड़ेगा। अवश्य यदि सेवा, शिक्षा ही लक्ष्य हो तो दूसरी बात है। यदि अपने को परिपूर्ण बनाने की इच्छा हो तो इस तरह करना ठीक नहीं है, क्योंकि विघ्न होता है। अपनी तो यही राय है। इन दो में से जो अच्छा लगे उसी को ग्रहण करना चाहिये। बार बार मत-परिवर्तन करने पर तो काम होता नहीं। जो करना हो एकाग्र मन से करना चाहिये। जब संसार की ओर मन न लगा कर इस ओर लगाया गया है तब प्रयत्न कर वह कार्य सिद्ध करना उचित है।

श्री श्री माँ की अमरवाणी

(महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी-लिट् कृत व्याख्या सहित)

पचीस

वेदान्त और भक्ति दो पृथक् वाद हैं, यह कहने पर—

माँ—वाद जहाँ है वहीं तो वाद रहा। भेद और अभेद का अन्त जहाँ है वह स्थान कहाँ? कोई लोग कहते हैं राधाकृष्ण तत्त्व पक्का वेदान्त है—राधा विना कृष्ण नहीं, कृष्ण विना राधा नहीं—दोनों में एक है और एक में ही दो हैं।

प्रश्न—नित्य लीला दो ही मान कर कहते हैं।

माँ—दो मान कर कहते हैं वह भी एक में ही है—किसी किसी का ऐसा दृष्टिकोण है।

प्रश्न—धाम, लीला, परिकर ये सब क्या हैं?

माँ—वे कहते हैं इस लीला में भी अद्वैत छूटता नहीं है। लीला का आस्वाद रस है, और वेदान्त में 'दो' का कोई प्रश्न ही नहीं है। यद्यपि भक्तिवादियों के मत में द्वैत दिखाई देता है पर वह भी एक ही है। उस चश्मे को लगाये विना वह दृष्टि में नहीं आता। वहाँ से वैसा ही दिखाई देता है।

गुरु ने दीक्षा देते समय उपदेश दिया—राधाकृष्ण की सेवा-पूजा करो, तुम सेवक और दास हो, वे प्रभु हैं। इस तरह सेवा करते करते संस्कार आ पड़ता है—

(१) यह ठाकुरजी का कमरा है, इसे शुद्ध, पवित्र रखना चाहिये। ठाकुरजी को पूजा, भोग निवेदन करना चाहिये, आरती करनी चाहिये इत्यादि। यह सेवा करते करते विचार आता है—मेरे ठाकुरजी क्या इतने ही मात्र हैं। वे क्या केवल ठाकुरजी के कमरे में ही हैं। उसके बाहर और कहीं भी क्या नहीं हैं? उनकी सेवा पूजा करते करते यह भाव आ जाता है कि उन्हीं का सब है। ये क्या संक्रामक रोग के तुल्य हैं। किसी एक आदमी ने कहा था, आनन्दमयी माँ के समीप मत जाना, उनके निकट वसन्त के कीटाणु हैं। (हँसी) एकनिष्ठता के कारण भीतर से विचार उठता है—वह भाव कर्म के द्वारा प्रकट होता है। उसी का प्रकाश आता है, वह शक्ति आती है; इसी से विचारदृष्टि खुलती है।

(२) उसके वाद ऐसा होता है कि पूजा के बर्तन मलने बैठ कर दर्शन हुए ठाकुरजी के, सुप्तावस्था में शय्या के निकट खड़े हैं ठाकुरजी। देखो पहले मन में यह भाव रहता है कि ठाकुरजी ठाकुरघर में हैं, फिर क्रमशः उन्हें इधर उधर देखते हैं। उसके बाद फिर स्थान अस्थान नहीं जिधर दृष्टि जाती है सर्वत्र ठाकुरजी ही दीखते हैं, पेड़ पर ठाकुरजी बैठे हैं, जल में खड़े हैं, पशु-पक्षियों में ठाकुरजी दिखाई देते हैं। किन्तु उस समय भी ठाकुरजी को कहीं कहीं ही देखते हैं सर्वत्र नहीं।

(३) इसके अनन्तर ठाकुरजी फिर पीछा ही नहीं छोड़ते हैं जहाँ जाओ ठाकुरजी साथ ही साथ लगे रहते हैं—अनुभव में भी रहते हैं।

(४) तदनन्तर क्या होता है—पेड़ का आकार प्रकार का प्रकाश भी ठाकुरजी ही हैं। पहले थे सब वस्तुओं के मध्य में ही ठाकुरजी। अब मध्य में नहीं हैं—ठाकुर ही ठाकुर हैं। तब उनका प्रकाश क्या रहता है ?—आकार में, प्रकार में, प्रकाश में जो कुछ है ठाकुरजी ही हैं, और तो कुछ है नहीं। ऐसा हो सकता है कि इसी एक अवस्था में कोई शरीर व्यतीत कर दे सकते हैं।

(५) जब सब ठाकुर ही ठाकुर हैं तब यह शरीर भी ठाकुर है—वे हैं, एक सत्ता है। इस अवस्था में जहाँ ध्यान मग्न होता है वहाँ हाथों से फिर सेवा पूजा होती नहीं, एकमात्र वही तो हैं, स्वयं फिर पृथक् नहीं है। वेदान्त क्या कहेगा ?—'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति।' फिर उस स्थान में रह कर भी किसी को प्रभु दास (प्रतीति होती है) वे पूर्ण हैं, मैं अंश हूँ ; फिर वही एकात्मा हैं। यदि ब्रह्म को कहा जाय कि 'कृष्ण की अङ्गकान्ति' तो आपत्ति क्या है। अभिन्न, अभेद ही तो सब है इसको पाकर फिर कहते हो न अवगाहन स्नान है।

(६) इसे प्राप्त कर फिर सेवा-पूजा करते हैं। सेवा पूजा लिये रहे—वे प्रभु हैं मैं दास हूँ। महावीर ने कहा था, मैं और वे एक हैं। किन्तु वे पूर्ण हैं, मैं अंश हूँ, वे प्रभु हैं मैं दास हूँ। यहाँ पूर्ण भी पाया और दास भी पाया। जहाँ 'एक आत्मस्वरूप है' वहाँ 'वे प्रभु हैं, मैं दास हूँ' यह भाव लेकर भी कोई रहे आपत्ति क्या है ? पहले रहे रास्ते में, पाने के लिए उन्मुख, अब प्रकाश के बाद वे सेवा करते हैं।' इसे प्राप्त कर सेवा ही सेवा है—इसे चाहे मुक्ति कहो या पराभक्ति कहो चाहे जो कहो।

आचार्य शिक्षा देते हैं। उनका जप करने पर भी जो है, न करने पर भी वही है। रुकता कहाँ है। कहोगे जगद्गुरु, फिर देखोगे दोष ?

प्रश्न—जब एकत्व ज्ञान हो गया तब फिर किस वस्तु का अभाव शेष रहा जो उसे खण्डपूजा करनी पड़ेगी ?

माँ—यहाँ अभाव नहीं है।

प्रश्न—तब क्या यह सेवा पूजा भी नहीं है ?

माँ—जो कहो वही। प्रसिद्ध है न, शुकदेव मुक्त थे तब फिर भागवत सुनाने क्यों गये ? इसका जवाब क्या है ? जिस अभाव से पहले सेवा पूजा किये जा रहे थे, उस अभाव का स्थान कहाँ है ?

वेदान्ती 'नेति' 'नेति' विचार किये जाता है—सचमुच ही तो फूल को देखता है, दो दिनों के बाद ही वह मिट्टी हो जाता है। तब तो सत्य ही एकमात्र है। परिवर्तन का तो परिवर्तन हो ही जायगा। नामरूप के दृष्टिकोण से भी यदि कोई कहे—सब नाम तुम्हारे नाम हैं सब रूप तुम्हारे रूप हैं यहाँ तो नाम रूप भी सत्य हैं। फिर यदि कहे, परिणाम बन्ध जहाँ रुद्ध हो गया वहाँ तो जगत् है। विचार करते करते एक सत्ता में स्थित हुए। एकमात्र समुद्र ही है, जल ही है, अपने को अलग नहीं देख पाते। वह जो कहा गया था अवगाहन स्नान। बाहर या भीतर कहीं पर भी यदि एक बालमात्र भी सूखा रहे तो अवगाहन स्नान हुआ

नहीं। जैसे पक जाने पर फिर अङ्कुर नहीं उगता, पक जाने के वाद चाहे तुम जो वनाओ, किन्तु सृष्टि का वीज फिर नहीं रहता। यह सृष्टि का वीज जहां नहीं रहेगा वहाँ जो आकार प्रकार है वह तो वही है। देखो भक्ति के द्वारा अथवा वेदान्तविचार के द्वारा वही वस्तु तो हो गया। यह हो जाना क्या पत्थर हो जाना है ? पत्थर हो जाना तो नहीं है। उसका आकार प्रकार वही तो है।

जो जिस पथ से चलेगा उसका जो विशिष्ट प्रकाश है वह तो रहेगा ही, किन्तु पावेगा तो एक ही वस्तु, जिसको पाने पर फिर किसी प्रकार की शङ्का का अवसर नहीं रहेगा। पावेगा क्या, है ही तो नित्य सत्य। उपलब्धि या अनुभव कहने से पृथक् रहता है। किस जगह यह वात टिकती है, किसी जगह नहीं टिकती। जो नित्य है वही कहा जाय तो भी भेद का आभास कुछ रह ही जाता है। जो आवरण या पर्दा कहा जाता है वह गति है। गति का परिवर्तन हो जाता है, वह वदल जाती है। फिर वदलता नहीं भी है यह व्यवहार में परमार्थ है। उसके निकट 'दो' नहीं हैं—कौन खाता है किसे खाता है ? उस स्थिति में वाद-विवाद कहाँ है ? यदि यह कहा जाय कि चलता है, इसीलिए उस स्थान में नहीं रहता—क्या कह रहा हूँ किससे कह रहा हूँ, वह कौन है ? यह वोध जव आ गया। किसी को समझाने पर स्वयं समझ लिया पर उस स्थान को वास्तव में वह समझ नहीं पा रहा है। इसे समझ सकने पर कहता है कि क्या तुम अज्ञान हो गये ? जान सकना और न जान सकना दोनों को ही पाया। जगद् दृष्टि में निवद्ध रहने पर वद्ध है। किन्तु 'तद्' दृष्टि में अज्ञान का ज्ञान और ज्ञान का ज्ञान सभी तो तुम्हारे समाने स्पष्ट हैं—जहाँ ज्ञान और अज्ञान का पृथक् प्रश्न उठ नहीं सकता। इस समय ये खाने और देने के जो जगत के व्यवहार हैं उसके निकट अव्यवहार के व्यवहार हैं। यहां पूजा रही या न रही क्या आपत्ति है ? क्योंकि जानना, न जानना सव कुछ उसके भीतर आ गया। किन्तु इस ज्ञान को समझना कठिन है। किसी एक झलक या स्थिति को समझना सहज है। स्थिति और अस्थिति का वहाँ प्रश्न नहीं है। फिर भी अनवस्था दोष नहीं है। किन्तु तनिक भी आकर्षण यदि रहे तो फिर वह स्थिति नहीं होती। नकल विक्रय करके वहुत से लोग धनी हो सकते हैं। नकल खरीदते क्यों हैं ? यह एक चमत्कार है। किन्तु यह स्थायी नहीं हो सकता व्यवहार में वह पकड़ लिया जायगा। तव फिर असल की खोज होगी।

जव एक आत्मा की प्राप्ति हो गई एकमात्र हुआ तव यह वोध हो जाता है कि मेरी जो मूर्ति है वह इसी रूप में है। पहले सत्ता की प्राप्ति होती है फिर उसी रूप में अभिनिवेश हो सकता है। हमारे इष्टदेव ही आत्मा हैं 'व्रह्म हैं' दूसरा कोई नहीं—वह इष्ट जिसकी मैंने पूजा की थी। डुवकी लगाकरस्नान करने के वाद जल ही इस आकार में है। यह भक्त प्रभु को पाकर यथार्थ सेवक हुआ। 'यह नहीं', 'यह नहीं' करके तथा 'यह तुम हो', 'यह तुम हो' करके एक की ही प्राप्ति हुई। इधर से भी उसी की प्राप्ति और उधर से भी इसी की प्राप्ति। जो शक्ति का आश्रय लेकर जायँगे, या शिव की मूर्ति लेकर जायँगे वे पावेंगे एक ही शक्ति, एक ही शिव। और वेदान्त के दृष्टिकोण से वह वरफ ही जल है, आकार नहीं निराकार है। फिर

हमारे इष्टदेव ही ब्रह्म हैं जिसका जिसका जो मार्ग—जिस भाव से जिसकी गति हो। समता या एकत्व जरूर आना चाहिये, स्थिति लाभ करना ही पड़ेगा। इसके बाद यदि कोई कहे कि मैं मुक्ति छोड़ देता हूँ, इष्ट की पूजा छोड़ देता हूँ तब छोड़ देने पर भी कुछ छूटता नहीं है। छोड़ने न छोड़ने का वहां स्थान ही नहीं है न। यह कहा जा सकता है कि एक ही मार्ग से सब लोग जाते क्यों नहीं ? क्योंकि वे अनन्त रूपों से प्रगट हैं—है तो वही। तब फिर 'क्यों' नहीं हैं। झगड़ा रास्ते में है। किसके साथ लड़ेगा ? रास्ते में ही तो लड़ाई है।

व्याख्या

पच्चीस

१—लीला की जड़ में एक है अथवा दो हैं ?—

जिन्होंने भारतीय साधना और साधकों के इतिहास का क्रमिक रूप से अनुशीलन किया है वे जानते हैं कि साधना के लक्ष्य के सम्बन्ध में भाँति भाँति के मतों के प्रचलित रहते भी स्थूल रूप से दो ही मत प्रधान माने जाते हैं। पहले मत में अध्यात्म-साधना का लक्ष्य मुक्ति अथवा मोक्ष है—यही परम पुरुषार्थ है। यद्यपि धर्म, अर्थ और काम की भी पुरुषार्थ के रूप में गणना की जाती है तथापि वे परम पुरुषार्थ नहीं हैं, क्योंकि इन तीनों में कोई भी नित्य सिद्ध नहीं है। एकमात्र मुक्ति अथवा मोक्ष ही परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने योग्य है। क्योंकि यह आत्मा की स्वरूप-स्थिति होने के कारण नित्यसिद्ध है। साधना से ज्ञान का उदय होने पर स्वरूप का आवरण हट जाता है तब जाकर स्वरूप का आत्मा को प्रत्यक्ष होता है—आत्मा स्वयंप्रकाश है यह तब समझ में आ सकता है। इस प्रकार आत्मा के साक्षात्कार से जीव के अनादि काल से सञ्चित कर्म-संस्कार सदा के लिए कट जाते हैं एवं दुःख की निवृत्ति होकर नित्य शान्ति का उदय होता है—यह अवस्था आत्मा की स्वरूपभूत आनन्द में स्थिति की अवस्था है।

दूसरे मत में मुक्ति अथवा मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं माना जाता। इस मत के अनुसार पराभक्ति अथवा भगवत्प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मुक्ति नहीं। वैष्णव-सम्प्रदाय, किसी किसी शैव सम्प्रदाय एवं अन्यान्य सम्प्रदायों के भी कोई कोई लोग पराभक्ति-प्राप्ति को मनुष्यजीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। कोई कोई इसे पञ्चम पुरुषार्थ भी कहते हैं। यह पराभक्ति अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति इनके मत में मुक्ति से उच्चतर आदर्श है। मुक्ति वस्तुतः इस पराभक्ति की पूर्ववर्ती अवस्थामात्र है। आत्मा यद्यपि स्वरूपतः एक और अभिन्न है तथापि जीवात्मा और परमात्मा के रूप में उसका विलास है यह ध्यान में रखना चाहिये। आत्मा के स्वरूप में एक दृष्टिकोण से अंशांशिभाव है। यह अनादि काल से ही था और अनन्त काल तक रहेगा। बद्ध अवस्था में तथा मुक्त अवस्था में यह समान रूप से रहता है। आत्मा अंश

और परमात्मा अंशी स्वरूप है। दोनों ही एक अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप हैं। अंशचैतन्य अणुरूपी है, किन्तु अंशी चैतन्य महान् है। जीव अनादि अविद्या के प्रभाव से अपने स्वरूप और भगवान के साथ अपना नित्य सम्बन्ध भूल गया है। विद्या के उदय से अविद्या की निवृत्ति होने पर उसे अपने स्वरूप का दर्शन होता है एवं भगवान् के साथ अपना नित्य सम्बन्ध भी ज्ञात होता है। इसके बाद इस सम्बन्ध के अनुरूप नित्य रसास्वाद होता है। यहीं से पराभक्ति अथवा पञ्चम पुरुषार्थ का सूत्रपात होता है। पक्षान्तर में जीवात्मा परमात्मा के समान विभु (व्यापक) है। द्वैतदृष्टि में दोनों में भेद रहने पर भी दोनों ही विभु माने गये हैं। अद्वैतमत में जीव और ईश्वर एक ही वस्तु हैं—जब तक स्वरूप का प्रकाश नहीं होता एवं उपाधि विद्यमान रहती है तब तक दोनों में भेद स्वीकार किया जाता है, किन्तु सब आवरणों के निवृत्त होने पर अर्थात् मुक्त अवस्था में एक ही अखण्ड आत्मा अपने प्रकाश से ही अपने निकट अपने को व्यक्त करता है। तब जीवभाव और ईश्वरभाव यथार्थ स्वभाव नहीं, उपाधि से हैं, यह समझ में आ सकता है।

यहाँ तक जो कहा गया है, उससे साधक लोगों के ध्यानराज्य में इन्हीं दो धाराओं का पता लगता है।

साधारणतः भक्तिवादी साधकों ने किसी न किसी आकार में द्वैतवाद का अवलम्बन कर जीवन के चरम लक्ष्य का निश्चय किया है। इसलिए उन्होंने चतुर्थ पुरुषार्थ मुक्ति की उपेक्षा कर पराभक्ति को ही चरम सम्पत्ति माना है। जीव और ईश्वर अथवा भक्त और भगवान् में यदि परस्पर भेद न माना जाय तो भक्ति का अनुशीलन (भजन) नहीं हो सकता, भक्ति की सत्ता भी नहीं रह सकती, क्योंकि सेव्यसेवकभाव पर ही भक्ति का आस्वादन निर्भर है। अद्वैतसत्ता में भावगत द्वैत न रहने के कारण सेव्यसेवक-भाव नहीं बन सकता। इसीलिए वे लोग अद्वैतस्थिति की अपेक्षा अर्थात् मोक्ष की अपेक्षा पराभक्ति को ही श्रेष्ठ आदर्श मानते हैं। निम्न स्तर की भक्ति ज्ञान का पूर्ववर्ती एक साधन है। किन्तु पराभक्ति वस्तुतः मुक्त पुरुष को भी परम काम्य है एवं यह ज्ञान के बाद होती है, यहाँ तक कि मुक्ति प्राप्ति के बाद होती है, किसी किसी भाग्यवान् आत्मा को जीवन में भगवत्कृपा से प्रकाशित होती हैं। दार्शनिक दृष्टि से यह पराभक्ति-प्राप्ति ही परामुक्ति कही जाने योग्य है। प्रचलित कैवल्य मुक्ति इस मत में अपरा मुक्ति के नाम से गिनी जाती है। जो अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार से आत्मा की अभेद स्थिति मानते हैं उनके मत में पराभक्ति नाम की कोई वस्तु स्वीकार योग्य नहीं है एवं उसको मनुष्य-जीवन का चरम आदर्श मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

पहले मुक्ति के प्रतिद्वन्दी रूप में लीलाप्रवेश की जो चर्चा की गई है वह वास्तव में इस पराभक्ति के आदर्श को लक्ष्य मे रखकर ही की गई है। साधारणतः शुष्क ज्ञानी यद्यपि भक्ति को ज्ञान का उपाय मानते हैं पर उनके मत में वह एक मायिक वृत्तिमात्र है। "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।" यह भक्ति ज्ञान के आविर्भाव के साथ साथ द्वैतनिवृत्तिवश तिरोहित हो जाती है। क्योंकि उस समय एकत्व में स्थिति होती है, इसलिए द्वैतमूलक किसी भक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता। दूसरे पक्ष में लौकिक भक्तों के मायाश्रित होने तथा माया की निवृत्ति से द्वैतनिवृत्ति के साथ साथ भक्ति के उच्छेद की आशङ्का कर वे मायानाशक ज्ञान से सदा भयभीत रहते हैं। इसीलिए वे ज्ञान को नीम का फल (कडुआ) कहते हैं। इस दृष्टिकोण से दृष्टिपात करने पर स्पष्ट रूप से ही समझ में आ जाता है कि साधकसमाज में, साधारणतः ज्ञानमार्ग में, भक्ति का माहात्म्य उतना नहीं माना जाता एवं प्रचलित भक्तसमाज में भी वैसे ही ज्ञान

का महत्त्व स्वीकार नहीं किया जाता। यह अत्यन्त दुःख का विषय है। किन्तु जब तक दृष्टिकोण परिवर्तित न हो तब तक इस तरह की विरुद्ध मनोवृत्ति होना स्वाभाविक है, भक्ति साधना का वास्तविक लक्ष्य भगवान् की नित्य लीला में प्रविष्ट होकर नित्य सिद्ध के रूप में उनकी सेवा करना है। माया जगत् में रहते समय इस प्रकार की सेवा नहीं हो सकती। क्योंकि मायिक भक्त के निकट भगवान् का शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं होता एवं उनका धाम, परिकर, लीला, गुण, क्रिया किसी का भी प्रकाश नहीं होता। ये सब अप्राकृत सम्पदाएँ प्राकृत मायिक दृष्टि का अन्त हुए बिना प्रकाशित नहीं हो सकतीं। इसलिए पराभक्ति के साधक के लिए भगवान् की नित्य लीला में प्रवेश करने के पूर्व अपनी सत्ता को शोधित कर चिदानंद के रूप में स्थित होना आवश्यक है। भाव, प्रेम और रस इन तीन स्तरों से भक्त की स्वरूप सिद्धि हो जाती है। सिद्ध रसमय शरीर विशुद्ध सत्त्व से बना है। वह निर्मल चैतन्य द्वारा नित्य उद्भासित रहता है। इस तरह के शरीर में प्रतिष्ठित न हो सकने तक भगवद्धाम में प्रवेशपूर्वक उनकी लीला का सहचर बनना कदापि सुसाध्य नहीं है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि भक्ति-साधना यदि पराभक्ति अथवा प्रेमलक्षणा भक्ति की साधना हो तो वही नित्यलीला में प्रवेश की साधना के रूप में परिगणित होती है। यह जो लीला का पथ है यही भाव का पथ है। किन्तु भाव का पथ होने पर भी यह माया के अतीत तथा त्रिगुण के परे स्थित है। लीला में आपातदृष्टि से अनन्त वैचित्र्य रहने के कारण प्रश्नकर्त्ता ने शङ्का की है कि इसके मूल में द्वैतभाव रहना अवश्यम्भावी है। एक हिसाब से यह सोलहों आने सत्य है। किन्तु माँ ने जो उत्तर दिया है उससे ज्ञात हो सकेगा कि वह चरम सत्य नहीं है। क्योंकि पूर्ण सत्य सब भावों के अतीत एवं परम साम्यमय है। उसके स्वायत्त होने पर स्वातन्त्र्य का विकास होता है एवं सब संकुचित भाव तिरोहित हो जाते हैं। अतएव इस परम स्थिति की प्राप्ति होने के बाद जिस किसी प्रकार के भाव को लेकर खेल किया जा सकता है और अपना अखण्ड स्वरूप च्युत नहीं होता। इसलिए पूर्ण अद्वैत अवस्था की प्राप्ति के बाद भी लीला के आस्वाद का ग्रहण असंभव नहीं है। वस्तुतः उस अवस्था में लीलातीत परम साक्षिस्वरूप से स्थित होकर भी साथ साथ लीलामय रूप से स्फुटित होना कुछ अनहोनी घटना नहीं है। कोई कोई उस प्रकार की स्थिति को अधिकतर काम्य मानते हैं। एवं वस्तुतः यही श्रेष्ठ स्थिति है यह भी मां ने संकेत से निर्देश किया है। उन्होंने कहा है—दो मान कर कहते हैं, दो भी एक ही है—कोई कोई ऐसा लेते हैं।" अर्थात् नित्य लीला में दो न मानकर उसकी सिद्धि न हो सके ऐसी कोई बात नहीं है।

२—लीला का वैचित्र्य—

लीला को स्वीकार करने पर उसके अङ्गभूत आकार या देह, धाम, काल के भेद, अनन्त प्रकार के भाव और उनके अनुरूप क्रियाएँ तथा गुणों का तारतम्य इन सब को स्वीकार करना पड़ता है। जिनकी साधारणतः अद्वैतवादी के रूप में प्रसिद्धि है वे इसीलिए लीला को मायिक मानते हैं। काया के अतीत चित्स्वरूप में क्रियादि नहीं रह सकते, वहाँ भेद का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। इसलिए यद्यपि चित्त को भगवान् की ओर खींचने के लिए भागवती लीला का महत्त्व सर्वथा स्वीकरणीय है तथापि अद्वैतवादियों की दृष्टि में परमसत्ता में अर्थात् अद्वैत स्वरूप में स्थिति होने पर लीला का अतिक्रमण हो जाता है। क्योंकि माया के अतिक्रमण के साथ ही साथ निष्क्रिय सत्ता में स्थिति होती है। लीला की उपयोगिता

रहने पर भी लीला की पारमार्थिकता वे नहीं मान सकते। किन्तु वास्तव में यह एकदेशी मत है। माया त्रिगुणात्मिका है, उसमें सत्त्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण रहता है। सत्त्वगुण प्रबल होने पर भी एकदम रजोगुण और तमोगुण से मुक्त नहीं रहता। क्योंकि प्रकृति में तीनों गुण परस्पर अनुस्यूत हैं। किन्तु भगवल्लीला अप्राकृत अर्थात् त्रिगुणातीत है। वह गुण का ही खेल हैं, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु वह गुण विशुद्ध सत्त्वगुण है, उसमें रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं है। यह विशुद्ध सत्त्वगुण शास्त्रानुसार भगवान् की उपाधि है। केवल भगवान् की ही नहीं, जिन लोगों ने उनकी कृपा से शुद्धाभक्ति प्राप्त कर भगवद्धाम में प्रवेश का अधिकार प्राप्त किया है उनकी भी वही उपाधि है। श्रीभगवान् का तथा उनके भक्तों का शरीर विशुद्ध सत्त्वगुण से गठित है। श्रीभगवान् का श्रीविग्रह अनादि विशुद्धसत्त्वमय है। किन्तु उनके मुक्त भक्तों का विग्रह विशुद्ध सत्त्वगुण से गठित होने पर भी सादि किन्तु अनन्त है। त्रिपादविभूतिस्वरूप अनन्त भगवद्धाम विशुद्ध सत्त्वमय होने के कारण ही सदा चिदानन्द रस से परिपूर्ण रहता है। काल का परिणाम, अविद्या का प्रकोप, माया की दृष्टि एवं बहिर्मुख वृत्ति का उल्लास इस चिन्मय धाम में नहीं रहते। यह अवस्था द्वैतदृष्टि में भक्तों के लिए जैसे संभव है अद्वैतदृष्टि में भी भक्तों के लिए वैसे ही संभव है। द्वैतदृष्टि का यह लीलारससंभोग प्रेमलक्षणा भक्ति का आभासमात्र है। क्योंकि यह भक्ति नित्य नहीं है। यह महाज्ञान में पर्यवसित होती है एवं तत्र निष्क्रिय, निर्गुण, निष्कल और निराकार ब्रह्मसत्ता में स्थिति होती है। किन्तु इसकी और एक दिशा है, उस दिशा को हृदयङ्गम कर जो पूर्ण सत्ता में भगवान् के परम अनुग्रह से प्रतिष्ठित होते हैं वे एक अद्वैत सत्ता में रहकर भी लीला के व्याज से अनन्तरूपों में अपने को प्रगट कर सकते हैं, एवं उन अनन्त प्रकारों का रसास्वादन भी करने में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में लीलारस के भोग के उपलक्ष्य में जो भक्तिरस का आस्वादन होता है वही वास्तविक प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसका आभासमात्र नहीं। इस अवस्था में इन अनन्त वैचित्र्य, अनन्त प्रकार के संभोग और अनन्त आस्वादनों के रहने पर भी स्वप्रकाश, अनन्तस्वरूप अद्वैत-स्थिति का व्यतिक्रम नहीं होता। क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। पूर्व अवस्था में स्वरूपस्थिति का अभाव रहता है एवं उसके प्राप्त होने पर लीलाराज्य का अतिक्रमण कर वह स्थिति ग्रहण की जाती है। पूर्व और बाद की अवस्थाओं में भक्ति और ज्ञान के परस्पर सम्बन्ध का भिन्न भिन्न रूप में अनुभव होता है। अज्ञानी का रसास्वादन जिस भक्ति का परिणाम है वह कदापि स्थायी नहीं हो सकती—उसकी पूर्ण परिपक्वता में ज्ञान का उदय होता है। दूसरी अवस्था में ज्ञान का उदय पहले होता है एवं उसके अनन्तर लीला के बहाने भक्तिरस का आस्वादन होता है। ये भक्ति और ज्ञान परस्पर अविरोधी हैं। अस्तु यह सत्य है कि अद्वैत अवस्था में पहुँच कर भी ख्याल होने पर अनन्त प्रकार के द्वैतभावों का अवलम्बन कर खेल चल सकता है—वस्तुतः उस अवस्था में द्वैतभाव बिलकुल ही नहीं रहता। जो भेद सा लौकिक दृष्टि में प्रतिभासमान होता है वह भेद नहीं है, भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का विचित्र विलासमात्र है। वैष्णव आचार्यों ने इसे 'भेद' न कह कर 'विशेष' नाम दिया है। उनके मत में विशेष का लक्षण यह है—"भेदाभावेऽपि भेदकार्यनिर्वाहको विशेषः।" अर्थात् जहाँ भेद नहीं है, पार्थक्य नहीं है, एक अखण्ड सत्ता अद्वितीय रूप में प्रकाशमान है वहाँ भी इस महासत्ता की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से भिन्न भिन्न अनन्त प्रकार के वैचित्र्यों का उद्भव होता है। यह आपातदृष्टि से

भेद मालूम पड़ता है, किन्तु वस्तुतः भेद नहीं है। इसी का उन्होंने 'विशेष' के नाम से उल्लेख किया है। अद्वैत परब्रह्म इस दृष्टि के अनुसार सविशेष है। इसीलिए वह एक होकर भी तथा एक रहकर भी यथार्थ रूप से नाना रूपों में अपने को प्रकट कर सकते हैं। उससे उनके एकत्व में कोई क्षति नहीं होती। अतएव बाहरी दृष्टि से दो या बहुत मालूम पड़ने पर भी वास्तव में वहाँ एक के सिवा दूसरे का प्रकाश नहीं होता। प्रकाश अनन्त प्रकार के हैं सही, परन्तु वास्तव में वह एक और अभिन्न हैं। यह अति गम्भीर विषय है, साधारण ज्ञानी की दृष्टि में यह आने योग्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु यह सत्य है कि ज्ञान की पूर्णता होने पर उसमें जैसे नित्य सत्यरूप से, कूटस्थ निष्क्रियरूप से, एक परमतत्त्व या तत्त्वातीत भासता है वैसे ही उसमें इसके साथ साथ एक ही समय में अनन्त भी भासमान होते हैं एवं उस परम दृष्टि में, उस एकत्व और अनन्तत्व में वस्तुतः कोई भेद नहीं रहता। पर उक्त अखण्ड दृष्टि प्राप्त हुए बिना अवश्य यह जाना नहीं जा सकता। इसीलिए माँ ने कहा है, "इस लीला में भी अद्वैत छूटता नहीं। लीला का आस्वाद रस और वेदान्त में दो का कोई प्रश्न ही नहीं है। भक्तिवादियों की दिशा का 'दो' दिखाई देने पर भी वह एक ही है। यह चश्मा बिना पहने वह दिखाई नहीं देता। वहाँ से वैसा ही दिखाई देता है।"

३—मुक्ति और पराभक्ति—

ज्ञानी का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु भक्त का लक्ष्य परा भक्ति है। मुक्ति और परा भक्ति आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने पर भी वास्तव में विरुद्ध नहीं हैं। भक्त की दृष्टि में अंशांशिभाव रहता है। किन्तु ज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्मवस्तु निरंश है, इसलिए उसमें अंशांशिभाव नहीं रहता। पर वास्तव में इसके रहने और न रहने में यथार्थतः कोई विरोध आता नहीं है, क्योंकि दोनों का स्वरूप एक और अभिन्न है। ब्रह्म चित्स्वरूप, महान् और अखण्ड सद् वस्तु है। जीव भक्त की दृष्टि में चिद्वस्तु होने पर भी अणुपरिमाण और ब्रह्माश्रित नित्य वस्तु है। दोनों पक्षों में ही स्वरूप एक है, इसलिए एक ओर जैसे अद्वैतभाव कहा गया है दूसरी ओर वैसे ही आश्रय और आश्रित भाव रहने से इस अद्वैत भाव में भी अनिवर्चनीय 'मैं' 'तुम' भाव जाग्रत् रहता है—'सोऽहम्' भाव अथवा 'दासोऽहम्' भाव दोनों ही सत्य हैं। ज्ञानी की दृष्टि में सोऽहं भाव की महिमा जाग्रत् रहती है, किन्तु भक्त की दृष्टि में सेव्यसेवकभाव सदा प्रतिष्ठित रहता है। पूर्ण वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट होने पर ज्ञात होगा कि मार्ग की पथिकता बीत चुकी है! उस समय अपने अपने आधार के अधिकारानुसार उस परम स्थिति का परम आस्वादन भाषा द्वारा प्रकट किया जाता है। जो अपने को उस परम सत्ता से अभिन्नरूप में पहिचान चुका है वह 'सोऽहम्' ज्ञान का पात्र है। किन्तु जो उस परम वस्तु को आश्रय रूप से प्राप्त हो एवं अपने को उसका नित्य आश्रित समझ दोनों के सम्बन्ध का अनुभव करता है वह स्वभावतः ही अपने को उनके सेवक के रूप में स्वीकार करता है। यह सेवा बद्धावस्था में नहीं हो सकती। मुक्त हुए बिना अर्थात् माया का बन्धन उच्छिन्न किये बिना इस सेवा में प्रवेश का मार्ग नहीं मिलता। यह सेवा भावरूपी है, इसमें सन्देह नहीं एवं यह भाव भी महाभाव के सिवा और कुछ नहीं है। यही पराभक्ति का प्रकाश है। माया का उल्लंघन हुए बिना अर्थात् स्वयं सब तरह के बन्धनों से उन्मुक्त हुए बिना इस प्रकार का सेवक नहीं बना जा सकता। भक्त सदा भगवान् की सेवा करना ही पसन्द करता है। सेव्यसेवकभाव रहित कैवल्यमुक्ति यहाँ तक कि सायुज्य मुक्ति भी उसे पसन्द नहीं आती।

साधारण भक्ति साधनाभक्ति के रूप में गिनी जाती है। साधन भक्ति के बाद बन्धन कट जाने पर पराभक्ति का उदय होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्मभूत और प्रसन्नात्मा होने के बाद पराभक्ति प्राप्त होने का 'मद्भक्तिं लभते पराम्' इस वाक्यांश से उल्लेख किया गया है। यह हुई एक ओर की बात। दूसरी ओर 'सोऽहम्' भाव के उदय के साथ भावातीत परमस्थिति का आविर्भाव होता है। वह स्थिति वस्तुतः आत्मा की स्वरूप स्थिति है। उसमें भाव का, यहाँ तक कि महाभाव का भी, स्पर्श नहीं रहता। वह उस परमवस्तु के साथ अपना जो एकत्वरूप ज्ञान है उसमें स्थिति है। पहली अवस्था आनन्द के आस्वादन की अवस्था है। किन्तु यह आस्वादन क्रियात्मक व्यापार नहीं है; विशुद्ध भावमय है। दूसरी अवस्था विशुद्ध चित्स्वरूप में स्थिति का निदर्शन है। वस्तुत: आनन्द और चित् का अभेद होने से दोनों में वस्तुत: कोई भिन्नता नहीं है। और एक बात है वह यह कि जो यथार्थ महास्थिति है उसमें प्रविष्ट होने पर चित् और आनन्द की कल्पित विशेषता लुप्त हो जाती है। माँ ने इस विषय में जो दो एक बातें कही हैं उनसे इस गम्भीर रहस्य के ऊपर स्वच्छ प्रकाश पड़ता है। उन्होंने कहा है, एक आत्मस्वरूप जहाँ है वहाँ "वे प्रभु हैं और मैं दास हूं" इस भाव को लेकर भी यदि कोई रहे तो आपत्ति क्या है? पहले था रास्ते में अर्थात् पाने के मार्ग में। प्रकाश के बाद वही सेवा कर रहे हैं—यह जो प्राप्त होने के बाद सेवा करना है वही सेवा है। इसे चाहे मुक्ति कहो, चाहे परा भक्ति कहो, चाहे जो कहो। अर्थात् प्राप्ति के बाद जो सेवा है वही पराभक्तिरूप सेवा है। वस्तुत: यह मुक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह जो सेवा है इसके मूल में किसी प्रकार के अभाव का ज्ञान नहीं है, इसीलिए यह स्वभाव की सेवा है।

४—ठीक ठीक प्राप्ति किसको कहते हैं?—

ठीक ठीक प्राप्ति होने पर निर्बीज अवस्था प्राप्त होती है। उस समय बीज नहीं रहता, अर्थात् उससे अंकुर निकलने की संभावना नहीं रहती। इस अवस्था के बाद पूर्ण स्वतन्त्रता का विकास होता है। इसलिए यदि कोई ख्याल के कारण सेवा करने को प्रवृत्त होता है तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होती। और यदि कोई सेवा करने को प्रवृत्त न हो तो उसमें भी कोई दोष नहीं है। वस्तुतः उस अवस्था में सेवा करने और न करने में कोई भेद नहीं है। उस समय की सेवा लीला का एक प्रकारभेदमात्र है। उस अवस्था में सिद्ध पुरुष लीला के बहाने चाहे जो कुछ भी क्यों न करें उससे वह बद्ध नहीं होते। जो हैं सदा वही रहते हैं। स्वरूप के और प्रकाश के ऊपर आवरण फिर कभी भी नहीं पड़ता। माँ ने कहा है, "सिद्ध होने के बाद तुम चाहे जो कुछ भी बनाओ किन्तु सृष्टि का बीज फिर नहीं रहता।" प्रश्न उठ सकता है कि प्राप्ति जब एक और अभिन्न है तब यह लीलारूप वैचित्र्य कहां से आता है? इस रहस्य के समाधान के लिए मां ने जो कहा है वह अति उपयोगी है। उन्होंने कहा है, "जो जिस मार्ग में चलेगा उसका तो विशिष्ट प्रकाश होगा ही। किन्तु पाता है एक ही वस्तु जिसे पाने पर फिर किसी प्रकार की शङ्का का अवसर नहीं रहेगा।"

५—अभाव की सेवा और स्वभाव की सेवा—

'सेवा' से यहाँ पूजा, अर्चना, आराधना—सभी समझना चाहिये। जब तक अभाव रहता है तभी तक सेवा की जरूरत रहती है यह सभी जान सकते हैं। किन्तु अभाव की निवृत्ति हो जाने पर अर्थात् ज्ञान का उदय होने

पर एवं अद्वैत भाव में स्थिति होने पर फिर सेवा आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती एवं बहुत लोग उसे असंभव भी मानते हैं। अर्थात् मुक्त होने के बाद भजन, पूजन, सेवा आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहता, यही अधिकांश लोगों की धारणा है। एक प्रकार से यदि देखा जाय तो इस बात की सत्यता में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि अभाव रहने पर अभाव को हटाने के लिए साधना की जरूरत रहती है। किन्तु अभाव मिट जाने के बाद स्वरूप में स्थित होने पर फिर साधना अथवा भजन की आवश्यकता नहीं रह सकती। यह हुई एक ओर की बात। इसी ओर से ही कहा जाता है—भक्ति के बाद ज्ञान होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है। यही स्वाभाविक क्रम है। किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। यदि वह न रहता तो शुकदेवजी मुक्त होकर भी भागवत सुनाने क्यों जाते? अवश्य मुक्ति के बाद भजन, पूजन कहीं कहीं जो दिखाई देता है उसे भजन पूजन न कहने पर भी कोई विशेष क्षति नहीं होती। क्योंकि वह बिना प्रयोजन की एक तरह की केवल लीला, स्वतःसिद्ध आनन्द का स्वाभाविक उल्लासमात्र है। इस दृष्टि से मुक्ति के बाद भी भक्ति का संभव है यह समझ में आ सकता है। केवल संभव ही नहीं, मुक्त पुरुष का भजन ही वास्तविक भजन है। अभावग्रस्त बद्ध जीव के भजन से वह बिलकुल भिन्न है। प्राचीन आचार्यों ने भी श्रीभगवान् का मुक्तोपसृप्य' कह कर निर्देश किया है। अर्थात् मुक्तों के द्वारा ही वे उपसर्पणीय हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मुक्त हुए बिना वासना, संस्कार आदि से छुटकारा न मिल सकने पर भगवान् का उपसर्पण ही नहीं किया जा सकता अर्थात् उनके निकट अग्रसर नहीं हुआ जाता, भगवदुन्मुखी दृष्टि ही नहीं खुलती। श्रीमद्भागवत में इस विषय में एक वचन है, वह यह है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥"

अर्थात् मुनिगण ग्रन्थिहीन होकर भी मुक्ति प्राप्त करके भी, एवं विषयतृष्णाहीन आत्माराम अवस्था में प्रतिष्ठित होकर भी अनन्तगुणों से परिपूर्ण तथा अचिन्त्यलीलाशील भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं। भगवान् की ऐसी महिमा है कि आनन्दस्वरूप मोक्ष प्राप्त करके भी एवं सम्पूर्ण प्रयोजनों से रहित होकर भी स्वभाववश भक्तजन उनकी ओर आकृष्ट होते हैं एवं उनके अनन्त मङ्गलमय गुणों से मुग्ध होकर स्वभावतः उनका भजन करते हैं। यह एक प्रकार से केवल लीला है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु यह भजनरूपा लीला मुक्ति की परावस्था है, इसमें प्रयोजन का लेश भी नहीं रहता। यह भजन और बद्ध जीव का मुक्ति की कामना से भजन एक नहीं है, यह कहना व्यर्थ है। माँ ने स्पष्ट ही कहा है कि अभाव की अवस्था में खण्डपूजा होती है, किन्तु अभाव मिट जाने पर स्वभाव से भी पूजा हो सकती है। वह वास्तव में अखण्ड पूजा है, उसे पूजा कहा जा सकता है, और पूजा न कहने में भी कोई क्षति नहीं है। माँ ने इस विषय में जो कुछ समझाया है उसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि का बीज जब तक है तभी तक उसके अंकुरित होने की आशङ्का रहती है। किन्तु वास्तविक सिद्धि-प्राप्ति होने पर फिर सृष्टि की संभावना नहीं रहती। तब स्वभाव में स्थिति होती है। अर्थात् साधक वह पूर्ण सत्ता ही हो जाता है। यह भक्ति के द्वारा हो, चाहे वेदान्तविचार के द्वारा हो इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार की सिद्ध अवस्था के बाद सब कुछ हो सकता है। तब चाहे जिस किसी प्रकार की स्थिति वहाँ से गृहीत की जा सकती है। किन्तु वह परम स्थिति को क्षुण्ण नहीं करती, इसलिए उसको परमस्थिति का विलासमात्र कहा जाता है। यह अवस्था अत्यन्त

दुर्लभ है। इसको जो लोग पत्थर हो जाना अर्थात् पत्थर के तुल्य जड़वत् अवस्था की प्राप्ति मानते हैं उनका विचार निर्दोष नहीं माना जा सकता। निराकार सत्ता में सभी आकार खयाल से अभिव्यक्त हो सकते हैं। किन्तु ऐसा होने पर भी निराकार निराकार ही रहता है। आकार का प्रतिभास और आकारहीन निराभास अवस्था दोनों ही पूर्ण दृष्टि में एक और अभिन्न हैं।

६—'पर्दा जो कहा जाता है, वह गति है'—

पूर्ण सत्य निरावरण प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः उस सत्ता या प्रकाश में किसी तरह का आवरण नहीं रह सकता। पर आवरण है ऐसी जो प्रतीति होती है वह भी मिथ्या नहीं है। इसका कारण यह है कि लौकिक दृष्टि से देखने पर उस पूर्ण सत्ता में दो परस्पर विरुद्ध पहलू दृष्टिगोचर होते हैं—एक अक्षर अथवा कूटस्थ अपरिणामी स्थिर सत्ता और दूसरी क्षर अर्थात् परिणामी चल सत्ता। एक ही साथ क्षर और अक्षर सत्ता परमस्वरूप में विराजमान रहती हैं। अक्षर गतिहीन, द्रष्टा, निराकार, निर्विकार और स्वयंप्रकाश है, यही निस्पन्द परमभाव है। क्षर गतिरूप, चलनात्मक और स्पन्दस्वरूप है। अक्षर और क्षर परस्पर विरुद्ध हैं। जब अक्षर में क्षर निद्रितरूप से विलीन रहता है तब प्रकाश अनावृत रूप से अपने को अपने में प्रकाशित करता है। यही शक्ति की अन्तर्लीन अवस्था है। किन्तु जब स्पन्दशक्ति का उदय होता है तब इस स्पन्दमयी दृष्टि की दिशा से निःस्पन्दस्वरूप स्वप्रकाश होने पर भी ढक जाता है। यही प्रकाश का आवरण है। वास्तव में प्रकाश अनावृत ही है, क्योंकि आवरण भी तो प्रकाश की महिमा से ही प्रकाशित होता है। किन्तु यह समझ में न आ सकने पर आवरण को प्रकाश से कुछ पृथक्‌रूप में ग्रहण करना आवश्यक है। यहाँ पर वह (आवरण) स्वरूप का आच्छादक हुए बिना नह रह सकता। वस्तुतः यह आच्छादन गति का ही खेल मात्र है। गतिहीन अवस्था में आवरण नहीं रहता, गति का उदय होने से आवरण प्रकट होता है। इसी लिए माँ ने कहा है, "जो नित्य है उसी को कहा जाता है 'है!' आवरण या पर्दा जिसे कहा जाता है वह गति है। गति का परिवर्तन हो जाता है, वह बदल जाती है।" जहाँ गति है वहीं दो का ज्ञान होता है। क्योंकि स्वरूप के आवरण से ही द्वितीय का आभास जागता है। जहाँ गति नहीं वहाँ एक ही एक है—द्वितीय है कहाँ! वहाँ जो भोक्ता है वही भोग्य है, जो कर्ता है कार्य भी वही है, ज्ञाता जो है ज्ञेय भी वही है, विषय जो है आश्रय भी वही है एवं आपाततः प्रतीयमान सम्बन्ध भी वही है। त्रिपुटी तब नहीं रहती है अर्थात् रह कर भी न रहने के समान भासती है। तब वह स्वप्रकाश सत्ता अभिन्न और अखण्ड रहकर भी परस्पर विरुद्ध अनन्तरूपों में प्रकट होती है।

७—छोड़ने पर भी छूटता नहीं है—

पूर्णस्थिति में त्याग और ग्रहण के मध्य में कोई भेद नहीं रहता, इसलिए वहाँ देने और लेने में प्रतीत होने वाला विरोध अस्त हो जाता है। क्योंकि वहाँ न करके भी सब कुछ किया जा सकता है एवं सब कुछ करके भी कुछ नहीं किया जाता, ऐसी स्थिति में रहा जाता है। वहां त्याग और ग्रहण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः छोड़ देना अथवा छोड़े बिना ग्रहण करना, यह अर्थहीन वाक्य है। उस अवस्था में पूजा न करके भी पूजा होती है एवं पूजा करके भी पूजाहीन स्थिति कहना बनता है। इसी लिए मां ने कहा है, "इसके बाद यदि कहे कि मैं मुक्ति का त्याग कर देता हूं अथवा इष्टदेव की पूजा छोड़ देता हूँ तो छोड़ने पर भी कुछ छूटता नहीं है। छोड़ने न छोड़ने का वहाँ स्थान नहीं है।"

८—आदि प्रवृत्ति की भिन्नता का कारण—

मूल में जब सब एक हैं तब सभी एक धारा—लाइन में क्यों नहीं चलते ? ऐसा प्रश्न किन्हीं लोगों के मन में उठता है। कर्मों की विचित्रता, भावों की विचित्रता, इच्छा की विचित्रता ये सब सृष्टि की भीतर की बातें हैं। किन्तु जहाँ मूल की चर्चा की जा रही है वहां एक के सिवा दूसरा तो हो ही नहीं सकता। यदि वही है तो वह एक का प्रकाश एक ही तरह से न होकर अनन्तरूपों में क्यों हुआ है ? ऐसा प्रश्न स्वभावतः ही उठ सकता है। इसका एकमात्र उत्तर जो हो सकता है वही माँ ने स्वल्प अक्षरों में कहा है ; "वे अनन्त रूपों से प्रकट हैं, वही तो हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि यह अनन्त वैचित्र्य अहैतुक है। इसका किसी कार्यकारणभाव से सम्बन्ध नहीं है। यह स्वरूप का अनुबन्धी है, क्योंकि वे एक होकर भी अनन्त हैं और अनन्त होकर भी एक हैं, वह एक ही एक है। यह अनन्तत्व उनके स्वरूप के अन्तर्गत है। भावगत, क्रियागत, गुणगत, रूपगत और शक्तिगत अनन्त वैचित्र्य उसी का अपना प्रकाश है। अपचय नहीं है, इसलिए जो अनन्त हैं वे अनन्त रूप में प्रकट होंगे। इसमें फिर प्रश्न के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अनन्तरूपों में प्रकाश होने पर भी वस्तु एक ही हैं। मूल में एक ही अनन्त हुआ है और अनन्त ही एक हैं, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। मनुष्यों की बुद्धिवृत्ति के समीप विरोध प्रतीत होता है। किंतु बुद्धि के अतीत स्वरूप सत्ता जहाँ है वहाँ कोई भी विरोध नहीं है।

ॐ

अनुकम्पा-धारा

लेखिका—श्रीचरणकमलाश्रिता

१—बाँध पर माँ के साथ

बुलन्दशहर जिले में, अनूपशहर के समीप, श्रीगंगाजी के तट पर बांध एक बड़ा ही मनोरम स्थान है। गंगाजी में बाढ़ आने पर वहाँ के लोगों की खेती (फसल) नष्ट हो जाया करती थी। पूज्य श्रीहरि बाबाजी महाराज ने दयावश मिट्टी डलवा कर यह बाँध तैयार करने की चेष्टा की। उनके पवित्र संकल्प तथा अथक परिश्रम से यह सुन्दर बांध तैयार हो गया तथा लोग आनन्द से खेती करने लगे। वहां के लोग इसको हरिबाबाजी का बांध या "बंधा" कह कर पुकारते हैं। सुना जाता है कि यह बांध २४ मील श्रीगंगाजी के किनारे किनारे चला गया है। ऐसा सुन्दर शान्त तथा रमणीक स्थान बहुत ही कम देखने में आता है। उस स्थान का प्रभाव ही कुछ दूसरा है। वहां महात्माओं के लिए कुछ सुन्दर कुटियां बनी हुई हैं तथा एक ओर सत्सङ्ग-भवन है जिसमें श्रीहरिबाबाजी का कीर्तन तथा महात्माओं के प्रवचन आदि होते हैं। आगन्तुक भक्तों के ठहरने के लिए भी अच्छा प्रबन्ध तथा कमरे हैं। इसी सुन्दर स्थान में श्रीहरिबाबाजी का होली का उत्सव प्रतिवर्ष देखने योग्य होता है जिसमें अनेक महात्मा तथा सैकड़ों व्यक्ति एकत्र होते हैं। एक बार इसी उत्सव में सौभाग्यवश मैं भी पहुँच गई। सुबह आंख खुलती थी, प्रभाती कीर्तन सुनते सुनते। सुबह कई घण्टे तथा शाम को कई घण्टे, सुन्दर कीर्तन, पाठ, रास, महात्माओं के प्रवचन आदि का प्रोग्राम चलता। रात में नित्य श्रीहरिबाबाजी के भक्त बड़ी सुन्दर शिक्षाप्रद लीलाएँ करते थे। वहां एक बैण्ड वालों का दल भी बैण्ड पर सुन्दर कीर्तन भजन बजा कर सेवा करता था। खाने आदि का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा था। सुबह से रात तक उस पवित्र शान्त वातावरण में मानो आनन्द ही आनन्द था। सत्सङ्ग-भवन में महामन्त्र का अखण्ड कीर्तन चलता था।

श्रीचैतन्य महाप्रभु का जन्मोत्सव, होली की पूर्णिमा पर, बड़े धूम धाम से मनाया गया। सबने बसन्ती रंग के वस्त्र पहने। प्रसाद, वस्त्रादि बँटे। संयोगवश श्रीहरिबाबाजी का जन्मदिवस भी उसी दिन पड़ता है सो उनके भक्तों ने बड़े आनन्द एवं उत्साह से सुन्दर बधाइयां गाईं तथा स्वांग भर कर लीलाएँ कीं। श्रीहरि बाबाजी के अनिच्छा प्रगट करने पर भी उनकी पूजा एवं आरती आदि की। होली का दिन इस प्रकार आनन्दोल्लास में व्यतीत हुआ।

बांध की एक घटना मुझे याद आ रही है। कुछ भक्तों ने मिल कर ऐसा नियम बना लिया था

कि बारी बारी से एक भक्त मिठाई या नमकीन सब के नाश्ते के लिए वहां हलवाई से बनवा लेते थे। एक दिन मेरी बारी आई तो मैंने गर्म जलेबियाँ बनवाईं। जब टोकरी भरी जलेबियाँ लाकर रखी गईं तो सहसा मेरे मन में यह बात आई कि यह जलेबी सबको खानी तो हैं ही, यही यदि प्रसाद करके (अर्थात् भोग लगाकर) बांटी जातीं तो कितना अच्छा होता। मां उस समय सत्संगभवन में थीं जो उस स्थान से बहुत दूर था। सहसा मैंने देखा कि मां मेरे पीछे की ओर के दरवाजे से घुसकर मेरे सामने वाले दरवाजे से निकल गईं। मैंने सोचा शायद शौचगृह की ओर गई होंगी। थोड़ी देर बाद मां फिर उसी दरवाजे से घुसीं तथा दूसरे दरवाजे से निकलने के लिए थोड़ी दूर तक जाकर, सहसा लौटकर मेरे सामने खड़ी हो गईं। मुझसे कहा, "इस टोकरी में से एक जलेबी मेरे मुँह में दे दे।" मेरे हाथ साफ नहीं थे, इसलिए मैंने सामने खड़े हुए एक भाई से कहा, "आप मां के मुँह में दे दीजिये।" उन्होंने बड़ी खुशी से मां को खिला दी तथा मां जाने लगीं। इधर मेरे मन में आया कि यदि मेरे हाथ साफ़ होते तो मैं मां को अपने हाथ से खिला सकती थी। मेरे यह सोचने के क़रीब क़रीब साथ साथ ही मां ने रुक कर मुझसे कहा, "तू अपना हाथ धोकर मुझे थोड़ा सा खिला दे।" मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। दौड़कर गई हाथ धोकर मां को खिला दिया। फिर जैसा मेरे मन में आया था वे टोकरी की जलेबियां प्रसादरूप से ही सबको बँटीं। मैं सोच रही थी असीम दयामयी अन्तर्यामिनी मां की दया की कोई सीमा भी है! और सच तो यह है कि हम लोगों के सौभाग्य की भी कोई सीमा नहीं है जो ऐसी माँ के संग का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होता है।

२—देहली भागवत सप्ताह में दो दिन

मेरी एक भतीजी की शादी के प्रबन्ध का भार अधिकतर मेरे तथा मेरी बहिन के ऊपर ही था, कारण कि उस कन्या की मां उसको २० दिन की ही छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई थीं। हम लोगों ने शादी की आवश्यक वस्तुएं—वस्त्र, आभूषण, बर्तनादि—लखनऊ से खरीदीं तथा एक मोटर पिक अप में सब सामान लेकर एटा आए। उन दिनों अन्थसिंह नाम का एक नामी डाकू एटा के पास टिका हुआ था। उसी जगह पहुँच कर मोटर रुक गई—मालूम हुआ पैट्रोल समाप्त हो गया। हम लोग सोच ही रहे थे क्या करें ? पैदल अंधेरे में ही चलना शुरू कर दिया। एटा ३ मील के लगभग ही था। मां की कृपा से थोड़ी दूर चलने पर ही एक बस वाले की सहायता से हम लोग सकुशल एटा पहुँच गए। एटा से ही विवाह होने का निश्चय हुआ था तथा बारात ३-४ दिन बाद आने वाली थी। मेरी इच्छा हुई कि मैं १-२ दिन के लिए देहली जा कर मां के दर्शन कर आऊँ। मैंने बड़े भाई से कहा तो उन्होंने कहा मां के दर्शन के लिए मना भी नहीं कर सकते और घर में काम अधिक है, जैसा उचित समझो करो। बहिन ने कहा विवाह बिलकुल समीप है—काम बहुत हैं, इस समय जाना ठीक नहीं। मुझे अत्यधिक निराशा हुई, परन्तु मां की कृपा से बहिन ने बाद में स्वीकृति दे दी वरन् वे स्वयं भी साथ चलने को तैयार हो गईं। अस्तु, हम लोग बड़े भाई की 'कार' में देहली के लिए चल दिये तथा सायंकाल के

समय देहली पहुँचे। मां के पास गई—चरणों में प्रणाम किया—मां ने पीठ पर हाथ फेरा और बताया कि मुझे एक दो दिन से तुम्हरा ख्याल आ रहा था। कितना सुख हुआ मां की इतनी कृपा मुझ जैसी अयोग्य पर देखकर।

श्री मद्भागवत-सप्ताह मां के एक भक्त ने अपने घर पर कहलाया था। वह अमृतवर्षिणी कथा दो दिन मैं भी सुन सकी। यह दो दिन कैसे निकल गए पता ही न चला। चलते समय मां के पास प्रणाम करने गई तो मां ने कहा रास्ते भर भगवान् का नाम-जप करती हुई जाना। खैर, उदास मन से हम लोग रवाना हुए। देहली से बाहर भी नहीं निकल पाए थे कि एक पुलिस वाले ने मोटर रोककर कहा कि इसका पहिया हिल रहा है ठीक करा के तब जायँ। पर हम लोगों को जल्दी एटा लौटना था, ठीक कराने में काफी समय लगता तथा रास्ते में रात भी हो जाती। अतः हम लोग एटा की ओर चल दिये। मैं मां के आज्ञानुसार कभी कीर्तन और कभी जप करती रही। हम लोग सकुशल एटा पहुँच गए। तब मेरा भतीजा मोटर लेकर "गराज" में दिखाने गया कि पहिया क्यों हिलता है। उन लोगों ने भली भांति देखा तो पता चला कि जो एक विशेष पुर्जा ("पिनियन") होता है वह बिलकुल घिस गया था। वह लोग महान् आश्चर्य में पड़ गए कि वह मोटर देहली से एटा तक कैसे सकुशल आ गई एवं सामने का पहिया क्यों नहीं निकल गया। उन लोगों ने कहा ऐसी हालत में तो मोटर का कुछ गज चलना भी बड़ा आपत्तिजनक हो सकता था। जब मेरे भतीजे ने यह बात मुझे सुनाई तब मेरी समझ में आया कि इस बार मां ने क्यों मुझसे रास्ते भर भगवन्नाम लेने के लिए कहा था।

३—भिरावटी ग्राम में माँ के साथ

सुना इस बार श्रीहरिबाबाजी का होली का उत्सव भिरावटी में हो रहा है। मैं आगरा में थी, वहां से भिरावटी जाने का निश्चय किया। भिरावटी जाने के लिए रेल से रवाना हुई। कुछ दूर बैलगाड़ी से भी जाना पड़ता था। सुना था वहां अक्सर डाकू बैलगाड़ी रोक कर लूट लेते हैं। पर श्रीहरिबाबाजी का बड़ा अच्छा प्रबन्ध था। उनके भक्त जाकर उत्सव के दिनों में नित्य ट्रेन देखते थे तथा जो भक्त आते थे उनकी बैलगाड़ी आदि का प्रबन्ध करते थे। मुझे भिरावटी पहुँचते पहुँचते रास्ते में ही शाम हो गई। देखा दूर से कोई पैट्रोमैक्स लिये चला आ रहा है। बाद में मालूम हुआ कि असीम करुणामयी मां ने ही वह भेजी थी जिससे खेतों में होकर आने में अंधेरे में कोई कष्ट न हो। इस बार काफी समय बाद मां के दर्शन हुए थे कितना सुख हुआ उनकी गोद में सिर रखकर।

मेरे मन में शायद छिपी हुई यह इच्छा थी कि मां की सेवा का सौभाग्य मुझे मिले। मां ने भिरावटी में मेरी यह इच्छा पूरी की। मां की एक सेविका को कुछ तबीयत खराब होने के कारण कलकत्ते इलाज के लिए जाना पड़ गया। दीदी को किसी कार्यवश २–३ दिनों के लिए काशी जाना पड़ गया। एक बहन मां का खाना बनाती थीं। मां की ऊपर की करीब करीब सुबह से रात तक की सब सेवाएँ मुझे मिल गईं। रात में भी मैं मां के कमरे में ही

सोती थी। इसी बीच में मां ने पता नहीं क्या लीला की। मां को काफी तेज ज्वर हो गया और साथ ही उल्टी आदि भी। मां की कनपटी तथा गले में भी दर्द था बाद में कनवड़ (Mumps) निकल आए। व्यथा के मारे मां रात में अधिकतर जागती रहती थीं। कभी कभी रात में मसहरी में बैठी रहतीं। सेंक तथा "बेलडोना पलस्तर" आदि से विशेष लाभ नहीं प्रतीत होता था। कभी कभी मां को कष्ट से जागती देखकर मैं भी सोचती कि जगती रहूँ। बैठे रहने पर भी पता नहीं कव सो जाती। मां की यह बीमारी की लीला भी देखनी पड़ी। देखकर अत्यधिक कष्ट होता था, पर प्रार्थना करने के अतिरिक्त और क्या उपाय था। ३-४ दिन बाद मां की तबीयत स्वयं ही ठीक हो गई।

बनारस के एक डाक्टर का अनुभव

पाँच

एक उच्चवर्ण हिन्दू के घर में एक छोटा सा बच्चा बहुत बीमार था। मैं उनके इलाज के सिलसिले में देख भाल करता था। रोग का उत्तरोत्तर बढ़ना देखकर यह इच्छा हुई कि किसी अभिज्ञ डाक्टर की भी राय ली जाय। घर वालों से सलाह लेकर उस समय के प्रसिद्ध डाक्टर बी० के० मुखर्जी को बुलाया गया। डाक्टर साहब ने अत्यन्त यत्न और मुहब्बत के साथ बच्चे की परीक्षा की एवं चिकित्सा सम्बन्धी सब बातों का मुझको निर्देश दिया। गृहस्वामी ने डाक्टर साहब को उनकी उचित फीस से दो रुपया कम दिया। डाक्टर मुखर्जी बहुत नाराज हुए और दो रुपया कम लेने से साफ इनकार कर दिया। घर वालों ने बहुत हाथ पैर जोड़ा लेकिन डाक्टर साहब ने कोई बात न सुनी। तब झक मारके घर वालों ने डाक्टर साहब को पूरी फीस दे ही दी। तब डाक्टर साहब बच्चे की चारपाई से उठे और पूरी फीस बच्चे के तकिये के नीचे रख दी। घर वालों के साथ मैं भी दंग हो गया। मुझे तो इतनी देर तक दिल में एक किस्म का संकोच हो रहा था। घरवालों ने एक साथ पुकार के कहा "नहीं डाक्टर साहब! ऐसा न कीजिये, हम लोगों के मन में बड़ा दुख होगा।" डा० मुखर्जी ने जवाब दिया, "तुम लोगों के ऐसे दुःख से हमें कोई चिन्ता नहीं, हमारी चिन्ता बच्चे के लिए है। देखो, इसी रुपये से बच्चे के लिए सेव खरीदो और बच्चे को सेव का रस पिलाओ। देखो पाप से बीमारी होती है। पाप के खण्डन के लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। प्रायश्चित्त में दर भाव नहीं करना चाहिये, उससे पाप और बढ़ जाता है। अब तुमने अपना धर्म किया उपयुक्त मूल्य से प्रायश्चित्त करके और हमने अपना धर्म किया अपने बच्चे को फल खिलाने का मूल्य देकर।"

मैंने बाहर जाकर डा० मुखर्जी के पैर छूकर अन्याय भावना के लिए क्षमा मांगी और आशीर्वाद की प्रार्थना की।

छः

स्वामी विशुद्धानन्दजी की तबीयत कुछ दिनों से ठीक नहीं थी। मेरे एक मित्र स्वामीजी के भक्तों में थे। वे मुझे स्वामीजी को देखने के लिए ले गये। इसी सिलसिले में मुझे प्रायः स्वामीजी के दर्शनों का सौभाग्य मिला करता था।

काशी में उन दिनों पुलिस के कप्तान थे एक श्रीमान् थम। यह जाति में स्कच थे। एक रोज थम ने मुझसे कहा, "हमारे ससुर जी स्काटलैंड से आये हैं। वे एडिनबरा विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्रोफेसर हैं। उन्होंने स्वामी विशुद्धानन्दजी का नाम सुना है। उनके विषय में कुछ पढ़ा भी है। उनकी हार्दिक इच्छा है कि स्वामीजी के दर्शन करें।

पता लगाया तो मालूम हुआ कि स्वामीजी की तबीयत अच्छी नहीं है। डाक्टरों ने मना किया है

कि और किसी से न मिलें, इधर हमारे ससुरजी तीन रोज के बाद लौट कर चले जायेंगे।"

उसी रोज स्वामीजी से अनुमति मिल गई। जाड़े का महीना था। तीन बजे तीसरे पहर अपने साथ उन्हें स्वामीजी के पास ले गया।

कमरे में पलंग के ऊपर स्वामीजी आसीन थे और जमीन पर दरी बिछी हुई थी। बाहर जूता उतारकर सब लोग जमीन पर बैठ गये। सबका परिचय कराया गया। दोभाषिये का काम करना पड़ा। इधर उधर की थोड़ी बातें हो जाने के बाद प्रोफेसर साहब ने इच्छा प्रगट की कि कुछ *Miracle* देखना चाहते हैं।

स्वामीजी की दाहिनी ओर की एक खिड़की में से धूप स्वामीजी के बिस्तर पर पड़ रही थी। स्वामीजी ने एक सज्जन से एक पन्ना सफेद कागज मँगा कर बिस्तर पर धूप में बिछा देने को कहा। कागज बिछाया गया। तीनों अंग्रेजों से एक एक रूमाल उसी सफेद कागज पर रख देने को कहा। तीनों रूमाल कागज पर रख दिये गये। अंग्रेज लोग आंखें फाड़ फाड़ कर पलंग के बिलकुल पास आकर बैठ गये।

स्वामीजी ने हमारा चश्मा मांग लिया। कागज और रूमाल स्वामीजी ने छूए तक नहीं। धूप में चश्मे से रूमाल के ऊपर फोकस किया। एक मिनट न बीता होगा कि तीनों रूमाल इतर की खुशबू से भर गये। तीनों साहबों को उनके रूमाल लौटाये गये और मुझको मेरा चश्मा मिला।

इसके बाद प्रोफेसर साहब ने कुछ धार्मिक बातें पूछना चाहा तो स्वामीजी ने हँस कर कहा मैं तो पण्डित नहीं हूँ, वह उनसे पूछो सब जवाब मिल जायगा। ठीक इतने ही में एक सज्जन कमरे के अन्दर आये और स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया। उस समय मैं उनको पहचानता न था। बाद को मालूम हुआ—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी थे।

उसी समय मुझको चला आना पड़ा और बाद की घटना मुझे मालूम नहीं।

सात

भीख मांगने के लिए आई हुई थी। उमर पचास से नीचे न होगी। क्षुधा की ज्वाला में जो दिन रात पीड़ित रहता है, उसी हिसाब का स्वास्थ भी था। जो चिथड़ा पहने हुए थी वह लज्जा निवारण के लिए भी पर्याप्त न था। यह होते हुए भी चेहरे में एक मातृत्व का भाव मालूम हुआ। पूछने पर बताया उसका अब कोई नहीं है, था सब कुछ। जाति में चमार है। मैंने उनसे कहा "अस्पताल में काम करोगी। "मिले कोई काम हमारे लायक तो जरूर करूँगी"। दस रुपया तनख्वाह, दोनों टाइम भोजन, उपयुक्त कपड़ा, एप्रन देने का वचन दिया और रहने के लिए—छुतहा वार्ड का ड्यूटी रूम।

काम करना शुरू किया। लेडी डाक्टर के सुपुर्द कर दिया—दाई की तालीम देने के लिए।

उनकी मेधा शक्ति देखकर सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। थर्मामिटर लगाना, चार्ट बनाना, एनिमा देना, असेप्टिक हर बात को बड़ी ही सुन्दरता से पालन करना और करीब करीब चौबीसों घंटा ड्यूटी

पर हाजिर रहना, अस्पताल के सब सेवकों के लिए अनुकरणीय हो गया।

एक रोज देखा गया कि छुतहा वार्ड के बरामदे में एक दस बारह वर्ष के लड़के को मरणासन्न अवस्था में कोई रात को ही छोड़ कर चला गया। लड़का बिलकुल नंगा था और माता की कृपा हुई थी। (Small pox) शरीर में एक तिनका रखने की जगह नहीं थी जहां उठा न हो। आंखें मुँदी हुई थीं और बदबू के मारे शरीर के सामने खड़ा रहना भी कष्टदायक था।

बड़ी ही समस्या में पड़ गया। छुतहा वार्ड में कोई खाली चारपाई नहीं थी। सारा वार्ड तपेदिक के मरीजों से भरा हुआ था। और रोगियों के कमरे में रख नहीं सकता था। उसके ऊपर ऐसे रोगी की सेवा करने के लिए कोई तैयार न था। अजाना बच्चा अभी जिन्दा भी था। समस्या बड़ी ही जटिल मालूम हुई।

इतने में "सेवा मां" प्रातःकृत्य करके वहां आई। उस भिखारिन बुढ़िया का सेवा का प्राण देखते हुए "सेवा मां" नाम रखा था। "सेवा मां" ने सब सुन लिया, उसके बाद बिना पूछे झट से लड़के को गोद में ले लिया और अपने कमरे में ले जाकर अपनी चारपाई पर लिटा दिया। हम लोग आश्चर्य चकित रह गये। "सेवा मां" ने कहा, "डाक्टर साहब, हमको अस्पताल की ड्यूटी से कुछ रोज के लिए छुट्टी दे दीजिये, मैं इनकी सेवा करूँगी।" "सेवा मां, तुझे छुट्टी कैसी! यही तुम्हारी ड्यूटी पड़ गई।" दस दिन के बाद मालूम हुआ कि लड़का बच गया परन्तु अन्धा हो गया।

"सेवा मां" पानी छानने के लिए परेशान हो उठी। अस्पताल में अनुमति नहीं दे सकता था। गंगाजी के घाट में जाकर पूजा की। कुछ खरचा देना चाहा, लेने को सम्मत न हुई।

अब लड़के से पूँछने से मालूम हुआ कि यह ब्राह्मण का लड़का है। जब करीब ६ या ७ वर्ष की उम्र थी तब इसकी माता मर गई थी। पुजारी ब्राह्मण थे पिताजी। पेट चलाना बड़ी ही कठिन समस्या थी। फिर भी पिता ने दूसरी शादी कर ली थी। ठीक भी था—घर कौन देखे। सौतेली मां ने शुरू से ही इस बच्चे के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करना शुरू किया कि पिताजी भी ऊब गये। कुछ दिन के बाद गांव के रास्ते से संन्यासियों का एक दल गुजर रहा था। रात भर के लिए ये लोग गांव में रह गये थे। "पिताजी से क्या बातचीत हुई मालूम नहीं। पिताजी ने हमको बड़े बाबाजी के चरणों में सौंप दिया। हम भी बड़े आनन्द के साथ चले आये। काम प्रायः कुछ भी न था खाने को पेट भर भोजन मिल जाता था। कोई मुझको मारता भी न था। करीब रोज ही चलना पड़ता था। नाम भी मेरा बदल गया। कुम्भ से लौटते समय मैं बीमार पड़ा। बाद को मुझे कुछ भी याद नहीं है—मैं यहां कहां हूँ, ये माताजी कौन हैं और मैं देख क्यों नहीं सकता? क्या मैं अन्धा हो गया हूँ? मुझे बाबाजी के यहां पहुँचा दो। तू लोग के गोड़ लागी बाबाजी के यहां पौंछा देव।" वह रोना सबको विकल कर देता था। "मुझे घर न भेजो नहीं तो मैं मर जाऊँगा।" किसी तरह भी कौन पिताजी हैं, कहां घर है? यह नहीं बताया। बहुत दौड़धूप कराई परन्तु बाबाजी लोगों का कोई पता न चला।

एक बहुत बड़ी समस्या में पड़ गया। अस्पताल के कुछ ब्राह्मण लोग अब आगे बढ़े—ब्राह्मण के लड़के को चमारिन ने पानी पिलाया, दाना खिलाया। प्रायश्चित्त करना पड़ेगा और चमारिन को वहाँ से हट जाना चाहिये। ठीक है, लेकिन लड़के की सेवा कौन करेगा, अस्पताल से छोड़ देने के बाद इस अन्धे कड़के का क्या होगा ? इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। लड़के ने भी ये सब बातें सुन लीं। उसको भी सब मालूम हो गया। इन सब समस्याओं का कोई हल नहीं दिखाई पड़ता था। रातको कुछ परिचित मुसलमान मेरे पास आये। अन्धे लड़के को हम लोगों को दे दीजिये—कल्मा पढ़ाकर मसजिद के इमाम के पास रख देंगे—जनम भर पड़ा रहेगा।

दो रोजके बाद, अस्पताल पहुँचते ही रिपोर्ट मिली कि लड़का और "सेवा माँ" जाने के लिए तैयार बैठे हैं—खाली आपका आसरा है। देखा "सेवा माँ" बैठी है और उनसे लपटा हुआ कन्धे पर सिर रख कर लड़का रोता हुआ कहता है "माँजी, हमको मत छोड़ो"।

क्या समझाऊँ। दोनों बड़े आनन्द से चले गये। कहाँ गये-मालूम नहीं। परन्तु दोनों के चेहरे पर जो स्वर्गीय आभा थी आज भी उसे भूल नहीं सका।

माँ को खोकर माँ को पाया

गोपाल

[गतांक से आगे]

माँ
मत्त भोग में हुआ, भूलकर
तुमको, जग में आकर
सुख के लिए मोह निद्रा में
माया में लिपटा कर
सहसा पा आघात खुली जब
आंखें, रात अँधेरी !
दीप बुझे हैं, अन्धकार है,
कहाँ मातु हो मेरी !
जीवन नौका के पाल हमारी,
जीर्ण शीर्ण अब है बेकार
क्या न कृपाकर मुझ अनाथ पर
पकड़ोगी आकर पतवार
क्या न शरण में आने दोगी,
दोगी चरणों में न स्थान
भार न क्या तुम लोगी उसका
भाग्यहीन तेरी सन्तान।

दुर्गोत्सव के उपलक्ष में माँ राँची थीं।

चिट्ठी आई कि माँ ने बुलाया है।

मैं और मेरी छोटी पुत्री राधू गए।

राँची आश्रम में पहुँच कर माँ के सामने खड़े होते ही माँ ने कहा, "लो, पिताजी आ गए। जाओ पिताजी को वह मकान दिखा आओ। पिताजी वहीं ठहरेंगे। पिताजी के साथ वह सब बखेड़ा नहीं है। पिताजी सबको मिला लेना जानते हैं।"

मन में कुछ दुविधा हुई। बात ठीक से समझा नहीं। जो मुझे लेकर चले हम लोगों के रहने का स्थान दिखलाने, उनसे सुना कि पूजा में सम्मिलित होने वालों तथा माँ के दर्शनार्थियों की संख्या इतनी अधिक है कि आश्रम के आसपास के मुहल्ले वालों से अभ्यागतों को सर छिपाने की जगह देने की प्रार्थना की गई है। मुहल्ले के पड़ोसी इतने सज्जन और सहृदय हैं कि सभी २-४ मातृ-भक्तों को अपने अपने घर में टिकाने के लिए प्रसन्नतापूर्वक राजी हैं।

बातें करते करते हम लोग एक मकान के सामने पहुँचे। पूजा-मण्डप से दो फर्लाङ्ग के इधर ही। मकान नया था। मानो चित्रपट पर खींचा हुआ चित्र हो। भवन-निर्माता की प्रशंसा मन ही मन किये बिना रहा नहीं गया।

हमारी आवाज पाकर, दो बच्चों को लिये एक अल्प वयस्क महिला बाहर आईं।

"ये डाक्टर साहब और उनकी पुत्री आप के अतिथि होंगे।"

"आइए, आप को कमरा दिखला दूं।"

सोचा भी नहीं था कि इतने आराम से रह सकूँगा।

सिर्फ मकान ही चित्र जैसा नहीं था। उसकी सजावट भी बड़े ऊँचे दर्जे के कलाकार का काम था।

इतने में बड़े लड़के ने, कोई चार वर्ष का होगा, पैर फैलाए खड़े हुए, कमर पर हाथ रखकर पूछा, "दादू, तुम कहाँ से आ रहे हो?"

"काशी से, दादू"

"इतने दिन क्यों नहीं आए? अब तो रहना पड़ेगा। जाने ही नहीं दूंगा।"

इस अपरिचित शिशु की ऐसी आंतरिक अभ्यर्थना के लिए प्रस्तुत नहीं था। बालगोपाल ने जैसे क्षणमात्र में अपना लिया। राधू ने बक्स खोलना छोड़कर दौड़ी आकर गोद में उठाकर उसका चुम्बन करके पूछा।

"तुम्हारा क्या नाम है भाई?"

"मेरा नाम रुन्नू है। तुम मेरी कौन हो?"

"राधू मौसी।"

"कैसा मजा है! माँ, जानती हो, ये मेरी राधू मौसी हैं?"

परिचित अपरिचित की सारी बाधा कुहासे की भांति मिट गई। ऐसा जान पड़ा कि ये लोग हमारे न जाने कितने पुराने परिचित, न जाने कितने अपने हैं।

खैर, सामान वगैरह रखकर राधू स्नान करने गई। मैं चारों ओर की शोभा देखने लगा।

"आप चाय तो पीयेंगे? पर हम लोग ईसाई हैं।"

इतनी देर बाद माँ के कथन की द्विविधा स्पष्ट हुई।

"हाँ, बेटी पीऊँगा। पर मैं चाय में चीनी नहीं ीता। चीनी मत डालना। और सुनो, मैं हिन्दू घर जन्मा तो जरूर हूँ पर हिन्दूधर्म क्या है, यह नहीं जानता। जानने का प्रयत्न नहीं किया हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु धर्म चीज ही ऐसी गड़बड़ घोटाला मालूम पड़ी कि धर्म के नाम से ही दूर रहना अच्छा समझा। अच्छा हूं। तुम मेरी बेटी हो। मुझे बाबूजी पुकारना। मेरे लड़के-लड़की मुझे बाबूजी ही पुकारते हैं।

"बेटी के हाथ का बाप नहीं खाता कभी सुना है? हाँ, बुड्ढा हो गया हूँ न; दांत तो हैं नहीं, इसलिए निरामिष भोजन करता हूँ।"

दो दिन बाद ही राधू को शीत ज्वर सा हुआ। कैसी सेवा की! सुना कि राधू हाल ही में मातृहीन हुई है।

"बाबूजी, तुम्हें राधू की जरा भी चिन्ता नहीं करनी होगी। तुम अपनी माँ के पास जाओ। राधू मेरे पास रहेगी।"

राधू के कारण संध्योपरान्त ही आश्रम से आता था। और नहीं तो अकेला रहना ही अच्छा लगता था। लज्जा के साथ स्वीकार करता हूँ कि जिस दुर्गादेवी की पूजा का इतना बड़ा उत्सव था, उस दुर्गा की प्रतिमा के दर्शन का कौतूहल या इच्छा जरा भी नहीं हुई और गया भी नहीं।

"बाबूजी टुनटुन दीदी मां आनन्दमयी के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहती हैं।"

टुनटुन वहीं बैठी थी।

"हां बाबूजी, बतलाओ न मेरी जानने की बड़ी इच्छा है।"

यह तो जैसे छोटी मछली से पूछना हुआ "क्यों री तूँ तो जल में रहती है, बतला सकती है वारीशा—समुद्र—कैसा है?"

खैर, मां की चर्चा करना किस संतान को अच्छा नहीं लगता ? कहता था। यह वैसा ही था जैसा आकाश के तारे देखकर अनन्त असीम सृष्टिरहस्य को ससीम करके समझाने की चेष्टा हो। फिर भी कहता था।

विजया के दिन सवेरे।

“बाबूजी, मेरी बड़ी इच्छा होती है आनन्दमयी माँ को प्रणाम करने की। किन्तु जाने में बड़ा भय लगता है। सुना है, छुआछूत का वहां बड़ा भारी जंजाल है। मैं तो ईसाई हूँ, कहां क्या छू लूँगी, कहां किसे छूत लग जायगी, न जानती हूँ न समझती। इसीलिए जाने का साहस नहीं होता। अनजान में कहां क्या अपराध कर बैठूँ। कहो तो बाबूजी, क्या करूँ ? जरा दूर से ही मां को प्रणाम करने के लिए मेरा मन आकुल-व्याकुल हो रहा है।”

प्रश्न का उत्तर देना मेरी शक्ति के बाहर था। कारण छूत-धर्म का कानून मेरे लिए सदा से रहस्यमय पहेली रहा है। मेरी बुद्धि का अगम्य। मानवता की पूजा का इतना विरोधी है यह धर्म कि इसे धर्म के नाम पर आभिजात्य का अभिशाप ही मैंने समझा है और समझता हूँ।

फिर भी क्या किया जाय ? कुछ तो करना ही पड़ेगा। मेरी मां को कोई प्रणाम करना चाहे और न कर सके इसकी कल्पना से ही हृदय में मरोड़ उठता था।

सहसा मां की एक बात याद आ गई—“पिताजी, इस शरीर को यदि कोई अन्तर से पुकारे तो, जैसे टॉर्च का प्रकाश करके लोग देखते हैं, वैसे ही अंतर का भाव देखा जाता है।” समस्या का समाधान हो गया।

“बेटी, टुनटुन, एक काम कर सकोगी ? आज यहीं से एकांत मन से मां से कहती रह, मां मैं तुम्हें प्रणाम करना चाहती हूँ, मेरा प्रणाम लो।”

“इससे हो जायगा बाबूजी ? तुम जरा मेरी ओर से कहोगे नहीं ?”

“मैं तो कहूँगा ही नहीं। मां तो तेरी भी मां हैं, मेरी भी मां हैं, सभी की मां हैं। मां से सब कुछ कहने, सब समझाने का अधिकार केवल मां और संतान का है। वकील द्वारा पेश क्यों कराती है ? अपने अधिकार के बल पर दावा कर।”

टुनटुन कमरे में जा बैठी। घर के सब लोगों को, पति, पुत्र, नौकर सबको समझा दिया कि कोई शोर गुल न करे। बिना बुलाए कोई टुनटुन के पास न जा सकेगा।

शाम को एक मोटर आकर खड़ी हुई मां ने बुलाया है, अभी। गया।

“मां, मालूम पड़ता है आज और कोई नहीं है ?”

प्रणाम कर रहा था कि गले में दो मालाएँ पड़ीं। “दो मालाएँ ?” “हां, एक तुम्हारी और एक तुम्हारेअर्धाङ्ग की। तुम जो नहीं देख पाते हो उसका क्या अस्तित्व नहीं है ?”

लौट आया।

टुनटुन ने एक जोड़ा धोती देकर मुझे प्रणाम किया।

सब लोग चुपचाप बैठे रहे, प्रायः संध्या हो रही थी।

बाहर मोटर की आवाज लगी। राधू जंगले

से झाँक कर वाहर देखते ही नाचते हुए वाहर भागी। "मां आई हैं, मां आई हैं।"

जाकर देखता हूँ मां।

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे। सर्वस्यार्तिहरे देवि, नारायणि नमोस्तु ते॥

"माता यह लड़की टुनटुन है। ईसाई तो है पर तुम्हें प्रणाम करना चाहती है।"

"तभी तो यह छोटी लड़की अपनी मां के पास आई है।"

कहते कहते ही मां ने टुनटुन को हृदय से कस कर जकड़ लिया।

हम लोग हतवाक्, स्तम्भित हो गए।

और टुनटुन—
नेत्रों के जल में हृदय वहा आ रहा है, और वस
"मां" "मां"।
इसके वाद फिर क्या ?
इसके वाद फिर नहीं है।
टार्च का प्रकाश टुनटुन के हृदय पर पड़ा था !
धर्म क्या केवल आवरण है ?
मां की तुलना केवल मां हैं।

"सव में हरि हैं, हरि में सव हैं,
हरि अपनो जिन जान—"

मां,

वेदना दिया यदि,
देना शक्ति सहने की भी
चक्षु हों सजल यदि,
रखना करुण कृपा दृष्टि
स्मृति-व्यथा करती विदग्ध
रखना उसको जीवित
उस होमानल में दूँगा आहुति
प्राण, तुम्हारे चरणों में।
शोक वह्नि से दीप जलाकर
होगा तेरा नीराजन
स्व-सर्वस्व होमकर,
भस्म मांग कर लूँगा।
अभय दायिनी
तुम हो दक्षिण
तुम आनन्दमयी
वराभय
अव पहचाना।

॥ ॐ माँ ॥

संयम सप्ताह नई देहली

में

मातृ-सत्संग

श्रीरघुनाथदास गोस्वामी (ब्रह्मचारी कान्तिभाई)

—ः प्रस्तावना ः—

इस वर्ष संयम सप्ताह श्री श्री माँ आनन्दमयी आश्रम चन्द्रालोक नई दिल्ली में, परमपूजनीया श्री श्री माँ की उपस्थिति में, दिनाङ्क २२ नवम्बर १९५७ से २८ नवम्बर १९५७ तक मनाया गया। उस समय सत्संग में श्री श्री माँ के मुख से जो परम मधुर कथा सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ उसी को मैं यहाँ लिपिवद्ध करने की चेष्टा कर रहा हूँ। यथासंभव माँ के ही शब्दों को दुहराने की मैंने चेष्टा की है। किन्तु मैं दावा नहीं कर सकता कि माँ के मुख से निःसृत प्रत्येक शब्द मैं लिख सका हूँ। जिस प्रकार गंगाजी के पुनीत प्रवाह में से लोग निज शक्त्यनुसार जल ले जाते हैं उसी प्रकार मैं माँ के कथारूपी गंगा-प्रवाह में से जो कुछ संग्रह कर सका हूँ उसे ही यहाँ अंकित कर रहा हूँ। अतः त्रुटियों एवं अन्य भूलों के लिए श्री श्री माँ के चरणों में क्षमा-याचना करता हूँ।

२२-११-५७ ई०—

प्रश्न—सेवा करने से क्या होता है ?

माँ—सेवा होना माने भगवान का प्रकाश होना।

प्रश्न—जिनकी सेवा करें वे यदि प्रकाश न हों तो ?

माँ—सेवा करते करते भगवत्-प्रकाश हुए विना रहेगा नहीं। भगवत्-कृपा से ही सेवा होती है।

प्रश्न—कृपा पहले होती है या सेवा पहले ?

माँ—कृपा विना सेवा कैसे होगी ? क्या गलत कहा पिताजी ?

पं० सुन्दरलाल—हाँ ठीक है। आगे वोलो।

माँ—यह छोटी बच्ची तो कभी कथा नहीं कहती और कभी भाषण भी नहीं देती। सिर्फ अपने (इन सब) माता-पिता से बातें करती है।

प्रश्न—सेठ विरलाजी ने कहा है कि भूल है जीव की और जो अच्छाई है वह भगवान की।

माँ—दोष अपना मानना अच्छा है। इससे भगवान की ओर आने का रास्ता खुल जाता है।

प्रश्न—अपने आप को कैसे पहचानें ?

माँ—अपने गुरु ने जैसा उपदेश दिया हो वैसे चलो।

प्रश्न—गुरु आप ही हैं।

माँ—अपने से अपने अलग कैसे हैं। तुम भगवान से प्रार्थना करो कि हे भगवान तुम जैसा चलाओ वैसा चलेंगे हमारे हाथ की कोई वात नहीं। मैं भगवान के हाथ का यंत्र हूँ, इस ख्याल से चलने से भगवान को पाने का रास्ता खुल जायगा। उनके हाथ का यंत्र हूँ ऐसा भाव रखकर चलने से बनते बनते बन जायगा। यह सच्ची बात है, पक्की बात है।

प्रश्न—ऊपर के कहने से काम चलेगा क्या ?

माँ—ऊपर अन्दर जब तक एक न हो जाय तब तक ऊपर से ही करना पड़ता है। जिस स्तर पर व्यक्ति रहता है वहीं से चलना पड़ता है। जब अन्दर वाहर एक हो जायगा तब प्रकाश होगा। ऐसे ऊपर 'हरे राम' करते करते अन्दर से स्फुरणा होती है। कभी ऐसा भी होता है कि वाहर से कुछ नहीं कहा, किन्तु अन्दर से हो जाता है। आज ही विष्णुपुराण की कथा में एक वात आई थी कि कार्तिकी पूर्णिमा को भगवान को दीपदान करने से विष्णुलोक की प्राप्ति होती है। एक दिन, उसी कार्तिकी पूर्णिमा के दिन, एक चूहा—घी के जलते हुए एक दीप की ओर—घी खाने की इच्छा से आया। दीप घृत के शेष होने से बुझने वाला ही था—चूहे ने ज्योंही मुँह लगाया कि दैवयोग से दीप में जो थोड़ा सा घृत रह गया था वह चूहे के मुँह में लगने से मुँह जल उठा इससे उसकी मृत्यु हो गई और उसे दीपदान का फल भी मिल गया। परिणामस्वरूप उसे विष्णुलोक की प्राप्ति हो गई। क्रियाशक्ति का कैसा फल होता है देखा न। एकमात्र भगवान ही सर्वत्र हैं। 'यत्र यत्र नेत्र हरे तत्र तत्र श्रीकृष्ण स्फुरे' वह होता है, केवल सिर्फ भावना की देरी है। किस ढंग से किसका रास्ता खुल जावगा, यह समझना कठिन है।

प्रश्न—यदि हम मौन हो जायँ तो महात्मा लोग विना पूछे वता देंगे ?

माँ—यह शरीर कभी कभी कहता है कि वृक्ष के नीचे बैठना है। वृक्ष का स्वभाव क्या है उसके नीचे बैठने वालों को छाया देना, शान्ति देना और फल देना। फल देने का भाव है अपने को दे देना। वैसे ही महात्माओं के चरणों में बैठने से महात्मा लोग शान्ति देते हैं और अपने को दे देते हैं। अपने को देने का मतलब है आत्म-ज्ञान देना।

२३-११-५६ ई०—

प्रश्न—गुरुग्रन्थसाहव में लिखा है—राजा रामचन्द्र, जो दशरथ के पुत्र थे, राम हैं या दूसरे जिन्हें हम ब्रह्म और भगवान मानते हैं ?

माँ—ग्रन्थसाहव में साफ नहीं किया है क्या ?

प्रश्न—कहा है, लेकिन मेरी समझ में आया नहीं।

माँ—क्या वताया है दशरथ-नन्दन राम ब्रह्म हैं या नहीं ? यह हरि वावा से पूछ लो। (यहाँ एक भाई हरि वावा से पूछने के लिए गये।)

प्रश्न—जो महामन्त्र है (हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे) उसमें जो रामशव्द आया है। वह दशरथनन्दन राम के लिए है या दूसरे कोई राम हैं। जो प्रश्न हरि वावा से पूछने गये थे, उन्होंने जो वताया वह यह है—हरि वावा ने कहा "राम भगवान हैं। वह निर्गुण भी हैं और सगुण भी हैं। निर्गुण में सव कुछ है। दशरथ-नन्दन भी राम ही हैं। ग्रन्थ साहव ने रामजी को निर्गुण और सगुण दोनों वताया है।

मां—किसी के मुख से सुना है, क्योंकि यह वच्ची कुछ पढ़ी लिखी है नहीं, सुनी हुई वात कह रही

है। सुना है कि महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने महामन्त्र में जो 'हरे राम हरे राम' पहले था उसके स्थान पर 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' पहले रख लिया। महामन्त्र महाप्रभु से भी पहले का है। भगवान को जिस लक्ष्य से भी कहें वही ठीक है, चाहे निर्गुण हो चाहे सगुण हो।

प्रश्न—महाप्रभु ने मन्त्र क्यों उलट दिया ?

मां—तुम्हारे लिए महाप्रभु ने नाम-प्रचार किया। इससे लोगों का कल्याण होगा, ऐसा समझ कर मन्त्र बदला होगा। मन्त्र बदलने की हर एक में शक्ति नहीं होती।

प्रश्न—मन्त्र बदलने की आवश्यकता ही क्या थी ?

मां—उन्होंने जो कुछ भी किया है वह सब जीवों के कल्याण के लिए।

प्रश्न—महामन्त्र में जो राम हैं वह दशरथ-नन्दन राम हैं क्या ?

मां—बड़ी सुन्दर बात है। यह पूछने की आवश्यकता ही नहीं है। वह जो हैं वह अपने आप प्रकट हो जायँगे। गुरु ही निर्णय कर देंगे। खुद नाम ही स्वरूप-प्रकाश कर देगा। नाम जपते जपते अपने आप प्रकट हो जायगा कि जल बर्फ का जैसा नित्य सम्बन्ध है, वैसे ही सारा प्रकाशित हो जाता है। नाम करना और नाम होना दो बातें हैं। नाम हो जाने से प्रश्न उठता ही नहीं। निर्गुण कहो या सगुण कहो वह तो एक ही है। तत्त्वप्रकाश के लिए नाम जपो। क्रिया करने से फल पाओगे।

पं० सुन्दरलाल—पन्नालाल सब समझता है, केवल तुमसे बुलाने के लिए बोलता है।

मां—अपनी कथा है न, सुनने से रस मिलता है। जब बच्चा खेलता है तब पिता माता को अच्छा लगता है। बच्चे में कौन है? अपने आप ही अपने में आनन्द लेते हैं। पं० जी गलत हो तो कहियेगा। हमको बोलना नहीं आता। छोटी बच्ची के ऊपर सबका प्रेम होता है। मैं सबकी गुड़िया हूँ।

पं० सुन्दरलाल—सब लोग आपके संयमसप्ताह में आये हैं। आपके सामने बैठे हैं। इसकी कर्ता धर्ता आप ही हैं।

मां—हाय हाय! यह बच्ची तो कुछ जानती नहीं। हां, हां "आप" ही हैं।

पं० सुन्दरलाल—इस समय बहस न करें। आप इस समय बतावें कि इन लोगों को कैसे रहना चाहिये। आप ज्यादा शक्ति उन लोगों को दे दें। जरा अपनी शक्ति लोगों को दे दें तो सबको लाभ हो जाय।

प्र०—क्या शक्ति मां नहीं दे रही हैं।

पं० सुन्दरलाल—हमको तो अनुभव नहीं हो रहा है। मैं तो साधन के लिए कह रहा हूँ।

मां—तुम्हारे लिए पं० जी कह रहे हैं। एकमात्र भगवान ही हैं। भगवत्प्रकाश के लिए संयम जरूर मदद करता है।

पं० सुन्दरलाल—इस संयमसप्ताह में तुम न आओ तो देखें यहाँ कौन रहता है। (सब लोग यह बात सुनकर हँस पड़े)।

प्रश्न—भगवान् को नहीं मानने वाले भी यहाँ आते हैं।

मां—तो फिर यहाँ क्यों आते हैं ?

प्रश्न—यहां का रंग देखने के लिए आते हैं।

मां—बड़ी बढ़िया बात है चारों तरफ कैसा रंग

जमा है, वह देखने के लिए आते हैं। और आकर देखते हैं कि यहां सत्संग है और महात्मा लोग हैं। रंग देखने के उपलक्ष्य से भगवत्संग करने आते हैं। रंग क्या है ? रंग माने भगवान् का रगं। अपने को अच्छा न लगता तो कभी नहीं आते। रगं के रूप में, ढंग के रूप में भगवान ही तो हैं। भगवान की कैसी दया है! देखो, रगं देखने के वहाने से कैसे अपनी तरफ खींच लेते हैं। यत्र यत्र हरे नेत्र है तत्र तत्र श्रीकृष्ण स्फुरण है। सव नाम और रूप अरूप भगवान के ही हैं। भगवान का असली जो रस है उस रस के देखने के लिए आते हैं। चाहे किसी वहाने से आवें। सर्वनाम और सर्वरूप अरूप भगवान् के ही हैं। भगवान के अलावा और कुछ है ही नहीं। खाना-पीना, सिनेमा देखना, विषय भोग—इससे मृत्यु गति होती है। ऋषि मुनि लोग संयम का आदर्श रख गये हैं। तुम लोग मृत्यु के यात्री का संग करोगे तो मृत्यु पाओगे। जव लड़का वीमार होता है तब मां का खाना नहीं होता। अवश्य इसमें मोह है। जो खाने से, जो पीने से और जो ध्यान करने से अपने को पहचान सके वह करना चाहिये। अपने को पहचानना माने भगवान् को पाना और भगवान् को पाना माने अपने को पहचानना है। पूर्ण समाधान के प्रकाश के लिए संयम की आवश्यकता है। साधन-भजन करते करते मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, आत्मा क्या है—यह सव प्रकाश हो जायगा। इसलिए संयमी जीवन के लिए अखण्ड भाव से कोशिश करो। जितना करोगे उतना फल मिलेगा। भगवान फल-दाता हैं।

२४-११-५७ ई०

प्रश्न—तुम्हारी कुटिया का चक्कर लगाया। तुम मिली नहीं ?

माँ—वड़ी सुन्दर वात कही, तुम मजेदार पंडित हो। तुम्ही दूर रूप में लम्वे चौड़े हो, निकट भी तुम्ही हो। चक्कर लगाने वाले भी तुम्ही हो। जहाँ कृष्ण, शिव, राम, माँ—माने मैं ही है। वही एकमात्र है, अलग नहीं है। तुम चक्कर रूप में प्रकट होकर चक्कर लगाते रहे। दूर रूप में भी तुम्ही हो, मन वाक्य के अतीत भी तुम्ही हो, जो कहो वही है। महात्मा के चरणों के तल में वैठना। द्वन्द्वातीत रूप में प्रकाश करने के लिए द्वैत या अद्वैत रूप में जो कुछ भी गुरु ने वताया वैसा चलो। तरह तरह की वातें होती हैं। जितनी जितनी वातें होती हैं और कुछ नहीं हैं सव अपने को पाने के लिए हैं। देखो न हरि वावा कितनी सुन्दर भक्तों की कथा सुनाते हैं। भिन्न भिन्न महात्मा भिन्न तरीके से वोलते हैं। सुनते सुनते कोई वात दिल में चुभ जाती है। चुभने की जगह है इससे वहाँ चुभती है। इससे कल्याण का रास्ता खुलता है।

प्रश्न—हम लोग सत्संग कैसे करें, वच्चे लोग वैठने नहीं देते ?

माँ—तुम ख्याल करो कि बच्चे लोग बाल-गोपाल के स्वरूप हैं। इस भाव से करो।

प्रश्न—हम तुम मिटेगा कभी ?

माँ—अवश्य मिटेगा। हम तुम रख कर भी हम तुम मिट जाता है। रहते हुए भी नहीं है और नहीं रहते हुए भी है।

प्रश्न—विना दो के मजा नहीं आता।

माँ—मजा जहाँ है वहां दो होना ही चाहिये। रस-भोग करने वाले भी तुम्ही हो। आत्मरस, वही अपना रस है।

प्रश्न—सुना है कि महाप्रभु ने किसी को नाम

दे दिया और किसी को स्पश कर दिया। प्रेम हो गया। हम महात्माओं की वातें सुनते हैं, लेकिन पत्थर जैसे हृदय में कुछ नहीं होता। अब तो उमर भी हो गई, यह क्या है?

मां—शरणानन्दजी ने इतना सुन्दर सुनाया फिर भी प्रश्न पूछते हो।

प्रश्न—चलता नहीं हैं क्या करें?

मां—चलता नहीं है यह वात मानूँगी नहीं। जो इतनी उमर में यहां आकर शीत में साधन-भजन कर रहा है वह कैसे तमाशा देखने वाला हो सकता है? जो भक्तिमार्ग में चलते हैं उनको हाय, हाय लगी रहती है। हाय हाय अभी तक मैं भगवान से मिला नहीं। हाय हाय! भगवत्सेवा भी हुई नहीं। अतृप्ति ही भक्त-लक्षण है। तृप्त होने पर तो आत्मस्थ हो गया। वेदान्त की लाइन में "मैं आत्मा हूँ" यह सदा ही रटना पड़ता है और भक्ति की लाइन में हर समय तड़पना पड़ता है, हाय हाय! मिल नहीं रहा है। यह तो भक्त के लक्षण की वात है।

प्रश्न—दुनियां में देखते हैं कि वैज्ञानिक नई नई चीजों की खोज करता है। जैसे वहुत खोज करके "टेलीफोन" वनाया और कष्ट के परिणाम में सारी दुनियां को लाभ मिल रहा है। वैसे ही कोई व्यक्ति भगवद्दर्शन करके सवको भगवद् दर्शन करा दे ऐसा हो सकता है या नहीं?

मां—ऐसा नहीं होता तो लोग महात्माओं के चरण में क्यों वैठते? वैज्ञानिक दुनियां के भोगों की खोज करते हैं। उनकी खोज से मृत्यु का निवारण नहीं हो सकता। उनकी खोज में है 'करो और भोगो'। वह 'मैं कौन हूँ,' "मेरा स्वरूप क्या है?" इन सव वातों की खोज नहीं है। असली चीज़ है—तुम कहाँ से आये, तुम्हारी सृष्टि कहां से हुई, विजली कहाँ से आई, प्रकृति के राज्य में कितने तरीके रहे? परन्तु भगवत्‌चिन्तन करके भक्त आविष्कार करते हैं कि जीव क्या है, जीव से परे कोई है या नहीं।

आजकल वैज्ञानिक लोगों ने टेलीफोन, मोटर, हवाई जहाज़ इत्यादि निकाले हैं। सुना है कि प्राचीन काल में पुष्पक विमान चलता था, अव हवाई जहाज़ हैं। जो था उसीका एक तरीका हो रहा है सारा सव में। तुममें सव है—और सव में सव है—माने भगवान् कहो, आत्मा कहो, जो कहो स्वयं भगवान् ही हैं। भगवान् अनन्त हैं—अन+अन्त। भगवान् कहते हैं—मूल स्थान में जाओ, जितना तुम करोगे पाओगे। एक व्यक्ति के पास इतना पैसा है, लेकिन भोग नहीं कर सकता। विजली है, फोन है, लेकिन व्यवहार नहीं कर सकता। दुनियां का सुख दो दिन का है। परमानन्द जहां मिले, वही असली रास्ता है।

प्रश्न—आपके पास जितना है दे दो।

मां—संयमित जीवन रहने से अन्तर की गांठ खुलती है। दुनियां के रास्ते से चलने से आवरण पड़ जाता है। जैसी क्रिया करोगे वैसा गुण होगा।

प्रश्न—जैसे दवा देने से रोगी अच्छा हो जाता है वैसे ही कोई आध्यात्मिक दवा दे दो।

मां—यह संयमित जीवनयापन जो कर रहे हो और अमृतवाणी भोजन कर रहे हो यही आध्यात्मिक औषधि है।

प्रश्न—मां, हम लोगों को अपना आनन्द बांट दीजिये। हम तो सुनने नहीं आते, देखने आते हैं।

मां—हर वक्त भगवान् की कृपा वरस रही है। अपना पात्र सीधा रक्खो, पात्र भर जायगा,

पात्र उल्टा रखोगे तो कृपा बह जायगी। पढ़ना क्या है, ब्रह्मविद्या ही पढ़ना है।

प्रश्न—आप योग्य मां हैं, पर हम बच्चे ठीक नहीं हैं।

मां—छोटा बच्चा, बेटा, पण्डित सब उन्हीं के तो बेटे हैं। एक बार तपन ने कहा था कि जैसे कोई डाक्टर किसी दवा का आविष्कार करता है तो उसके खाने से सबको लाभ होता है ऐसे ही कोई दवा मां दे दें जिससे सबका लाभ हो जाय तो दवा देने वाले ये महात्मा लोग बैठे हैं। महात्मा माने—सब मां—मां माने मैं। देनलेन मां का काम है। महात्मा प्रवचन देते हैं और क्रिया शक्ति माने मां। बेटा तुम हो लेकिन पढ़ना पड़ेगा। पढ़ना माने ब्रह्मविद्या की पढ़ाई।

२५-११-५७ ई०—

प्रश्न—पहले जमाने में लोग बड़ी बड़ी कठिन तपस्या करते थे, लेकिन आजकल बड़ा सहल हो गया है। महात्मा लोग कहते हैं केवल भगवत्-स्मृतिमात्र से हो जाता है।

मां—क्या कारण है।

प्रश्न—आप लोगों की कृपा से।

मां—शरणानन्द पिताजी ने सहल रास्ता बता दिया है। महात्माओं के दर्शन और आशीर्वाद से सब सहल हो जाता है। आंख से दर्शन मिलता है। जब तक अहङ्काररूपी बोझ सिर पर रहता है तब तक सिर झुकता नहीं है। कम से कम महात्माओं के चरणों में झुकने का अभ्यास तो पड़ रहा है।

प्रश्न—करना कुछ रहा नहीं। केवल अहैतुकी कृपा चाहिये।

मां—ऐसा रहे तो बहुत भाग्यवान् है। सच बात है। दर्शन और ग्रहण हो जाय तो अच्छा है।

प्रश्न—ग्रहण मुश्किल है, दर्शन सहज है।

मां—दर्शन माने ग्रहण। देना माने लेना। प्रणाम माने अहङ्काररूपी सिर पर बोझ जब तक रहता है तब तक सीधा रहता है। जितना दे दिया उतना ग्रहण हो गया। प्रणाम दो प्रकार का होता है एक तो पाउडर की डिब्बी से निकले पाउडर की तरह और एक जैसे कलसी उडेल दी। यदि ग्रन्थि खुल जाय तो सारा का सारा गिर जायगा। अर्पित होना माने अपने को समर्पण कर देना।

प्रश्न—ऐसे प्रणाम की क्या तरकीब है। प्रणाम का तत्त्व क्या है?

मां—कहते हैं कि दण्डवत् प्रणाम करो। ऐसा तो होता नहीं—जैसे प्रणाम किया और अपना सब कुछ गुरु के चरणों में अर्पण कर दिया। फिर अपना कुछ रहा ही नहीं। सुना है कहीं कहीं जब शिष्य गुरु को प्रणाम करता है तो गुरु उसका सिर पकड़ कर उठा देते हैं।

प्रश्न—क्या वह अपने आप नहीं उठ सकता?

मां—उन्होंने तो भार दे दिया। तन, मन, धन सब कुछ गुरु के चरणों में दे दिया। ऐसी विधि है कि गुरु सिर उठा देते हैं। यहाँ तो (अपना शरीर दिखाकर) गुरु-शिष्य की कोई बात ही नहीं है।

प्रश्न—प्रणाम कर लिया और उठ नहीं सकते, यह क्या बात है?

मां—अगर कहा जाय सिर "ऊर्द्ध्वमूलम् अधःशाखम्" मनुष्य का सिर मूल है तथा शरीर शाखा है। वृक्ष उल्टा है—सिर नीचे तथा शाखाएँ ऊपर।

वीज सारे अङ्ग अङ्ग में रह गया। शास्त्रों में क्या लिखा है यह तुम जानो। यह शरीर तो उट-पटाँग वोलता है। मूल में स्थूल न रहे तो स्थूल में कैसे प्रकाश होगा। गुरु को प्रणाम करने की विधि है। नमन माने नमित कर देता है—नमन माने "न+मन" अर्थात् मन का न रहना। यदि मन-रहित हो जाय अर्थात् मन का जो कुछ है वह अर्पित हो जाय तो अपना स्वरूप कौन है यह प्रकाशित हो जाय। वंगाली में एक भजन है, "एकटि नमस्कार प्रभु एकटि नमस्कार" यदि सचमुच सच्चा नमस्कार हो जाय कि जिसमें और कुछ रहे ही नहीं। सच कहते हैं कि यदि ऐसा नमस्कार हो जाय तो समाधि अपने आप हो जाय। मानने वाला मन ही जब न रहा तव फिर उठे कौन? नमस्कार करते करते, संयोग अगर रहे तो नमस्कार हो जाता है। किसी किसी को ध्यान करते समय सिर में दर्द होता है। क्यों? मन की ऊर्द्ध्व और निम्न गति में संघर्ष हो जाता है। पूरा ब्रह्मचर्य यदि हो तो मूल के साथ संयोग हो जाने से मन अपने आप समाहित हो जाता है। अहङ्कार रहने से ज्यादा नमस्कार कर नहीं सकता। अहङ्कार सताता है—जहां नमस्कार करने से दुःख द्वन्द्व मिट जाता है वहाँ नमस्कार करो वहीं वैठना और वहीं सोना। ध्यान जप नमस्कार करते करते अपने आप हो जाते हैं। तुम लोग कहते हो न पत्थर का विग्रह और धातु का विग्रह—लेकिन पत्थर कहने से शिव नहीं और शिव कहने से पत्थर नहीं—शालिग्राम कहो तो पत्थर नहीं, पत्थर कहो तो शालिग्राम नहीं। भगवान् के ही सव नाम हैं—नाम, अनाम, रूप, अरूप, सव वही हैं। शिला किसको कहते हो, हर एक रूप में भगवान् ही तो हैं। भगवद्बुद्धि से शिला में भगवान् दिखते हैं। हमारी विग्रह में या ठाकुर में तद्बुद्धि होनी चाहिये। वोध होने से तो बोध करने वाला रह गया। त्रिपुटी का नाश होना चाहिये। भगवान् को प्रत्यक्ष करना चाहिये। 'वोध' इससे भी आगे चले जाओ, सव रूप भगवान् के ही हैं। निराकार साकार एक ही है, जैसे जल और वर्फ। वर्फ में क्या है जल ही तो है। जव तक अखण्ड दर्शन, अखण्ड स्पर्श का प्रकाश नहीं होता तब तक द्वन्द्व रहता है। उससे पार चले जाओ। नमस्कार करते हैं द्वन्द्वातीत होने के लिए—इससे भी आगे चलो। भगवान् हैं या नहीं हैं—नहीं हैं या हैं—इससे भी आगे चलो। कोई कोई कहते हैं—भगवान् कहाँ हैं—दिखते तो नहीं हैं—कोई वहाँ सत्ता, असत्ता की बात आती नहीं। नमस्कार करते वक्त ऐसा भाव रखना चाहिये कि हमारा ठाकुर ही विश्व का ठाकुर है और विश्व के सव ठाकुरों में हमारे ठाकुर ही हैं। जैसे कि हमारे गुरु जगद्गुरु हैं तथा जगत् के गुरु हमारे गुरु हैं। विग्रह में तदात्मक भाव होना चाहिये। दुनियां का सुख दुःख रहने वाला नहीं है। नमस्कार करो। नमस्कार करके जो नहीं उठने की वात है यह भी तो एक स्थिति है। इससे आगे उठने न उठने का प्रश्न ही नहीं रहता। नमस्कार करते समय पहले सोचो जैसे साक्षात् भगवान् हमारे सामने खड़े हैं। पहले उनका दर्शन करो फिर भगवान् को लक्ष्य करके नमस्कार करते समय भगवान् के चरणकमलों से सिर तक दृष्टि ले जाओ। कोई कोई चरण से सिर तक दृष्टि ले जाते समय श्वास अन्दर खींचते तथा फिर सिर से चरण तक दृष्टि लाते समय श्वास वाहर निकालते और प्रणाम करते हैं। उस समय ऐसा ख्याल करो कि भगवान् का हाथ हमारे सिर पर रखा हुआ है। तुम लोग कहते हो न हाथ से Electricity पास होती है—जगत् की

दृष्टि से भी तुम जिनको गुरु या भगवान् मानते हो उनके अङ्ग अङ्ग में वह शक्ति विद्यमान है—उनके स्पर्शमात्र से वह शक्ति तुम्हारे भीतर आ जाती है। चरणदर्शन करते समय श्वास के साथ पूरा दर्शन कर लिया फिर भावना करो कि उनकी शक्ति अपने अन्दर आ रही है। सिर से चरण तक धीरे धीरे श्वास छोड़ते हुए अर्पित हो जाओ। ऐसे दर्शन से तुम पवित्र हो रहे हो, अब तुम्हारा चरण में पड़ने का अधिकार हुआ, दण्डवत् बन जाओ–तुम जो कहो, जो करो, वही है।

प्रश्न—तुमने भी तो करके दिखाया है।

मां—इस बच्ची का तो दिमाग़ खराब है—इसके बाद भक्ति-भावपूर्वक पूजा शुरू होती है। नमस्कार करना तथा नमस्कार होना दोनों अलग अलग बातें हैं। जैसे संन्यास लेना और संन्यास होना फ़र्क़ बात है। संन्यास लेते हैं संन्यास होने के लिए। वैसे ही नमस्कार करते हैं नमस्कार होने के लिए। प्रणाम माने दण्डवत् नमस्कार करके पूर्णशक्ति उनसे ले लो। पिताजी, तुम तो पण्डित हो—देखो इस बच्ची को लज्जा नहीं है। अपने पिता, माता और दोस्तों के साथ बोलती है। हरेक रूप में एकमात्र भगवान् का ही विग्रह है। परिवर्तन अपरिवर्तन रूप में सब वही हैं। अपने स्वरूप का प्रकाश करने की चेष्टा करनी चाहिये। ब्रह्मविद्या का पढ़ना ही पढ़ना है। पढ़ना माने गुरुशक्ति से शिष्य के अन्दर जो क्रिया होती है वही पढ़ना है।

२९-११-५७ ई०—

प्रश्न—आज स्वामी शरणानन्दजी के व्याख्यान में सुना कि पढ़े लिखे लोग छोटी सी बात को बहुत लम्बी करके दो घण्टे में कहते हैं और अनपढ़ लोग २ घण्टे की बात को २ मिनिट में कह देते हैं।

माँ—यह शरीर तो बैठता है, पर सब बातें सुनने में नहीं आती हैं। यह बच्ची तो पढ़ी लिखी नहीं है। कथाप्रसंग में माँ ने कहा आज सुबह ध्यान में, ८ से ९ बजे के बीच में, किसी किसी ने कहा कि आज ध्यान बहुत जमा था। कई व्यक्तियों को ध्यान में विशेष आनन्द का भी अनुभव हुआ। उस समय इस शरीर ने देखा यहां (नामब्रह्ममन्दिर के मध्य भाग में) पूज्य हरिबाबाजी की ओर मुख करके हनुमानजी, लम्बा चौड़ा शरीर और मुँह सफेद, खड़े हैं। दूसरी ओर एक पुरुष को देखा जिसके घुंघराले बाल तथा गौरवर्ण है, खड़ा है एवं किसी के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दे रहा है और टोपी पहने हुए एक ग्वाल (राखाल) बालक बैठा है। उसके बाद एक गौर वर्ण की बालिका को देखा। फिर देखा खेलता और हँसता हुआ एक बालक। पिताजी (श्रीहरिबाबाजी) से कहा कि आप राम-अर्च्चा करते हैं एक बार यहां भी हो जाय तो पिताजी ने कहा कि यहां महावीरजी को तो देखा है, लेकिन महावीरजी की तस्वीर कोई हौल में नहीं है। चन्दन से द्वादशाक्षर मंत्र लिखे हुए तुलसी-पत्र कमला को जड़वाने के लिए दिये थे। उस दूकान में उसने महावीरजी की यह तस्वीर देखी और उसके मन में ऐसी प्रेरणा हुई कि यह तस्वीर ले चलें। इस शरीर ने इस विषय में उससे कुछ कहा नहीं था। महावीरजी ऐसे अपने आप प्रकट हो गए। कमला के अन्दर भावरूप से प्रकट हो गए। और एक बात है तुलसीपत्र में लिखा हुआ द्वादशाक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का कीर्तन यहां से श्रीहरिबाबाजी ने शुरू किया।

प्रश्न—आपने जिस बालिका को देखा था उसका स्वरूप कैसा था?

मां—गौर वर्ण की बालिका, जैसी गांव की होती हैं। बड़ी खिली हुई।

प्रश्न—मां, आज मंगल का दिन है।

मां—मंगलवार को हनुमानजी प्रकट हो गए हैं।

प्रश्न—तुम आश्रम बनाती हो।

मां—यह शरीर कभी आश्रम नहीं बनाता। यह बच्ची तो घुस जाती है। सुना कि यहां पर संयमव्रत होगा, यह शरीर २० ता० को आया है जैसे सब महात्मा लोग आए हैं वैसे ही यह शरीर भी आया।

प्रश्न—सुना है कि तुमने इस आश्रम का नक्शा बनवाया है।

मां—जब यह शरीर शिमला में गया था। शिमला में जब कीर्तन होता था तो इस को भी ले जाते थे। उन लोगों ने कहा, "मां, एक आश्रम होना चाहिए।" तो इस शरीर ने कहा आश्रम वाश्रम तुम जानो। भगवान् का घर बनाओ। इस बात को लगभग २० साल हो गए। आश्रम का अर्थ जहां श्रम न हो। असली आश्रम तो (सबको दिखाकर) सबके अन्दर में है।

प्रश्न—दण्डवत् प्रणाम स्त्रियों को करना चाहिये या नहीं?

मां—सुना है कि दीपक, शङ्ख, भागवत और स्त्रियों की छाती का भार पृथ्वी नहीं सहन कर सकती। दण्डवत् प्रणाम करना स्त्रियों को निषेध है। जब तक अहङ्कार है तब तक सिर झुकना नहीं चाहता। जैसे गंगा में घड़ा भरने जाते हैं तो आवाज होती है, जब घड़ा भर जाता है, तो पूर्ण रूप से भर जाने के बाद आवाज नहीं होती। नमस्कार करते करते पूर्ण रूप से उनके चरणों में अर्पित हो जाओ। नमस्कार करने का अर्थ है? जब हम सिर से प्रणाम करते हैं तो सिर से शक्ति ग्रहण होता है। जैसे वृक्ष की जड़ में पानी देने से सारा वृक्ष हरा भरा हो जाता है, वैसे ही सिर ऊर्ध्वमूल है सिर से शक्ति गृहीत होकर सारे शरीर में फैल जाती है। डाक्टर लोग कहते हैं कि सिर में कुछ हो जाय तो बचना मुश्किल है, लेकिन हाथ पैर कट भी जायँ तो बच सकता है। सिर को ठीक रखना चाहिये। सब लोग ख्याल करके देखो कुछ सोचने के समय लोग अपना सिर खुजलाने लगते हैं। इसका कारण क्या है—सिर मूल स्थान है उसमें नस नस की क्रिया होती है। यह भी स्थूल जगत की क्रिया है। जो लोग विषयभोग करते हैं। विषय तो जहर है। जो बंधन में है वह जीव है और जो गति है वह जगत् है। सर्वत्र एक आत्मा ही है। भगवान् को चाहे दुर्गा कहो, राम कहो, सत्ता कहो, आत्मा कहो, सब एक ही है। कोई भगवद्विग्रह को मानते हैं, कोई नहीं मानते हैं। इसलिए अनन्त रास्ते हैं। जितने मत उतने पथ हैं। जितने मुनि उतने मत हैं। सिर ही मूल है जहां समस्त वासना, कामना एवं क्रिया की सृष्टि होती है। दृष्टि से सृष्टि होती है। किसी किसी का ध्यान ठीक तरह से नहीं होने से दिमाग खराब हो जाता है या पागल हो जाता है। सिर में सब कुछ है। जैसे वृक्ष के मूल को काट दिया जाय तो सारे पत्ते झड़ पड़ते हैं वैसे ही मनुष्य के सिर को कुछ हो जाय तो शरीर नष्ट हो जाता है। (सबकी ओर इशारा करके) यह सब भगवान का विधि-विधान है। एक बीज में अनन्त बीज रहते हैं। आज मदनमोहन ने बताया कि महात्माओं के सांनिध्य में बैठकर सब कुछ प्राप्त हो रहा है। अर्पण कर दो कहने मात्र से अर्पण होता नहीं। करने

की सारी शक्ति मूल में रहती है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा में वीज रहता है। मूल में जो है स्थूल में भी वही है। इसलिए सारा विश्व भगवान् का ही विग्रह है। देखो छाया में क्या है—उसमें तो कुछ नहीं है। छाया, माया और आवागमन। छाया, माया और आवागमन से अतीत होना चाहिये। गुरु के निकट समर्पण कर देना चाहिये। अर्पण करने से स्थिति आती है। यह शरीर हमेशा कहता है कि वृक्ष के नीचे बैठो। वृक्ष के नीचे बैठने से वह छाया देता है, शान्ति देता है और फल भी देता है। फल देता अर्थात् अपने को दे देता है। वैसे ही महात्मा लोग भी उनके चरणों का आश्रय लेने वालों को शान्ति और अपने को दे देते हैं। पिताजी ने पूछा था न, सरल सीधा उपाय क्या है—कुछ गोली दे दो जिससे हो जाय। क्रिया शक्ति दे दी, परन्तु कुछ करना पड़ेगा। देने लेने की आदत है न, इसलिए तुममें क्रिया होती है। यदि तुममें यह आदत न रहती तो कुछ देना नहीं पड़ता। भगवान् के राज्य का कैसा सुन्दर विधान है कि उनसे उत्पन्न होकर—अमृत की सन्तान होकर—अपने स्वरूप को भूले बैठे हैं। साधन-भजन करना चाहिये। देखो तुम लोगों में कितनों की आराम कुर्सी में बैठकर आराम करने की आदत है, परन्तु यहाँ आसन में बैठकर कैसा संयम कर रहे हो। कुर्सी में बैठने वालों में किसी किसी को "टेबिल चेयर" में बैठकर खाने की आदत भी होगी, पर यहां सव लोग कष्ट उठाकर संयम में सम्मिलित हो रहे हैं। खाने का भी काफी संयम है। जैसा खाय अन्न वैसा बने मन। निद्रा, वैठना, बोलना, खाना—इन सबका संयम रखने की आदत रखनी चाहिये। जैसे डाक्टर का नाड़ी देखने का एक तरीका होता है या इंजिनियर के काम का एक तरीका होता है वैसे ही संयमव्रत का भी कोई तरीका है। मन शुद्ध होने के लिए परमार्थ ग्रहण कर सके, इसलिए अलग अलग क्रिया होती है। दुःख सुख के पार जाने की कोशिश करनी चाहिये। सब रूप भगवान् के ही हैं उनके चरणों में अपने को अर्पण कर दो। अपने आप ही अपने को अर्पण करता है। गुरुरूप में कौन है—एक आत्मा ही है। अलग कुछ है ही नहीं। नमस्कार करके पूर्ण शक्ति लेकर उठो—चरण से सिर तक और सिर से चरण तक। उनसे शक्ति पूर्ण भर कर बैठो। सुना है कि "देवो भूत्वा देवं यजेत्" गृहस्थाश्रम यदि ठीक तरह से बने तो अपने आप वानप्रस्थ हो जाता है और वानप्रस्थ यदि ठीक हो जाय तो संन्यास अपने आप आजाता है। सुना है कि सव स्त्रियों को प्रणव उच्चारण नहीं करना चाहिये। परन्तु गुरु यदि दे दे तो मना नहीं है।

प्रश्न—गार्गी ने तो प्रणव का उच्चारण किया था।

मां—ऐसी स्थिति अगर आ जाय और प्रणव अपने आप निकल जाय तो क्या करे। इस शरीर के भी मुख से प्रणव निकल गया था। यह शरीर दण्डवत् लोट पोट हो जाता था। निषेध की भी कौन स्थिति है यह देखना चाहिये। वहां विधि निषेध की कोई वात नहीं है।

कृपा और उपाय का मिलनः एक दृष्टि

महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी-लिट्०

(१)

आध्यात्मिक शास्त्रका अनुशीलन करने तथा भगवत्साधना में व्रती साधकों के अन्तर्जीवन का विश्लेषण करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भगवत्प्राप्ति अथवा आत्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध में कृपा का जैसा महत्त्वपूर्ण स्थान है वैसा ही साधन-सम्पत्ति अर्थात् विभिन्न उपायों के परिग्रह का भी एक मूल्यवान् स्थान है। साधना एक प्रकार की क्रिया है। यद्यपि वह विभिन्न स्तरों में विभिन्न प्रकार की हो सकती है, तथापि वह क्रिया से अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। जिन उपायों से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार होता है, उनमें विशेष अवस्था में क्रिया ने एक विशिष्ट स्थान पर अधिकार जमा रखा है। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि क्रिया के अतिरिक्त और भी उपाय हैं। आगमशास्त्र का अवलोडन करने पर भिन्न भिन्न उपायों का थोड़ा बहुत पता लगता है। किन्तु उन सब उपायों के तत्त्व, प्रयोजन और फल के विषय में विचार करने के पहले एवं उनके साथ भगवान् की कृपा का क्या सम्बन्ध है इस विषय में किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर पहुंचने के पहले कई साधारण बातें बतला देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

भगवान् साधन-दुर्लभ हैं, ऐसा कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि कृपानिरपेक्ष केवल साधना द्वारा यहां तक कि साधनातिरिक्त किसी अन्य उपाय के द्वारा भी उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। दूसरे पक्ष में वे नित्य, विभु और अखण्ड प्रकाश-स्वरूप होने से सर्वव्यापक हैं। इसलिए एक प्रकार से वे सदा सन्निहित—सभी के सन्निहित और सदा ही सन्निहित हैं। इस सन्निधान के सम्बन्ध में योग्यता आदि अधिकारसम्पत्ति की कोई सार्थकता नहीं है। क्योंकि वे सदाचारी के जैसे सन्निहित हैं दुराचारी के भी ठीक वैसे ही सन्निहित हैं, योग्य अधिकारी के समीप वे जैसे विद्यमान हैं अयोग्य अनधिकारी के समीप भी ठीक वैसे ही विद्यमान हैं। इसलिए देश, काल, सद्गुण, दोषहीनता आदि अपने में स्थित दैवी सम्पत्तियां मूल्यवान् एवं उपादेय होनेपर भी तबतक उन्हें पाने के लिए पर्याप्त नहीं होतीं जबतक कि इन सब के मूल में भगवान् की कृपा काम न करे। इसलिए किसी क्षेत्र में यह कृपा कार्य करती है और किसी क्षेत्र में यह नहीं होती, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो स्वाभाविक है, जो आगन्तुक बाहरी कारण की अपेक्षा नहीं रखता वह यदि प्रवृत्त होगा तो सब के प्रति समानरूप से ही प्रवृत्त होगा, यदि प्रवृत्त न होगा तो किसी के प्रति न होगा। इसलिए यदि इस कृपा को धारण करने का पात्र न रहे तो यह अहैतुकी कृपा भी उन्हें प्राप्त करने का उत्तम उपाय नहीं कही जा सकती। योग्यता और अधिकारसम्पत्ति न रहने पर भी कृपा को धारण करने वाला उपयोगी आधार रहना आवश्यक है। किन्तु वह सर्वत्र सुलभ नहीं है। इसलिए केवल कृपा रहने अथवा केवल पुरुषार्थ रहने

से भगवत्प्राप्ति के रहस्य का समाधान नहीं होता। इसका एकमात्र कारण कृपा अहैतुक होने पर भी यहाँ खण्ड कृपा के रूप में ही गृहीत हुई है एवं पुरुषार्थ आन्तरिक और प्रवल होने पर भी खण्ड पुरुषकार के रूप में ही गृहीत हुआ है। वस्तुतः अखण्ड दृष्टि में कृपा और पुरुषार्थ में किसी तरह के भेद का निर्देश नहीं किया जा सकता। एक ओर से जिसे कृपा कहा जाता है दूसरी ओर से देखा जाय तो उसी का दूसरा नाम पुरुषकार है। अखण्ड अद्वैत भूमि के सिवा अन्यत्र यह अद्वैत दृष्टि नहीं हो सकती। परमात्मा की ओर से शक्ति का विकास प्राप्त होने पर वह जीवात्मा में संलग्न और सञ्चित सम्पूर्ण मलिनताओं को दूर करने में समर्थ होता है। पक्षान्तर में जीवात्मा के हृदय के अन्दर स्थित पुरुष से शक्ति वाहर निकल कर अपने वल से दृष्टि का सम्पूर्ण आवरण हटाने में समर्थ होती है। जीव की ओर यह पुरुषार्थ है और परमात्मा की ओर यह कृपा है। यह शक्ति का काम है। आश्रय के भेद से भिन्न भिन्न नामों से वर्णित होने पर भी इनमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। इसी लिए श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने कहा है कि वे (भगवान्) जीवमात्र में पुरुषार्थ के रूप में विद्यमान हैं—'पौरुषं नृषु।' मनुष्य का जो पुरुषार्थ या तथाकथित आत्मवल है वह भी मूलतः परमात्मा का ही वल है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। उपनिषदों में कहा गया है, "नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः।" अर्थात् जो वलहीन है वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। यह फिर श्रुतिमुख से ही भगवान् ने कहा है कि परमात्मा जिसको अपनाते हैं एकमात्र वही उनको प्राप्त कर सकता है। दूसरे के लिए वे दुर्लभ हैं। यहां पर जो महाकृपा की वात कही गई है वह भी उस पूर्ववर्ती वल का ही नामान्तर है। भेददृष्टि यदि न रहे तो दोनों में पार्थक्य देखने का फिर कोई कारण शेष ही नहीं रहता।

(२)

आत्मा अथवा भगवान् स्वरूपतः एक ही हैं। व्रह्म, शिव आदि भिन्न भिन्न नामों के प्रचलित रहते भी इस परम वस्तु का स्वरूप और स्वभाव एक ही है। यह अखण्ड सत्ता तथा अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्नप्रकाश और पूर्ण स्वातन्त्र्यमय वोध स्वरूप है। यह स्वयंप्रकाश है, क्योंकि इसे प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। यह सर्वदा, सर्वत्र एवं सव अवस्थाओं में अपने को स्वयं प्रकाशित रखता है। क्योंकि स्वरूपतः इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही है नहीं। विश्व की सृष्टि के वाद अनन्त वैचित्र्यमय विश्व का आविर्भाव होने पर वह महा प्रकाश जैसे अपने को प्रकाशित करता है वैसे ही उस आविर्भूत विश्व को भी प्रकाशित करता है। अनन्त विचित्रतामय देश, काल, भाव, गुण, अवस्था और क्रिया के अनन्त भेदों का विश्वरूप में प्रकाश होता है, किन्तु सव प्रकाशों के मूल में रहता है वही एक महा प्रकाश। क्योंकि आत्मा के प्रकाश से ही अर्थात् एक के प्रकाश से ही यह अनन्त विचित्रतामय विश्व प्रकाशित होता है।

अव वात यह है कि अखण्ड अनन्त प्रकाशमय आत्मा स्वयं जव प्रकाशस्वरूप है तव उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य कोई उपाय समर्थ हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रकाश भी तो उसके प्रकाश से ही प्रकाशमान है। वह अपने प्रकाशक मूल

प्रकाश को कैसे प्रकाशित करेगा? इस सृष्टि के भीतर भिन्न भिन्न प्रकार की स्थिति रखने वाले असंख्य जीव विद्यमान हैं। यद्यपि परमात्मा से इनकी पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि ये सभी उनके स्वरूप से अभिन्न हैं, तथापि इन जीवों की ओर से विविध प्रकार के भेद और विचित्रताएँ स्वभावतः ही दिखाई देती हैं, क्योंकि आत्मा के स्वेच्छा से किये गये आत्मगोपन से ही सृष्टि का उदय होता है। जहां आत्मा अपने को अनावृत रूप में प्रकट करते हैं वहां तो अखण्ड प्रकाश के रूप में एकमात्र वे ही हैं। वहां विश्व या सृष्टि कहां है? किन्तु जहां वे लीला के व्याज से विश्व की सृष्टि करते हैं वहां सर्वप्रथम अपनी आत्मा के साथ अभिन्नरूप से अनन्त वैचित्र्यों को व्यक्त कर देते हैं। अर्थात् जो एक हैं वे एक रहकर भी नाना स्वांग धारण करते हैं एवं नाना स्वांग धारण करके भी एक के साथ अभिन्नता को अक्षुण्ण रखते हैं। विश्व तब आविर्भूत होकर परमात्मा के साथ अभिन्नरूप में प्रकट होता है। तब माया का खेल आरंभ न होने के कारण अनन्त विचित्रताओं के रहते भी भेद-ज्ञान नहीं होता। क्योंकि परमात्मा उस समय भी अपने को संकुचित नहीं करते, उस समय भी विश्व में स्थित अनन्त पदार्थों में प्रत्येक को वे 'अहम्' (मैं) रूप में देखते हैं। तब अहम् (मैं) के सिवा दूसरा कोई रहता ही नहीं। इसी को आदि सृष्टि कहते हैं। यहां काल का खेल नहीं रहता, इसलिए अतीत, भविष्य और वर्तमान रूप से कालगत कोई पृथक् व्यापार दिखाई नहीं देता। यहां देश का परिच्छेद नहीं है, इसलिए अनन्त देश, असीम विशालता के रहने पर भी एक ही जगह समस्त विश्व भासता है। दूरत्व अथवा व्यवधान का भान होता है सही, परन्तु दूरत्व नहीं रहता। देशगत और कालगत जो सब प्रतीतियाँ हम लोगों को होती हैं एवं आकारों की विचित्रताएँ जो हम लोग सृष्टि में देखते हैं वे सभी तब रहती हैं, पर वास्तव में कोई भी नहीं रहती। सभी रहती हैं, यह कहा गया, क्योंकि एक में अनन्त विचत्रताएँ प्रतिभासित हो रही हैं। फिर साथ ही साथ यह भी कहा गया कि कोई नहीं रहती। क्योंकि ये अनन्त विचित्रताएँ मूल में एक ही प्रकाशमात्र हैं।

यह आत्मस्वरूप अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल है। इसमें स्वरूप की अनुबन्धी के रूप से जो स्वातन्त्र्यरूपा महाशक्ति रहती है उसका असीम प्रभाव कार्य करता है। यह आत्मा शिवरूपी हैं एवं यह स्वातन्त्र्य उनकी अपनी शक्ति है। सूर्य और सूर्य की किरणों में जिस प्रकार भेद नहीं है, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति में जैसे भेद नहीं है, चन्द्रमा और चाँदनी में जैसे भेद नहीं है, वैसे ही शिव और शक्ति में भी कोई भेद नहीं है। किन्तु भेद न रहने पर भी एक प्रकार का वैचित्र्य है। यह शक्ति अविचिन्त्य महाशक्ति है। इससे अघटित घटनाएँ होती हैं, क्योंकि इसके निकट अघटन नाम की कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। यह अनिर्वचनीय, अचिन्त्य एवं असाध्यसाधनकारिणी शक्ति है। यही अवस्था विशेष में चित्शक्ति के रूप में, आनन्दशक्ति के रूप में, इच्छाशक्ति के रूप में, ज्ञानशक्ति के रूप में एवं सब के अन्त में क्रियाशक्ति के रूप में अपना विस्तार करती है। यह ज्ञानशक्ति माया के नाम से नीचे की भूमि में परिचित है। ये पांच शक्तियाँ वस्तुतः अनन्त शक्तियों की प्रतीक हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकारों से शक्तियों की गणना की जाती है

एवं विभिन्न प्रकार की शक्तियों के आधार से विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भी व्यक्त होती हैं, किन्तु इस स्थल पर यह विचार अनावश्यक है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि शिव और शक्ति अभिन्न हैं। अवश्य भेद और अभेद का प्रश्न ही न उठे ऐसी स्थिति भी है। फिर इस अभिन्नता के बीच में भिन्नता या भिन्नाभिन्नता दिखाई न पड़े ऐसा भी नहीं है। अर्थात् शक्ति शिव से भिन्न है ऐसी भी दृष्टि है एवं ऐसी दृष्टि भी है कि जिसमें शिव और शक्ति में जो भिन्नता स्वीकार की गई उसके साथ साथ अभिन्नता भी स्वीकार करनी पड़ती है। हम यहाँ पर अभेद दृष्टिकोण से ही विचार करेंगे। इस दृष्टि में शक्ति शिव से अभिन्न है, परन्तु अभिन्न होने पर भी यह अभिन्नता एक ओर शिव के साथ आत्यन्तिक अभिन्नता सूचित करती है एवं दूसरी ओर संकोच और प्रसार का खेल भी दिखलाती है। शिव कूटस्थ साक्षिस्वरूप हैं, किन्तु शक्ति शिव से अत्यन्त अभिन्न है—मूल में ठीक तद्रूप होकर भी दूसरी ओर संकोचशील एवं प्रसारणशील है। शक्ति के इस पहलू के साथ ही साधक का पहिले परिचय होता है। अखण्ड सत्ता में शिव का अंश और शक्ति का अंश दोनों ही हैं, क्योंकि वह स्वातन्त्र्यमय बोध है, स्वातन्त्र्यहीन बोध नहीं है। किन्तु दोनों के रहने पर भी शक्तिअंश उपायरूप और शिवअंश उपेय रूप से वर्णित हैं। शिव की यदि प्राप्ति करनी हो अथवा आत्मस्वरूप में यदि प्रतिष्ठित होना हो तो एकमात्र आत्मशक्ति ही उसके लिए उपाय है। शक्ति का आसरा लिये विना शिवरूप में स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। शिव ज्ञानस्वरूप हैं, उनकी शक्ति ज्ञानस्वरूपा है। शिव चिद्रूप हैं, उनकी शक्ति चिद्रूपा है। शिव आनन्दस्वरूप हैं, उनकी शक्ति ह्लादिनीरूपा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, तथापि आसरा लेना पड़ता है एकमात्र शक्ति का ही, क्योंकि शक्ति निरपेक्ष शिव होते हुए भी शवमात्र हैं, उनको स्वायत्त करने का कोई साधन नहीं है, न उनके नाम और रूप का ही कोई पता चलता है।

यद्यपि शिव और शक्ति दोनों ही ज्ञानस्वरूप हैं, तथापि दोनों में थोड़ा अन्तर है। अन्तर यही कि शिव उपायहीन ज्ञान या अनुपाय ज्ञान हैं। इसी का नाम अनुत्तर, अद्वय और अखण्ड ज्ञान है। इसमें स्पन्दन नहीं है एवं शक्ति का उल्लास भी नहीं है। निस्तरङ्ग परमशान्त महासमुद्र के अक्षुब्ध वक्षस्थल के समान यह शान्त चिदालोक से नित्य उज्ज्वल है। लौकिक दृष्टिकोण से शक्तिगत उपायस्वरूप ज्ञान के तीन क्रमिक विभागों की कल्पना की जा सकती है। उनमें से नीचे से देखने पर पहला प्राथमिक ज्ञान, दूसरा मध्यम ज्ञान एवं तीसरा परमज्ञान के नाम से वर्णनीय हैं। आत्मा की शक्ति के भेद से ये ज्ञान के भेद हैं। क्रियाशक्ति साकार भूमि में काम करती है अथवा यह निराकार महासत्ता में भिन्न भिन्न प्रयोजनों के अनुसार विभिन्न आकारों को सूचित करती है। इसलिए क्रियाशक्ति का आसरा लेकर परमेश्वर का जो ज्ञान होता है, वह इस निम्नस्तर का ज्ञान है। यह भी आत्मज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इस ज्ञान की सामर्थ्य मध्यम और परमज्ञान की अपेक्षा न्यून है। इसके जो अवान्तर भेद हैं उनका यहाँ विशेषरूप से विचार करना अभीष्ट नहीं है। इस आणव ज्ञान के ऊपर मध्यम श्रेणी का जो आत्मज्ञान

है वही शाक्तज्ञान है। यह भी आत्मा या परमेश्वर का ही ज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु यह पूर्ववर्ती ज्ञान से उत्कृष्ट है। पर इस उत्कर्ष की सीमा है। इसी लिए शाक्त ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी आत्मा को और भी अधिकतर निर्मल आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए शाम्भव ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। यही उत्कृष्टतम ज्ञान है। लौकिक दृष्टि से इससे उच्चतर ज्ञान और हो नहीं सकता। किन्तु यह भी अनुत्तर ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये सभी ज्ञान उपायस्वरूप हैं। उपेय भाव प्रत्येक में है सही, किन्तु उपायभाव भी रहता है। जो अनुत्तर स्वयंप्रकाश स्वरूपात्मक ज्ञान है उसी का नाम अनुत्तर ज्ञान है। वही आत्मा का स्वरूप है। वह एकमात्र उपेय है, वह अन्य किसी का उपाय नहीं होता।

(३)

निम्नस्तर के आत्मा को अपने शरीर में अहं प्रतीति होती है। अर्थात् यद्यपि आत्मा स्वरूपतः देह से पृथक् है फिर भी गाढ़ अज्ञानवश वह अपना देह से अपृथक् रूप में अनुभव करता है। तब देह के धर्म आत्मधर्म के रूप में प्रतीत होते हैं एवं विशेष अवस्थाओं में अनुकूल और प्रतिकूल मालूम पड़ते हैं। जीव इस अवस्था में यदि भगवत्कृपा प्राप्त कर ले तो ऐसी स्थिति में उसे अतिशीघ्र ही देहात्मबोध से छुटकारा पाने का मार्ग दिखलाई देता है। यह मार्ग देहाश्रित विभिन्न प्रकार की साधनाएं ही हैं। इनमें आसन, बन्ध, मुद्रा आदि विभिन्न अङ्ग विद्यमान हैं। ये सभी क्रियारूप साधनाएँ हैं। केवल यही नहीं, भिन्न क्रियारूपसाधना की स्थूलतम दिशाएँ हैं। ये साधनाएँ तथा इनसे उच्चतर साधनाएँ —दोनों ही क्रियारूप हैं। जिसका अभिमान प्राणस्तर में बँधा है उसकी क्रिया अलग है। अनात्मा में आत्मभिमान इन सब स्तरों की अज्ञानगत विशिष्टता है। अनात्मवस्तु स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो अथवा कारणात्मक हो ; अज्ञान की प्रकृति एक ही प्रकार की है। बुद्धि में अभिमान के बद्धमूल होने पर ध्यान आदि उपाय फलप्रद होते हैं। किन्तु व्यापक प्राणमय सत्ता में अज्ञान का अभिनिवेश रहने पर ध्यान अथवा समाधि से अनायास कार्य सिद्ध नहीं होता—उसके लिए उच्चार अर्थात् प्राणशक्ति का क्रमिक ऊपर की ओर संचालन विशेष रूप से सहायक होता है। प्राणशक्ति जागकर क्रमशः ऊपर की ओर उठती है। हृदय में प्राण का उदय होता है एवं उदित प्राण नये उगे हुए सूर्य के तुल्य ऊपर उठकर क्रमशः अस्त होता है। जहां से प्राण का उदय होता है और जहां उसका अस्त होता है उन दोनों के बीच का जो व्यवधान है वही उच्चारण का मार्ग है। हृदय से द्वादशान्त यानी ब्रह्मरन्ध्र तक जो छत्तीस अंगुल का ऊर्ध्व मार्ग विद्यमान है वही प्राण के संचार का क्षेत्र है। प्राण के जैसे उदय और अस्त होते हैं वैसे ही अपान के भी उदय और अस्त होते हैं। जहां प्राण का अस्त होता है वहीं से अपान का उदय होता है। अपान उदित होकर प्राण की विपरीत गति से चलते चलते अस्त हो जाता है। प्राण को यदि सूर्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो अपान को चन्द्रमा के रूप में स्वीकार करना होगा। इन प्राण और अपान की गति से ही सूर्य और चन्द्रमा की गति की प्रतीति होती है एवं ये दोनों गतियां अन्तर्जगत् के अहोरात्र की नियामिका हैं। प्राण-संक्रान्त उच्चारण के सम्बन्ध में बहुत कुछ वक्तव्य है। इस उच्चार की ऊँची क्रीड़ा नादरूप में प्रकट होती है। बुद्धिक्षेत्र

से जैसे ध्यानक्रिया का पता लगता है वैसे ही प्राण के क्षेत्र से इस नादात्मक उच्चारण का भी पता लगता है। प्राण बुद्धि की अपेक्षा संवित् अथवा चैतन्य का अधिकतर निकटवर्ती है। इसलिए ध्यान अथवा समाधि के क्षेत्र से क्रियाशील नाद का क्षेत्र उच्चतर है एवं आसन, मुद्रा आदि अथवा तथाकथित प्राणायाम के क्षेत्र से ध्यान-समाधि का क्षेत्र उत्कृष्ट है। किन्तु ये सभी क्रियारूपी उपाय अथवा साधना के अन्तर्गत जानने चाहिये। अनात्मा में आत्मबोधरूप अज्ञान स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप से प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहता है। प्राण के क्षेत्र का अतिक्रमण करने के बाद एक शून्य स्थान दिखाई देता है। वहां किसी भावात्मक सत्ता का आसरा लेकर अभिमान कार्य नहीं कर सकता। देह, इन्द्रिय आदि, बुद्धि तथा प्राण की यहीं तक ज्ञानपूर्वक क्रियात्मक साधना हो सकती है। क्योंकि ये सब क्षेत्र एक प्रकार से जाग्रत् और स्वप्न के अन्तर्गत हैं। सुषुप्ति का भी कुछ अंश इसमें रह सकता है। किन्तु गाढ़ सुषुप्ति अवस्था में क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि शून्य क्षेत्र में अभाव में साधना क्रिया का अनुष्ठान नहीं हो सकता। इन सब विभिन्न स्तरों की आत्माओं में योग्यता का तारतम्य अवश्य ही है, इसलिए साधना का भी तारतम्य स्वाभाविक है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक क्षेत्र में साधना के साथ कृपा का मेल रहता है। क्योंकि पहले कृपा का संचार हुए बिना साधना का श्रीगणेश ही नहीं होता। कृपा यदि तीव्र हो तो ऐसी किसी क्रिया की आवश्यकता ही नहीं होती। उपाय की आवश्यकता अवश्य ही रहती है, किन्तु क्रियात्मक उपाय का प्रयोजन नहीं रहता। अवश्य यह अति उच्चतर योगी की बात है। गुरु ज्ञानदाता हैं कर्मदाता नहीं हैं। किन्तु जहां आधार गाढ़ अन्धकार से ढका रहता है वहां ज्ञानदाता गुरु को भी कर्मोपदेश देना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि शिष्य में अनात्मा में आत्माभिमान अत्यन्त तीव्र होने के कारण अभिमान का आश्रय करके ही क्रिया करनी पड़ती है, जिससे यह गाढ़ आवरण हट जाता है एवं उसके भीतर छिपा हुआ गुरुप्रदत्त ज्ञान स्पष्ट रूप में व्यक्त हो उठता है। इसलिए साधक के निम्नस्तर में होने पर गुरु साक्षात् उसे ज्ञान नहीं दे सकते, दुर्बल आधार तीव्र ज्ञान के आघात को सहन नहीं कर सकता। ज्ञान यदि मृदु हो तो वह थोड़े से आवरण से ढका रहता है। उस आवरण को हटाने पर वह मृदुज्ञान प्रकट हो जाता है। मृदुज्ञान भी आत्मज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं एवं निम्न अधिकारी के लिए वही एकमात्र काम्य है। किन्तु इससे भी उत्कृष्टतर आत्मज्ञान है। उसके लिए तब प्रयत्न करना पड़ता है।

जिस साधक के देहादि अनात्मवस्तु में अभिमान अत्यन्त क्षीण हैं यहाँ तक कि एक प्रकार से नहीं के बराबर है। उसके लिए उस प्रकार के कर्मों के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसका ज्ञान पूर्वोक्त ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसे शाक्त ज्ञान कहा जाता है। पहले जो ज्ञान कहा गया है वह आणव ज्ञानमात्र है। यद्यपि दोनों ज्ञान आत्मज्ञान ही हैं तथापि दोनों में भेद है। आणव ज्ञान से अपनी जिस तरह से उपलब्धि की जाती है शाक्तज्ञान उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। प्रथम आत्मज्ञान में शक्ति का विकास नहीं रहता, किन्तु द्वितीय प्रकार के आत्मज्ञान में पूर्ण शक्ति का विकास रहता है। यह कैसे ? इसका विवरण क्रमशः देने की

चेष्टा करूँगा। किन्तु यह भी सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञान नहीं है। क्योंकि शक्ति का उदय और पूर्ण विकास शिवरूपी आत्मा के लिए स्वभावसिद्ध होने पर भी उसकी परावस्था है। तब वह शक्ति आत्मस्वरूप में प्रविष्ट होती है। शिवरूपी आत्मा अपनी उद्‌गीर्ण शक्ति को निगल कर एवं अपने साथ में उसे अभिन्नरूप से स्थापित कर समरसता को प्राप्त होते हैं एवं परमशिव दशा में पहुँचते हैं।

इस बात को थोड़ा और विशद करके कहता हूँ। आत्मा शिव है एवं आत्मा ही परम शिव भी है। शिव को ब्रह्मरूप मानने पर परमशिव परब्रह्म स्वरूप हैं। किन्तु कब ?— आत्मा विशुद्ध प्रकाशमय है, प्रकाश ही उसका स्वरूप है। इस महाप्रकाश में नित्य सम्मिलित रूप से महाशक्ति अन्तर्लीन रहती है। किन्तु उसे पृथक् रूप से पाने का कोई उपाय नहीं है। जब इस निराभास चैतन्य रूपी प्रकाश में अभिन्नरूप से अनन्त आभासों का उदय होता है तब समझना होगा कि स्वातन्त्र्यरूपा महाशक्ति में स्पन्दन हो रहा है। तब वह स्पन्दरूपा महाशक्ति-सोये हुए सर्प के तुल्य शक्तिकुण्डलिनी रूप में सोई रहती है। यह शक्तिकुण्डलिनी ही एक तरह से विश्व की बीजावस्था है। यह सृष्टि की अतीतावस्था है, यह कहना बेकार है। शिवरूपी बिन्दु इस शक्तिकुण्डलिनी को अपने में पूर्णतया अभिन्न रूप से धारण करते हैं। किन्तु जब इसमें क्षोभ होता है अथवा बहिर्मुखता का उन्मेष होता है तब यह बिन्दु विसर्ग का रूप धारण करता है। वह आभासमान विश्व तब विसर्जनीय होता है अर्थात् माता के गर्भ से उसमें स्थित संतान का जैसे निष्क्रमण और प्रसव होता है वैसे ही इस शक्तिकुण्डलिनी के गर्भ में स्थित विश्व विसर्गरूप धारण कर बिन्दु से मानो निकल पड़ता है। एक बिन्दु तब दो बिन्दुओं में परिणत हो जाता है, क्योंकि यह विसर्ग अवस्था है। इन दो बिन्दुओं के बीच में नित्य आकर्षण विकर्षण की क्रिया होती रहती है। इनमें प्रथम बिन्दु बहिर्मुखता के प्रथम उन्मेष के प्रारम्भ को सूचित करता है एवं द्वितीय बिन्दु प्रत्यावर्तन द्वारा अन्तर्मुखता के प्रारम्भ की सूचना देता है। निश्वास के बाद जैसे प्रश्वास तथा प्रश्वास के बाद जैसे निश्वास का आवर्तन होता है वह भी कई अंशों में वैसा ही है। प्रथम बिन्दु की सहभावी शक्ति का प्राणकुण्डलिनी के नाम से और द्वितीय बिन्दु की सहभावी शक्ति का पराकुण्डलिनी के नाम से वर्णन किया जाता है। प्राणकुण्डलिनी से बिन्दु की गति बहिर्मुखी होती है। इस बहिर्मुखी गति के अन्त में परा कुण्डलिनी से अन्तर्मुख गति की सूचना होती है, यह ज्ञातव्य है। अन्तर्मुख गति के अन्त में परस्पर इन दो विरुद्ध गतियों के साम्यभाव का उदय होता है। तब कुण्डलिनी की क्रिया समाप्त होती है एवं शक्ति के रूप में शक्ति की क्रिया भी निवृत्त होती है। क्योंकि शक्तिकुण्डलिनी तब पराकुण्डलिनी की अवस्था प्राप्त होकर परा संविद्‌रूप से शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त करती है। शिव तब परम शिव के नाम से पुकारे जाते हैं। यही शिवव्योम या परमब्रह्म अवस्था है। यही आत्मा का अखण्ड स्वरूप है।

पाश्चात्य दार्शनिक जैसे thesis, antithesis तथा Synthesis इस त्रिधारा में विश्वशक्ति के विसर्पण की व्याख्या करते हैं एवं हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने जैसे भाव से अभाव एवं अभाव

से स्वभाव में प्रत्यावर्तन का वर्णन किया है, शक्ति-कुण्डलिनी का भी उसी प्रकार प्राणकुण्डलिनी अवस्था प्राप्ति के बाद परा कुण्डलिनी अवस्था प्राप्ति समझनी चाहिये। यह अत्यन्त कठिन विषय है। इसका अधिक विश्लेषण आपाततः अनावश्यक है। शाक्त ज्ञान अर्थात् मध्यमं कोटि का आत्मज्ञान यदि समझना हो तो इस विषय को समझने की चेष्टा करना उचित है। इसके बाद ही शाम्भव ज्ञान के रूप में श्रेष्ठतम आत्मज्ञान का उदय होता है। इस अवस्था में शक्ति या आत्मस्वातन्त्र्य की कोई क्रिया अपेक्षित नहीं होती। पूर्ण सत्य अपने आप ही अपने में स्वयं रूप में अभिव्यक्त हो उठता है।

(क्रमशः)

माँ

(श्री प्रताप उपाध्याय)

दिल से एक आवाज निकलती
माँ तुझसे दूर है ही नहिं।
इधर उधर फिर भी दृग ढूँढ़त
प्रश्न बड़ा मन में ही वही ॥१॥
कौन मेरे नैनों के पीछे
होकर नैन का नैन खड़ा ?
जानत हूँ फिर भी तरसत हूँ,
और न है कोई सगड़ा ॥२॥
कौन कण्ठ में आकर मेरे
मंजुल गीत जगाता है ?
जानत फिर भी उनकी सुनने
जी मेरा झुँझलाता है ॥३॥
पल पल याद उठत प्राणों में,
याद कहाँ से आती है ?
जानत फिर फरियाद है मेरी
"याद बहुत सताती है" ॥४॥

The ONE who is the Eternal, the Atman,
He himself is the traveller on the path of Immortality,
He is all in all, He alone is.

MATRI VANI

(Replies to letters from different people at different times.)

114*

We should not allow our attention to wander at large, but stick to a particular aim or object. Nevertheless to begin with we shall have to choose an object that is suited to our *Sadhana*, To live in solitude means to be solely in the company of the One Beloved, does it not, father ? Only when one is unattached and without cares and worries can there be freedom from conflict and perplexity. Write to him that he has no cause whatever for worry. The Grace of the Lord flows down unceasingly and at all times. A person who has made God-realization the one and exclusive goal of his life, has already found refuge in Him—even though He may for the time being declare Himself by His absence.

115

When people talk about the vision of the Self (*Atma Darshan*) and Self-Realization, it is only from hearsay ; still it is necessary to find a way in order to gain first-hand experience of this state. Thus, what we have to do is to take to any path that will lead us to it.

---

* The Bengali original and its Hindi translation appeared in Ananda Varta, Vol. V, No. 3, p. 161.

You can see this for yourself—just think; there is air and without air our body cannot keep alive. Grasp this—does not the air pervade everything, plants, minerals, animals, in fact all creatures? You differentiate between the earth, water, fire, air, the sky and so forth, do you not? Viewing them each separately helps us to understand them. It is said that in essence there is Truth-Consciousness-Bliss (*Sachchidānanda*). Only when consciousness is rooted in truth can there be bliss. From our worldly point of view we everywhere perceive animate or inanimate things; but in reality He who is Truth, He who is consciousness permeates them all; only this cannot be realized by the average man. As soon as the mind understands the fact of His immanence, then just as when an image is to be worshipped, life has first of all to be instilled into it through *'Prana Pratishtha'*, so He becomes as it were active within us, at first through the vehicle of the breath, which is an expression of the life-force (Prāna). The word *within* has been used only because we think in terms of 'within' and 'without'. This is why we speak of 'I' and 'you', of God 'with form' (*Sakara*) and 'without form' (*Nirakara*). Be ever aware of the following: what is called life-breath is really an aspect of a universal, all-pervasive power that functions continuously. It is He in one of His forms; He who is Truth-Consciousness, reveals Himself in this mode. If with the help of a Mantra received from the Guru, we can remain concentrated on the breath, or even if at any time there be no Mantra, we simply keep on watching the movement of the breath, this will help to steady the mind and may also be an aid in our search of Him, who is the Life of our life, who is the Whole, the Eternal One. The vision of the Eternal Play (*lila*) of the Supreme Being whose essence in Consciousness and Bliss is impossible, unless one has seen His delight in His own universality and Self-sufficiency and finds this joy repeated within one in union with and as part of the Whole. Until the senses have been mastered and passion transcended how can we have a sense of identity with the Supreme Self.

The ever-moving breath changes its rhythm according to what we do, feel and think, with the precision of a clock's pendulum, which works without a break, although it may at times go fast or slow. With a similar constancy endeavour to concentrate on the breath; this will provide a check for the mind that will prevent it from wandering away to outer objects. Look, when a restless child is caught hold of, taken inside the house and given a toy, he will, for a short time at least, remain quiet and absorbed. In order to calm one's restlessness it is necessary to keep but one single end in view. Divine thoughts and aspirations (*Sadbhava*) are the essence of *Satsang ;* to the degree that we foster these the craving of the heart will be fulfilled and the mind stilled. With the help of your intelligence and individual capacity try to unite the mind with the breath. Do you know what is the essential thing ? To realize that the unbroken current of aspiration itself is a revelation of Him, who is the indivisible Whole.

MATAJI'S AMARA VANI

(24)*

Question : If God is not different from the world, why should so much stress be laid on maintaining the world ?

Mataji : No stress at all is laid on this ; whether the world exists or not, the question does not even arise.

The Questioner : Some hold the opinion that the vision of the Rishis and sages, who attained to the Brahman, was incomplete because they lost the world. They further contend that the world will remain as it is in name and form ; but this seems as impossible as for a stone cup to be described as golden.

Mataji : You of course are not in agreement with these opinions. Those who hold them have not attained to Oneness. They are speaking of the emancipation of the world that is different from them. It is by those who become aloof from the world that it is saved. Referring to the saving of the world someone said : "I am not familiar with the present condition of the world, I shall establish a new kingdom." The people who are in agreement with this are not acquainted with the home they already possess and yet talk of establishing a new one. They think the supreme God is inspiring them with this idea on the assumption that the world is "That" itself, nothing but That. By looking upon everything in the universe as the Brahman, it is transformed, this much may be admitted.

---

* The Bengali original and its Hindi translation appeared in Ananda Varta, Vol. V/3, page 201.

To say that the world ever remains what it is now, represents a worldly outlook ; what have I gained or lost by discussing the world ? There is no question of spiriting away the world by declaring that it is different from God and there is no question either of whether the world exists or not.

It is said that HE is in diversity as well as in Oneness—just like water and ice. Where water is called ice, that is to say, where space and form appear, there is HE as form ; why do you not grasp this ?

The form of vapour as such will certainly not take on the shape of water.

The Questioner : So far as the theory of evolution holds good, there is diversity as well as identity.

Someone else : Worldly knowledge is of the many and the knowledge of Reality (*Brahman Jnanam*) is of Oneness ; how can both exist together in the same place ?

The Questioner : The Oneness of Reality is not in contradiction to multiplicity. Generally speaking one can distinguish four planes :

(1) The world alone appears, in other words diversity—this is the plane of ignorance.

(2) At times the world or the many appear and at other times Oneness, which is Reality—this is the plane of *Nirvikalpa Samadhi* in Yoga.

(3) The world appears, reposing within the *Brahman*.

Mataji : Yet there is still "appearance" !

The Questioner : There is no world ! This is how it appears. When light removes darkness, how can darkness be still perceived ? The *Brahman* is everyone's fulfilment and nobody's obstacle. That which is life (*chaitanya*) is itself this and that object. But according to the doctrine under discussion there is form on the one hand and life on the other. However I should say, form and life are both THAT.

Mataji : You speak "within" that form ?

Questioner : I see the essence of form. It is my own son who acts the part of *Rāma.* If the knowledge of the world does not persist when the Brahman is realized, the liberated one is not perfect because he cannot live in the world : Fire and water are both the *Brahman*, consequently, he may drink fire instead of water.

According to some doctrines perfection has not been attained as long as *this* (the world) is perceived. There is a stage beyond it where there is no more duality and one becomes established on the plane of Oneness. This should be understood to represent the fourth of the four planes previously mentioned. (These planes are different from the seven planes spoken of in Yoga.)

I consider the third plane the highest—namely the play of duality rooted in Oneness. In other words on this plane there is oneness in duality and duality in oneness (*advaita*). He who is liberated (*Jivanmukta*) may nevertheless come out into the world playing a part and laughing, while his Realization remains perfectly intact. *'Sarvam Kalvidam Brahman'* (All this is *Brahman*), and *'Neti, neti* (not this, not this) are not contradictory in the least. On this plane the whole and the part are in Existence. But in the realm of duality, although flowers and leaves are different, they belong to the same tree ; this is why I will not acknowledge the difference of the part from the whole. Am I wrong when I understand it in this way ?

Mataji : Whatever is said is correct from the standpoint from which it is said. In *dhyāna* or *samadhi* there comes a stage where there is no possibility of perceiving a second besides the ONE. There the behaviour that arises out of duality cannot occur. What is referred to here is a plane of course where actions present what is as good as no action. Where is the place for action here ? When such a person is seen acting, someone may perhaps remark : "He has descended in order to do some particular work." When an M.A. reads the a b c, does he thereby lose his status as an M. A. ? Yet there is a state where nothing can possibly appear as a 'second'. When one has dived into the Ganges, one is bound to be wholly drenched.

Once established in the One, one does not wander from it anymore. However before one's status has ripened to perfect maturity, one has occasional lapses, but the status of Oneness is restored. At this stage there is a movement between two directions, yet it is a marvellous state, not one of ignorance. The next stage is '*bhava*' (spiritual ecstasy) ; one enters and leaves it alternately, becoming immersed and then as it were floating once more on the surface. Going still further, even this state passes and one becomes absolutely inert like a lifeless stone. If one has not arrived at this rock-like inertness notwithstanding that Oneness has been touched, one is still pulled in two opposite directions ; this is not a perfect albeit a supernormal state. It is like leaving a cool room and going out into the heat. Then comes perfection—the complete and definite submergence. When this has taken place, he who has achieved it still moves as you, the onlooker see him act, but he knows that actually he neither goes anywhere, nor eats, nor sees anything.

The Questioner : This sounds a contradiction in terms – he eats, yet does not eat, he goes, yet does not go—how can this be ?

Mataji : Once submerged one will have to be stabilized in that condition where the inner and the outer have fused into one. This body eats as you do, goes about the same as you do. If one feels a sense of contradiction then one's Realization is imperfect. There is no ground for contradiction. How can Oneness be limited ? This is why it was said that there is no question of eating or not eating and so on. However it is difficult to distinguish, even partially between who is asleep and who is in *samadhi* : Gold and brass look more or less alike—but when gold has been touched one becomes like it.

How can one who lives on the plane of the *Brahman* see petty differences, may be a possible question. Due to your limited vision you perceive incongruity. There is in fact no question of having 'realized' or being in ignorance. If someone calls himself a man of Realization, he thereby assumes a certain position. What should Self-Realization be like ? Complete and perfect in every respect. What you have been—why been ?—what you are in reality becomes revealed. From whatever line of approach or attitude of mind anyone may hold any view, everything is all right. You also say : without feet he walks, without eyes he sees. If limited by any place or specification, by any form or mode concerning anything, be it positive or negative, the Realization is not whole, not complete. What is expressed from any standpoint is seen from a particular view point, in a particular way, for it is within time and space. This body does not falsify matters, it speaks the exact truth. Everything is correct from the point of view from which it is said.

The Questioner : If, as you declare, everything is correct, then suppose someone wishing to have a *Darshan* of *Vishvanath* goes to a *Durga* temple and says : "This is Vishvanath." Is this also correct ?

Mataji : At a certain level one may rightly say : "Yes, this is Vishvanath," because at that moment, it will be Vishvanath. The Vishvanath now thought of in his mind will reveal itself exactly the same as the Vishvanath limited by time and space. But it may be said that in a temple of Durga Vishvanath is not there. The truth can be expressed in many words. Everything is contained in everything. All kinds of replies can be given.

The Questioner : If whatever anyone says is correct, why then did Sri Shankaracharya, who was a man of Realization (*Brahmajnan*), refute the arguments of his opponents ?

Mataji : Whatever has to be done anywhere will happen without fail. The top of the tree contains its root, because the seeds are everywhere present—there is no contradiction.

MATRI LILA

November—December 1957.

For years Mataji has had a very fine group of devotees in Delhi and New Delhi. Formerly, whenever she visited that town, Dr. J. K. Sen, a renowned physician of New Delhi, used to put up tents for Mataji's use in his garden and with generous hospitality entertained Her party in his own house. Several years ago he built for Her a small cottage adjoining his own house. In Mataji's absence Her room was used for Satsang and meditation and regularly once a week Kirtan was being performed there by some devotees who are excellent and ardent singers and players. In 1948 Mataji's birthday was celebrated in Dr. J. K. Sen's compound. It was a beautiful and memorable function inspite of the scorching heat of May. A large pandal had been erected in the garden for the occasion and it was generally packed throughout the long hours of Satsang. We remember several nights spent completely in Kirtan in the course of those celebrations. Once a heavy rainstorm played havoc with the roof of the tent; notwithstanding the enthusiastic Kirtan singers, humoured by Mataji, went on dancing and singing, although splashed with mud and drenched to the skin. The inclemency of the weather seemed to encourage them to do even better than usually.

However, to everyone's deep regret, Dr. J. K. Sen had a stroke in February 1952 and was since then bed-ridden, until he passed away a year or so later. On March 17th of that year Mataji came to Delhi and paid a visit to the ailing bhakta. On this occasion she remarked to another bhakta, whom for the sake of convenience we shall call "D." : "See, how ill the old man is. There is no knowing when he will breathe his last, and when he leaves this world, where will you carry on your Kirtan and Satsang ? Try to build at least a hut somewhere in New Delhi for this purpose." "Since 1946 I have been trying to build an Ashram here," replied D, "but all my efforts have failed."

At that moment Didi entered the room, "What have you tied into the end of your *dhoti*" ? questioned Mataji. "Rs. 101/," came the prompt reply, "which someone has just given me as a donation. I want to use it for the repairs of the ghat at Banaras." Mataji asked Didi to hand over the money to D., with the words: "Let this be the first contribution for the good work that you are going to embark on from to-day."

The next day Mataji left Delhi. D. at once began to look around for a suitable plot. After a thorough search he decided on *Chandraloka* beyond Kalkaji Colony and drew up a plan for a building. Mataji approved both of the site he had chosen and of D.'s design, and with funds that he had in the meantime collected, one acre of land was purchased. The land was comparatively cheap, as Chandraloka is situated about 10 miles from Connaught Place and some 15 minutes walk from the nearest bus stop. Moreover the last bit of the road was extremely bad and then hardly motorable. Yet Chandraloka has proved an ideal place for an Ashram, solitary and peaceful, at the foot of a low hill and far removed from the activities of the busy metropolis.

At a distance of perhaps half a mile there is an ancient Kali temple. The image of the goddess is supposed to date back for *Dwapara Juga*. The legend has it that it was installed by the Pandavas themselves. It is supposed to be a *Jagrat Murti* (a live focus for the power of the goddess Kali). The temple is a famous place of pilgrimage: twice every year, at *Navaratri, Vasanti Puja* ending with *Rama Navami* in spring and *Durga Puja* in autumn, it teems with the crowds that gather from all over North India and camp in the vicinity. It is for the sake of this image of Kali that the colony has been named "*Kalkaji*" (short for "*Kalikaji.*") *Kalkaji* has recently become fairly self-sufficient with various shops, Primary and High Schools and a large Degree College for boys and girls.

On August 18th, 1953 the foundation stone of the Ashram was laid in Mataji's presence and the construction begun without delay. The main building was to consist of a large circular hall with four rooms adjoining it on four sides. However funds were not too plentiful and so to begin with three rooms, out of which two were for Mataji and Sri Hari Babaji, were erected whereas the hall progressed merely up to plinth level. Two separate structures for kitchens and bathrooms were also completed, when on Aug. 26th, 1954 the opening ceremony took place in the presence of Mataji and Sri Hari Babaji. Henceforth D. began to live in the Ashram taking upon himself hardships, undreamt of by the inhabitants of New Delhi. Neither water nor electricity had been laid on and all commodities had to be procured from a considerable distance. But D. was undaunted and held out faithfully until his perseverance was crowned with full success during the recent Samyam Vrata, which was held at the Ashram from November 22nd–28th 1957.

Mataji paid several short visits to the Ashram at varying intervals and Kirtan has been performed there regularly once weekly since its inauguration. Besides that a *Nama Yajna* was celebrated once every year in Mataji's presence. It took place for the first time on November 7th, 1954. In 1955 Mataji halted at Chandraloka in April on Her way to Solan and again in July on Her return journey. On July 26th a rather strange thing happened.

Mataji was resting in Her room in the early afternoon, when Her attendant heard Her say: "Water, water!" Thinking that Mataji was perhaps feeling thirsty, the girl brought a glass of water, at which Mataji shook Her head, saying: "No, no, there is water all round." The girl could not understand what Mataji was referring to.

That day a lady had come from New Delhi with her two small children, who went to play near the water tank and fell into it. They came back to their mother drenched to the skin and dripping with water. Shocked at their sight, she inquired what had happened. They related that they had both fallen into the open tank in the course of their play and that they found a beautiful lady swimming in the water, the same lady who had given them garlands in the morning (namely Mataji). The lady had caught hold of them and dragged them out of the tank, thus saving them from drowning. At the same time Mataji was lying on her couch exclaiming: "Water, water." Three days later Mataji left for Vrindaban.

In November 1955 the fifth *Samyam Vrata* was observed at the Kali Bari, New Delhi. As soon as the function was over Mataji moved to Chandraloka for a few days. Again in December Mataji came to the Ashram by plane from Hoshiarpur. That winter Sri Haribabaji's health was not satisfactory and Mataji and he stayed at the New Delhi Ashram for several weeks in Jaunary 1956, while he recouped from his illness. During the Samyam Vrata at *Kali Bari* and again the next year at a similar function held at the *Saptarshi Ashram* at Hardwar, Sri S. N. Aga and Mrs. Aga asked for permission to arrange for the next function of this kind. Their request was granted and since Mr. Aga had become the chief of the Railway Security Police in Delhi, it was decided that the *Samyam Vrata* should be held in a camp on the premises of the Chandraloka Ashram.

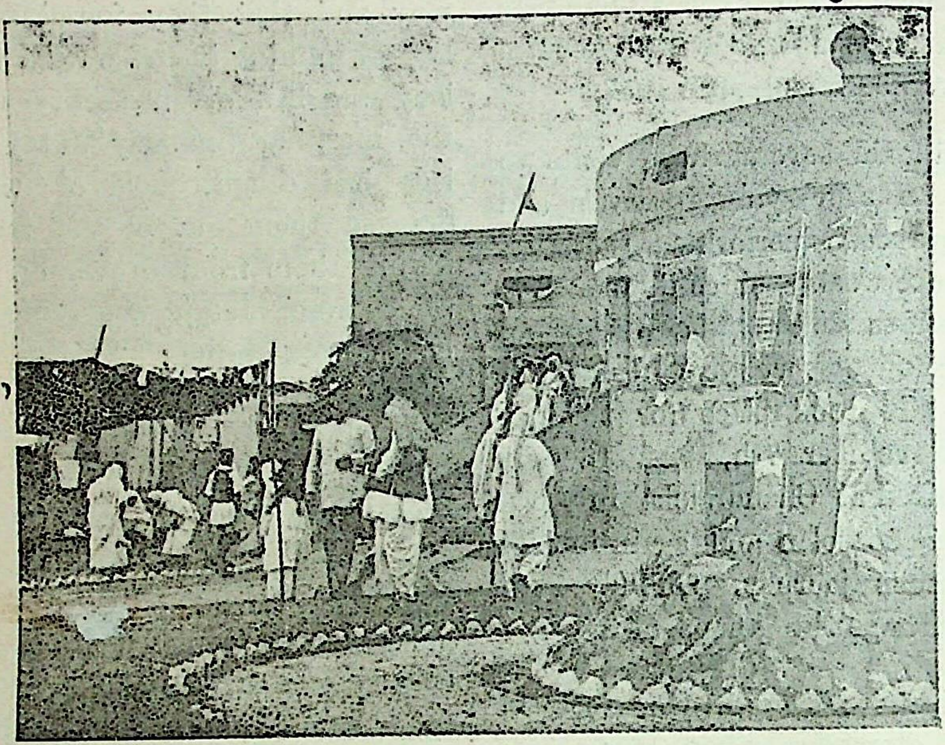

The front view of the Delhi Ashram.

In the middle of September 1957 Swami Paramananda went to Delhi to assist with the preparations. He and D. with the help of other bhaktas achieved the remarkable feat of arranging for the construction of a most beautiful circular hall as well as several rooms and a wall round the whole of the compound in less than two months. In the meanwhile Mr. Aga made elaborate arrangements for the camp. Truck loads of tents and all other necessities were procured, electricity was installed in the Ashram and when we arrived on Nov. 21st, we could scarcely believe our eyes, when we beheld a large imposing building, surrounded by a city of white tents, glittering brightly in the winter sun. The office was housed in a tent near the gate, with a phone at everyone's disposal. Police staff pitched the tents, received the arriving guests, carried their luggage, filled and cleaned the lamps, in fact did hundred and one odd jobs that were necessary for the smooth running of the function and for the comfort of the participants, last not least guarding the camp by day and by night. Mataji arrived on November 20th, two days before the *Samyam Vrata* began. She was here and there and everywhere, inspecting every branch of the preparations that were in full swing to the very last moment, giving useful suggestions and encouraging everyone.

The Seventh *Samyam Vrata* was one of the most wonderful and harmonious gatherings we have ever experienced. Indeed, there were so many requests that the *Samyam Vrata* should be observed twice yearly instead of once only, that the next gathering of this kind is to take place in April 1958.* Sri J. K. Birla came and requested Mataji and the Sangha to be permitted to arrange for that function at *Swargashram*, Rishikesh. His offer has been gladly and gratefully accepted and we are eagerly looking forward to the meeting in such a beautiful place, on the banks of the Ganges.

About 200 people, old and young, had flocked from far and near and with a very few exceptions everyone lived in tents, as there was no other accommodation available. But the open air life in the midst of nature proved most helpful and congenial to what we were attempting. It gave us a feeling of freedom and exuberance : civilization does not help concentration and the fewer our needs the happier we feel. With all that we were really quite comfortable in spite of the cold weather.

Tents for the participants in Samyam Saptaha.

The inhabitants of New and old Delhi came in large number by cars and busy to attend the Satsang and for Mataji's Darshan. Amongst them were many high officials, several ministers and other well-known personage such as Sri Birla and Sri Dalmia. They came not only once out of curiosity. Some of them showed a lively interest and continued their visits after the *Samyam Vrata*, when it became possible to see Mataji more informally, surrounded as she was then by a smaller group of devotees. A number of Europeans and Americans also were attracted and some of them had private talks with Mataji.

---

*We have just been informed that for various reasons the function will take place only next November after all.

Mataji at Delhi Ashram.

Mataji was in great form throughout. While we had recently become accustomed to seeing Her only at fixed Darshan hours, twice or three times daily during Her sojourns in Dehradun, Varanasi and Vindhyachal, we were most agreeably surprised to find Mataji attending the Satsang morning, afternoon and evening during the *Samyam Vrata*; besides that she used to be about and see people in between and till late at night in Her own room as well. In the last issue of Ananda-Varta we wrote about Mataji's ill-health and we felt doubtful whether she had completely recovered. But in Delhi she showed no fatigue; she was as she had always been before Her recent indisposition.

On several former occasions we have already reported in detail about the purpose, the programme and the restricted diet of the *Samyam Vrata*. The *Samyam Vrata* represents a concerted effort at concentrated *sadhana* and *Satsang* to the exclusion of everything else for a week. It is no exaggeration to declare that, we cannot imagine that even a single one of the participants should have failed to find the gathering a very difinite and lasting help. One can notice a distinct progress from one *Vrata* to the next. During that special week everyone seems at his or her best and this becomes less and less of a strain and more and more of a deep joy. One has to abstain from smoking, drinking tea and coffee, chewing betel leaves, etc. etc., but this is made unexpectedly easy in the atmosphere that prevails. This time the diet was appreciably more restricted than on former occasions. Everyone began the week by a complete fast on Ganges water for the first 36 hours. For the rest of the week there was at mid-day just one dish for everyone alike either rice boiled with vegetables and dal or wheat porridge boiled in milk and so on. For the 2nd class milk was served in the evening. The last day was another fast on Ganges water for 36 hours for the 1st class only.

The most cherished hours were as always the daily silent meditations in Mataji's presence from 8—9 a. m. and 3—4 p. m, and the '*Matri Satsang*' at the close of each day, when Mataji replied to questions for half an hour or more. Some of these discussions will be published in the Hindi Section of this magazine. As usual Mahatmas and Pandits delivered discourses on the meaning and value of *Samyam Vrata*, on the lives of saints and sages and on other instructive and enlightening subjects; besides the programme included Kirtan, chanting of the Vedas and other sacred Scriptures. On the last day of the *Vrata* the new hall was given its name: *Nama Brahman Mandir*" during a simple ceremony. The *Samyam Vrata* ended with a collective "*Mahanisha dhyan*" (midnight meditation) on November 28th. After the meditation someone asked Mataji what was the advantage of meditating at that odd hour. Mataji explained that there were certain times especially favourable to meditation, namely the so-called "*Sandhi-Kshanas*."-when night

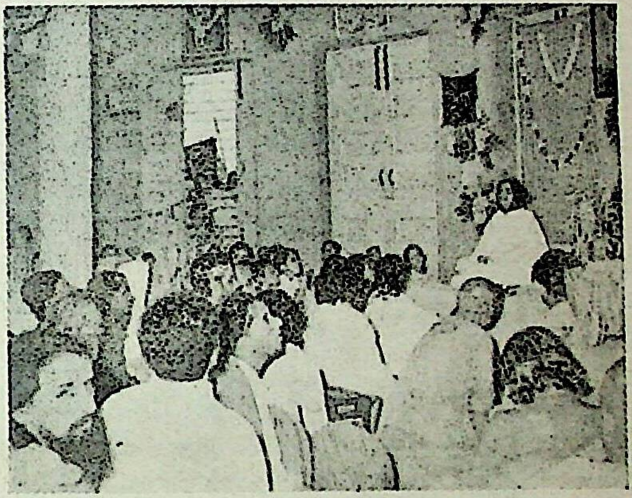

Congregational Meditation

changes into day at dawn, when day gives way to night at dusk, and also midday and midnight. Midnight is

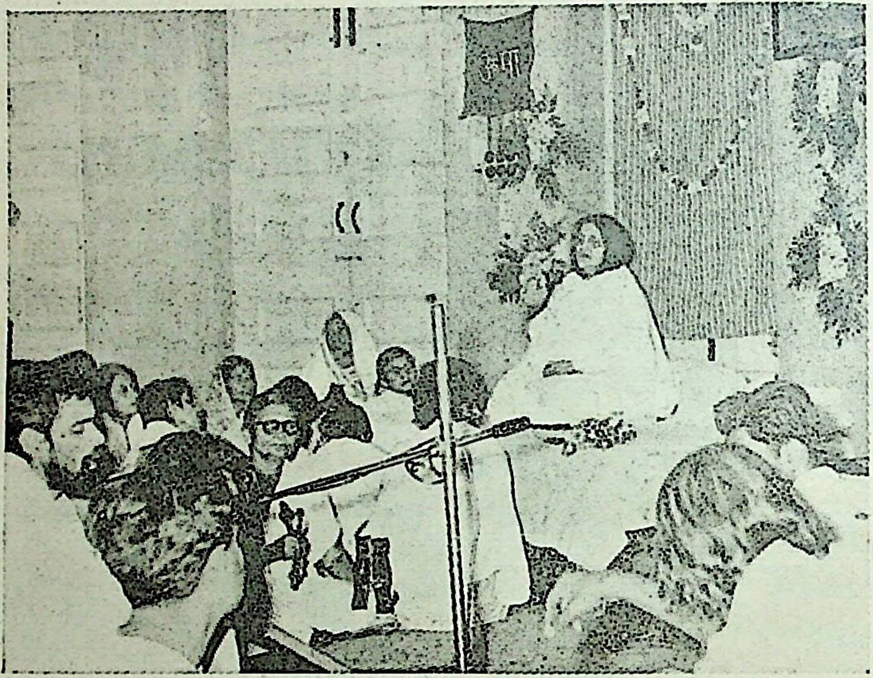

Another View of Congregational Meditation.

called '*Amrit Kala*' the hour of immortality.

Mataji also said that while '*Samyam*' (self-discipline) does not actually bring about self-realisation, since He is self-effulgent and no effort can take us to Him, yet for the purification of mind and body, self-restraint, *satsang* and the activities practised during the *Samyam Vrata* are imperative. All these combine to harmonize a human being so as to attune him to the Divine. "If you are observant," said Mataji, "you will notice that everyone here looks different from what he looked a week ago and you will also find that every Samyam Vrata seems easier than the one before and takes you a step further. The restricted diet and sleep, the life that you lead during those gatherings are an aid to meditation and self-discovery." At the end Mataji distributed a copy each of the *Bhagavad Gita*" and of the *Ramayana* to every *Vrati*.

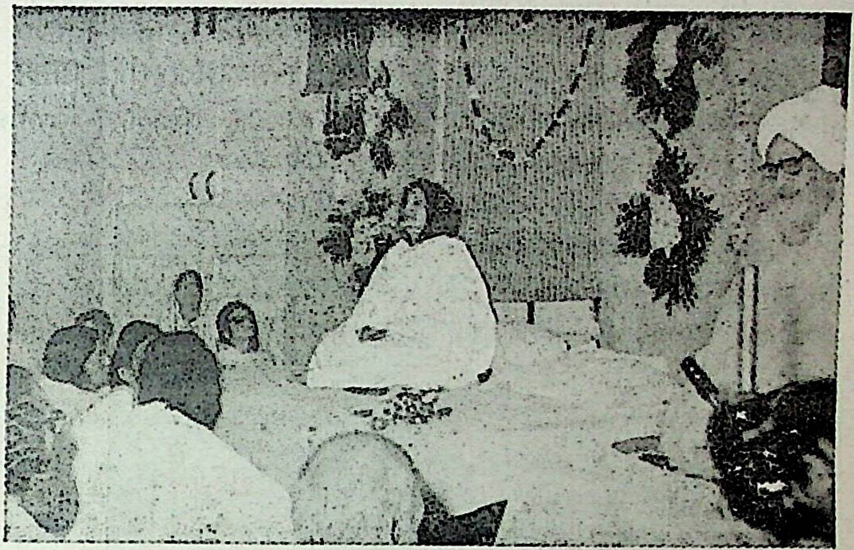

Another view of Congregational Meditation.

On Nov. 30th the Delhi Bhaktas celebrated their yearly "*Nama Yajna*" for the first time in the newly built hall. As customary the Kirtan began late in the evening and continued till sunset the next day. An altar with pictures on all four sides is erected in the centre on these occasions and the kirtan singers walk round it in solemn circumambulation in rhythm to the music. The men started and then the women took over and continued till sunrise. Mataji remained with them for sometime. It so happened that two ladies from California were present and so they also joined. They were visibly impressed. One of them exclaimed with tears in her eyes: "This I can never forget in all my life. Here one has just to be oneself and forget everything else. How wonderful.!"

Mataji stayed at the Delhi Ashram until December 16th. From December 9th the whole of the *Ramayana* was read by groups in turns, day and night. During the later part of Her sojourn Mataji followed the invitations of quite a number of bhaktas and visited their homes, although she does not enter the actual house of a *Grihastha*. From Delhi she proceeded to Vrindaban for a very short visit. On the 20th She passed through Delhi again, halting only for a few hours. Spending the night in Modinagar she reached Dehradun on December 21st. There she stayed quietly at the small cottage at "*Kalyanvan*" in Kishenpur. It was a restful time, although she gave Darshan twice daily mostly in the open air on the terrace in front of the cottage. On December 26th she left for Hardwar and from there for Delhi the very next day. She paid a short visit to Meerut to console a devotee, whose husband had died suddenly, and then went on to Etawah, where she remained for 6 days. Some devotees are eager to start an Ashram in that town. A plot of land has already been acquired for this purpose and now a building is to be put up.

On January 4th, 1958 Mataji was back at Hardwar. From there she motored to *Ananda Kashi* near *Vasistha Gupha* a solitary place of extreme natural beauty on the banks of the Ganges although quite cold in January.

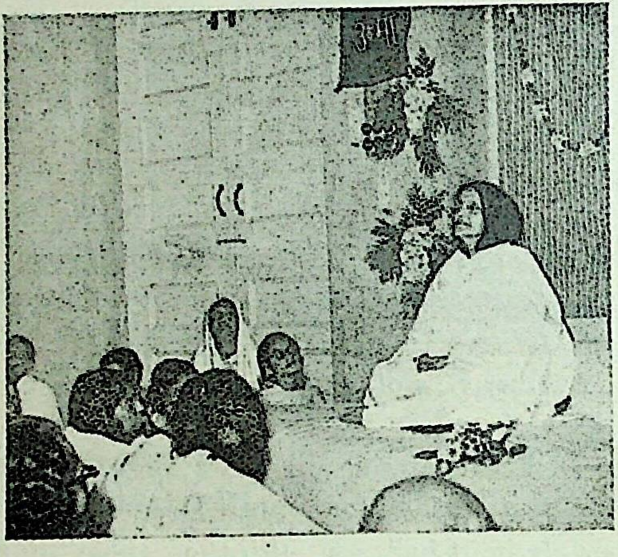

Another view of Congregational Meditation.

MOTHER'S PHYSICAL ASPECT

Vijayanand (Dr. A. Weintrob).

The physical aspect through which the inscrutable Power that we call Sri Sri Anandamayee Ma manifests Itself, is only a tiny part of It, and probably not the most important. Mother has frequently repeated that She is all-pervading, that She never goes, nor comes anywhere, that She was never born and so on. Thus, it is evident that She is not the physical body, which seems to be only an instrument, representing the link between us and the Divine Power: Mother's physical frame, although looking apparently as one of us, is in essence completely different. It is an APRAKRITA, supernatural manifestation which has not come according to natural laws, and is not subject to them.

In her early life, Mother has on many occasions shown Her independence where natural laws are concerned. All Her devotees have read or heard about the shrinking of Her body so as to look like a small heap and its becoming unnaturally big at other times. For long periods Mother could stay without food or with a very tiny quantity of food or water without any change in Her physical aspect; pain of any kind does not seem to affect Her in the least. On many instances the laws of gravity appeared to have lost their validity with regard to the body. As for example the body becoming as light as a feather or revolving at an extraordinary speed like a dead leaf carried along by the wind. All these things I have not witnessed but only heard or read about. But surely, the most amazing thing I find, is that She behaves in our natural way as an ordinary person. It is very difficult for those who are under the sway of natural laws, to reach a stage where one is able to reverse these laws and be their master to a certain extent. Much more difficult is it to ignore nature completely and identify oneself with the Eternal Witness, unruffled by earthly troubles. But extremely rare are those sages for whom there is no difference between the highest states of illumination and ordinary life; for them the Supreme is revealed even in what we call the trivialities of daily life. A fixed span of life has been alloted for the life of every human being including the 'JIVAN-MUKTA'. The duration of the body is subject to 'PRARABDHA'. Not so in Mother's case: She is free to leave the body at any moment or to keep it for the whole KALPA if this be Her 'KHEYAL'. But Mother has no desire to act in one way or another. It is the yearning of Her devotees which keeps Her, through the fetters of Her own infinite love just as an affectionate mother is bound by the cries of her baby, who although helpless is nevertheless all-powerful because of his mother's love.

Some people may ask : What is the use of such a limiting ad unct as a physical body, if Mother's Power is all-pervading beyond space and time and as many people have experienced, helping as well when near-by as when far off, no matter at what distance ? Besides would not the attachment which so many people feel for Mother's physical presence be delusive, a kind of 'MOHA' ? First of all, let me answer that people who are to ally free from every kind of attachment, who are 'NIRMOHA', are in fact realised sages. For all other, attachment to such a Being as Mother is the highest possible attachment on earth, and will burn in due time all other kinds of MOHA. "By MOHA for this body (meaning Herself) all other kinds of MOHA will vanish" have I once heard Mother say. *

Now a Divine Incarnation is of tremendous benefit to all embodied beings. This help manifests itself in many ways. I shall write only about a few of these of which, from my limited angle of vision I have been able to get a glimpse. I don't intend to speak here of Her main function self-evident to everybody, that is to say Her enlightening words on spiritual topics, Her guidance and precious advices to SADHAKAS, neither of Her action as a GURU, which does not depend on Her physical frame. But only of some other aspects not so apparent, although of great inportance.

In the realm of the 'AHAMKARA', the ego, where almost all of us are living, there is no real love. What is nearest to love known to 'AHAMKARA' is 'MOHA', attachment. Real love would presuppose the ego's dissolution, its end. The root of all its actions is the instinct of preservation. All its thoughts revolve round the protection of its body and its welfare. In order to free oneself from the clutches of this ego, one has first to resist its tendencies and for this purpose cultivate the pure qualities, the DAIVI SAMPAT.

We have all read in books about SATYA, AHIMSA, etc., and listened to much talk and good advices about these. But to actually see these quali-

---

* When I quote Mother's words I give only the meaning as far as I remember and have been able to understand and not Her exact words.

ties in a living being expressed in the details of his daily life, is surely quite another thing. Through Mother's physical frame, all these qualities shine to their utmost perfection. If it were not so why would so many people be attracted by Her ?

How rare it is to come across somebody completely free from any kind of fear: ABHAYAM is indeed only possible when one does not anymore perceive anything different from one's own self. Even the Gods are subject to fear ! Through fear Agni burns, etc. says the UPANISHAD. For about seven years I have had the good fortune of living under Mother's guidance, I have never been able to detect in Her features the slightest trace of fear. What a joy it is to admire such a countenance !

AHIMSA, non-injury to any living being is more common. Mother shows us by Her own example how it can be practised in daily life and brought to perfection. Not to kill any living being is a self-evident duty for a Sadhaka. But not to cause harm to anybody, be it through words, action or abstention from action, even by one's mere presence or in thought, is certainly much more difficult.

On innumerable occasions we have witnessed with what delicacy Mother behaves in order to avoid causing the least harm or offence through Her own person or through that of a devotee. Even dogs must not be harmed. I remember once in Solon having seen Mother changing the usual path of Her evening stroll in order that a dog lying on Her way may not be disturbed. One day an attendant who had chased away the animal was rebuked : "Why do you chase it away ?" said Mother, "it enjoys the cool earth." On several occasions BRAHMACHARIS who had beaten, or even intended to beat a dog were requested by Mother to do 'PRANAM' to the animal, in order to ask forgiveness from the lord dwelling in the dog.

SATYAM, truthfulness I have heard Mother say, means, not to utter any lie, be it in words, by signs or by abstention from words. She added that if one could practise such truthfulness for a period of twelve years, whatever one uttered would become true. Mother lays great stress on the importance of speaking the truth under all circumstances. Needless to say that She Herself gives us a living example of how SATYAM can be brought to its utmost perfection. Apart from Her Almighty Power, this alone would suffice to make all Her utterances come true.

As to *Akrodha*-absence of anger —surely there is no need to say that Mother never gets angry. Not even the slightest sign of irritation or impatience can ever be detected in Her.

Mother comes in contact with hundreds and thousands of people of all kinds of temperaments and social levels. It naturally happens from time to time that some people behave in a manner lacking in courtesy or that they utter words one wouldn't expect to hear in the presence of such a great Being. But the cruder these people's conduct, the more radiantly Mother smiles and the more She responds with kindness and love. She frequently gives to such offenders greater attention than to other people. It looks as if She behaves as a good doctor who takes better care of patients who are severely ill than of those suffering only from slight cough or cold. As everybody knows, Mother does not deliver discourses or lectures; but She replies to questions that are asked on spiritual topics. Most people listen with rapt attention to the words of Divine Wisdom falling from Her lips. But sometimes people, giving way to their urge to speak, interrupt Mother's talk by remarks of their own or some silly question. Mother, not only does not rebuke them, but She never shows the slightest sign of impatience. She generally cuts short Her own explanation and after hearing with interest and a loving smile the words of the foolish interrupter, tries to clear up his doubts with infinite patience and love, which surely are not to be found in any human teacher.

What else should I say about the divine qualities revealed through Mother's physical frame, this embodiment of Wisdom and Love. "pure like the sun" ? If I continue, there will be no end of writing.

(2)

The path of Sadhana is indeed not an easy one; "like the edge of razor", say the sages. The main difficulty lies in the fact that the right way is very hard to find and much more to keep to, while false views or half truths are often easy and attractive. Naturally it happens frequently that the mind of the *Sadhaka* goes astray. Of course he can always ask Mother's advice. But frequently he is not aware of the fact that he has gone in a wrong direction. Furthermore there are many things that cannot be explained in words. But there is some special quality of Mother's physical presence. The shadows of the night do not persist before the rising sun. By Her mere presence many people have found their mental problems solved. The despondent person regains confidence in himself; he who is afraid finds renewed courage to face the battle; another one whose mind has been tainted by worldliness becomes purified as after a bath in the Divine Ganges; someone else stagnant due to lack of energy feels the impulse of an unnatural increase of power; sometimes an obstacle on the path melts like ice before the sun. What was crooked becomes straight, confusion is cleared up, impurities are washed away. Such is the Power radiating from Her Physical Presence.

(3)

The results of our previous actions, our '*Karma Phal*', sometimes get in the way and block the road to further progress, or if the road is not completely obstructed, the progress becomes very slow as that of a horse-carriage advancing with great difficulty due to excess of load. Sometimes we are able to overcome the *Karmic* obstacles by our own effort. But frequently the task is too great for us, and stagnation or even a downfall might become our fate if Mother's Divine Grace did not intervene.

Mother's physical frame has, as stated above, not come into existence due to '*Prarabdha Karma*', nor is it subject to it. She is able, if She so wishes, to use Her body for the purpose of absorbing part of the *Karma* of others. The fatality of *Karma* does not lie in the totality of the favourable or unfavourable circumstances, to which we are subjected. In all circumstances there is a central kernel which consists in the change of the *Pranic* vibration and manifests fundamentally as pleasure or pain. The outer conditions and our mental reactions, that is to say, the whole *Nama-Rupa* are illusory and depend mainly on our belief in their reality. He who knows this, and has fully mastered it, can reduce the *Karmic* effects to their minimum, that is to say, to some temporary physical or *Pranic* disease. We of course are not able to do this. But Mother. can—and also far beyond this, where our imagination cannot reach. Mother being egoless, can identify Herself with anybody, and take away from him part of the *Karma* he would have to suffer according to the natural laws. As said above, the root of the *Karmic* effect lies in the Pranic vibration. As in the case of Mother there is no *Ahamkar* to brood around it and make of it a huge affair (as usually happens with us), the Nama-Rupa is reduced or translated according to the case, to a disorder in the subtle body, or if the *Karma* is heavy to a physical indisposition or illness, This, it seems to me, is one of the main reasons why Mother gets ill from time to time. I have no doubt that, when we behave or think in an unworthy manner the reaction is felt in Mother's health.

(4)

A Sadhaka, if he wants to succeed must become '*Nihsanga*', free from all human attachment. The attachment we feel for our relatives and friends must be replaced by an equal sympathy for all living beings. At first consideration this may look fairly easy. But we soon become aware of how powerful the emotional part of our personality is, and that its root lies very deep in our subconscious mind. In fact the emotional nature has not to be destroyed, but must be directed in a proper way. It then becomes a help to our spiritual ascent. To understand that this emotional urge is nothing but our yearning to get back to the natural state, our Real Nature, is surely the highest kind of *Bhakti*. But only a very few are able to sustain this attitude of mind. Most *Sadhakas* require an outer object for their devotion, that is to say a name or form as a symbol of the Eternal One.

The *Ishta-Deva* and the *Guru* are of course excellent objects of devotion. A great number of Mother's devotees regard Her as an embodiment of their *Ishta* or as their *Guru*, and worship Her in that spirit.

Westerners and Westernised minds are very reluctant to tolerate the worship of a living sage or saint. The reason is, it seems to me, a misunderstanding around the word "devotion". In almost all Western religions, GOD is worshipped as a perfect Being, eternally different from the individual soul. The attitude of the devotee, is of course, that of love, but also of veneration mixed with more or less awe. But in India it is quite different. Almost all the orthodox schools hold that the individual soul is of the same nature as GOD. Even the hardest *Dwaitist* agrees that GOD, the '*Antaryamin*' abides in the heart of all beings, that He is nearer to us than our own ego. The consequence is a devotion without awe or fear, almost as intimate as for one's own father and mother. Moreover, the educated Hindu understands that devotion to the Personal Aspect is only a temporary stage, a stepping stone which will ultimately enable him to realise the Oneness of All. If taken in this spirit, any symbol may lead to the Goal. However it seems to me, that a realised sage, the embodiment of Divine Consciousness, is the most appropriate object of worship, if such an object is required.

I must say that Mother does not at all encourage the worship of Her physical frame. On several occasions I witnessed how She diverted a *Puja* of this kind trying to awaken the understanding that the object to be worshipped is the ONE residing in the hearts of all. Mother lives in the "*Yatra Naanyat Pashyati*' ! where one does not behold anything but the One Self where there is neither a worshipper nor any object of worship. But from our point of view, whatever we think She is, She will actually be for us (as She Herself has pointed out on many occasions). As pure gold canbe shaped in any form, but ever remains the same gold, so the Divine Consciousness, manifesting Itself through Mother's body, can be thought of in any form, without ever losing its Primeval Aspect. In whatever way our relationship with Mother may begin, it will lead us sooner or later to the Realization of THAT which IS.

A few months ago, in Dehradun, some of us feared that Mother might leave Her physical frame. She is free to do so, or to keep it for any length of time. May She, in Her boundless compassion, keep the flame of life in this gross manifestation of Her for a long time. May all Her children offer to this flame only the pure oblations it demands. Stainless and unselfish devotion, pure action and thinking, intense yearning for the Divine.

MOTHER : THE MESSENGER OF CERTAINTY

Madan Mohan Verma

A pertinent question was raised by some brothers at the *Satsang* during the recent 'Sanyam Saptah' held in Delhi. It might have been partly in a lighter vein; but beneath it was clearly perceivable a hidden doubt, perhaps in some cases amounting to despair, as to why we are not making more rapid spiritual progress even when blessed by a spiritual guide of the stature of MOTHER ANANDAMAYEE or other Saints and Sages of high order. The question was shaped in a plausible garb, just as the discoveries and achievements of great scientists, attained by them at much cost to themselves, are made available to the people at large at small cost to alleviate their suffering and to promote human happiness-e.g. the X-ray, the Wireless, the Radio, Medical remedies like penicillin and other drugs, etc. etc.-why are not the spiritual attainments and discoveries of the Saints and Sages of humanity similarly useful to us in making our spiritual growth quick and easy ?

I am conscious that for me to take up this theme for this short article is "to rush in where angels fear to tread". Yet I feel that it would be cowardly not to share my thoughts with brother-seekers and to bear witness to such little confidence as is vouchsafed even to a beginner like me by the Merciful *Sad Guru.*

First of all, a purely objective study and observation of the story of man's spiritual achievements in the past ages would reveal that it was by hard and prolonged *tapasya* that the ancient *sadhakas* were able to lift the least corner of the veil. The austerities that the ancients had to resort to, not only in India but also in other lands, for God-realization, fill many books of occultism, mysticism, and *yoga*. It is due to the pains taken by some of our forefathers that it has become comparatively so easy for us even to understand the true meaning and import of profound spiritual verities, which used to be a guarded secret for the 'initiates' in olden times. One had to undergo ever so many ordeals to be an *adhikari* to be admitted to sanctuaries of spiritual thought and practices. Today, thanks to all our Elder Brethren of the Spirit, most of those treasures are laid bare before the whole of humanity for such souls as are willing to tread the path, desirous of 'Return Journey'. Mahatmas tell us that by sheer *Japa* of the Divine Name, by sheer discharge of duty and service of fellow-beings in His Name, or by sheer surrender to Him "as we are" (i.e. with all our aults and shortcomings)—nay, even by sheer *Satsang*—we would find God. Many men and women have borne witness to the truth of these assurances, thanks to the limitless Love and Compassion of the Lord.

The obstacles and difficulties in the way of God-Realization are in reality due to our desiring worldly objects *through* God. God, in His Love, grants these too in so far as they do not obstruct the devotee's spiritual progress. Yet, when the devotee, blinded by age-long attachment, goes on and on asking for the illusory and the ephemeral, God who is his Supreme Well-wisher, says 'No', so as to make him pause and turn back from the ungodly. As soon as he does that, and his desires at last fuse into one single desire to realise God, that single desire or aspiration by itself illumines the path of the devotee. Would we but once turn our gaze from all our fleeting objects of desire and so-called dear ones to the Supreme Giver of these !

Then, the Medical remedies-penicillin and other 'tablets"—discovered by medical science that are our common heritage, help to effect cures for those who are patients of the diseases concerned and longing to be cured, take the remedy. They are not 'thrust' on all and sundry. Further, they are only palliative, they are no substitute for good health, which rests on its own laws ; and in fact good health is not had by drugs. The increasing number of "beds" in hospitals is no index of the health of the people. New palliatives, new diseases ! Indeed, man would seem to be prey to unending diseases when his vitality is sapped, however long the list of wonderful drugs being released by medical science. Good health exacts its price of good living, in consonance with the laws of good health. Same is true of spiritual health and its *Sadhana* on any of the well-known paths.

At any rate, all the multifarious inventions and discoveries of science have not necessarily made mankind more happy. The technological gifts of science may have made the world one single physical neighbourhood, but of what value is it when the hearts of men have built up walls of separation and are not neighbourly ! And so on.

On the other hand, it seems to me that not only the Saints and Sages are like 'light-houses' in the stormy sea of our world, but by their very attainment they have made a 'receptacle' on the plane of man's consciousness which makes it easier for the whole of mankind to share and receive Divine Grace ; or, say, they have built a bridge between human consciousness and Divine Consciousness which makes the path of the devotee or the *Jijnasu* easier. To take another example, the very presence of good Professors in a University at least infects earnest students with love of learning and creates an environment which facilitates the student's progress. Or even an arduous pilgrimage becomes easy in the wake or company of our fore-runners who have traversed the thorny path and removed the thorns from the path for our benefit. Above all, Saints and Sages give us a vision of that "fourth dimension" of Reality, for which the human heart would seem to have been throbbing in its long-drawn agony.

But, to those who have had the good fortune of coming into contact with a *Jivan Mukta* Saint or Sage, not to say of our Divine Mother, no such thesis should be necessary. Have they not already caught a glimpse of the Divine, felt *Some* touch of the Rock of the Ages, the Messenger of Certainty? Let us not under-value our precious possession, only because we have obtained it cheap! Otherwise, we only pay lip homage to the *Sad Guru*, the Master, or to our Divine Mother. Even as the ascent from the animal to MAN is the high-watermark of evolution, so is the finding of the *Sad Guru*, the Master, or The MOTHER, a new and high landmark in human evolution, a veritable descent of the Divine in man.

A child is misled and loses his way in a busy thoroughfare. After a long and painful separation from his parents, the parents suddenly appear before his sight. What follows?

A filth-laden calf rests unashamed in the lap of its mother cow, who licks up all its filth.

A wage-earner, however exalted, labours hard for bread, then gets his wages. A child prince, by virtue of his very *Kinship* with his father, the King, succeeds to the Throne.

Maharshi Raman once said that the Grace of the *Sad Guru* is like a tiger's jaw; it does not spare the devotee who has received the Grace. "There is no difference between God, the Guru and the Self. God, who is Immanent, in His Grace takes pity on the loving devotee and manifests Himself according to the devotee's development. The devotee thinks that he is a man and expects a relationship between the two physical bodies. But the Guru, who is God or the Self incarnate, works from within....Thus, the Guru is both 'external' and 'internal'. From the 'exterior' He gives a push to the mind to turn inward; from the 'interior' He pulls the mind towards the Self".

Of such GURU and his technique Kabir has said :

गुरू तो वही सराहिए जो सिकलीगर होय ।
जनम जनम का मोरचा छुन में डाले धोय ॥

(Adore such Guru who is a Master Smith; and who washes off the rust of many a life in a moment).

गुरू कुम्हार सिख कुम्भ है, गढ़ गढ़ काढ़े खोट ।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर वाहै चोट ॥

(The Guru is the potter and the disciple is the pot. The Guru sets right the defects of the mould of the pot by administering strokes ; but while he delivers blows from outside, he sustains the pot with his own hand from inside).

Questioned by a devotee who was agitated and worried about his salvation, Maharshi Raman said : Why do you worry ? Many a small boat, attached to a big ship, steer across by themselves. To another who claimed to have chosen the path of "self-surrender" (*bhakti*) but protested against his slow progress, he remarked "If you have surrendered yourself to the Master, who are you to measure whether you are making spiritual progress or not. Leave that too to The Master."

"A wise gardener, having sown the seeds, would not unearth them again to see if they are growing," says Swami Sharanananda.

One "insures" one's life over a term of 25 or 30 years. He gets the sum after that long period, but on the very date of having insured, one has a feeling of *Certainty* of provision for old age, in spite of uncertainties attaching to Insurance Companies and to life itself. Shall one trust Insurance in the Divine Feet less ?

"The *Sad Guru* is One, and is Immanent", thus spoke Maharshi RAMAN. "The Guru is *Vyapak*", says Ma Anandmayee ; and "When the status of the Guru becomes revealed to one, one understands that it has little to do with any *Person* ; the Guru is none else but the World-Teacher. My Guru exists in many forms as the Guru of each and everyone, and everyone else's Guru is in fact my Guru—now you see how the Guru is One". "The *Guru-Tattwa* is one", says Swami Sharnananda ; and it is Immanent, though explains he, "as does the flower, by virtue of its *Sartwik* quality, emanate the perfume that in fact pervades the seed as well as the entire tree, so does the personified *Sad Guru* bring Light and Life to us".

So, whoever has appeared to a devotee as Guru or *Ishta* is One—and one with our MOTHER.

Now is the time not to wrangle what we shall attain *Through*

Mother—Sad Guru Par Excellence—but to thank Her that we have found all when we have found Her. What is there to be afraid of now? Hell? Let us dare it! Says C. Jinarajadasa: "Could we but know that He is by our side when we suffer, we would gladly bear all pain; there is no pain to the Crucified who sees Him as he lies on the Cross".

That is why, after ever so many wanderings in the wilderness, even the writer of these lines—the last and the unworthiest on the 'que' of devotees—has once for all found deep solace in surrendering himself—such as he be: filthy, in filthy rags; too faint-hearted for the path of *Yoga* or *Jnana* and too feeble for the path of action—to the Feet of the Divine Alchemist, our MOTHER. He could do nothing more except to *Cling* to Her Feet. A lot of Karma may yet be awaiting its revenge on him: there may be much pain and suffering in store to visit him—but he just clings, and would cling and cling all the thicker to Her Feet, till She, weary of his weariness, in Her Compassion lifts him up to Her Lap. JAI MA:

The Unkown Life of Jesus Christ

Sri U. C. Dutt.

From the bible and other literary sources of the Church nothing is known about the early life of Jesus for a period of 16 years from his 14th to the 29th year. St. Luke says: "He was in the desert till the day of his shewing unto Israel". It proves that none knew where the young Jesus had gone to re-appear suddenly sixteen years later.

The unknown life of Jesus Christ written by Nicholas Notovitch, a Russian traveller and translated from the French into English by Alexina Loranger (Indo-American Book Company, Chicago, U.S.A.) throws much light on this unknown period.

Nicholas Notovitch writes in the introduction of the book: "After the close of the Turko-Russian war (1877-1878) I took a series of extended Journey through the Orient. Having visited all points of interest in the Balkan Peninsula, I crossed the Caucasian Mountains into Central Asia and Persia and finally, in 1887, made an excursion into India the most admired country of the dreams of my childhood.

× × ×

In the course of my visits to a Buddhist convent, I learned from the Chief Lama that there existed very ancient memoirs, treating of the life of Christ and of the nations of the Occident, in the archives of Lassa, and that a few of the larger monasteries possessed copies and translations of these precious chronicles.

× × ×

During my sojourn in Leh, the capital of Ladak, I visited Himis, a large convent in the outskirts of the city, where I was informed by the Lama that the monastic libraries contained a few copies of the manuscript in question..........................I took advantage of my short stay among these monks to obtain the privilege of seeing the manuscripts relating to Christ. With the aid of my interpreter, who translated from the Thibetan tongue, I carefully transcribed the verses as they were read by the lama. Entertaining no doubt of the authenticity of this narrative, written with the utmost precision by Brahmin Historians and Buddhists of India and Nepal, my intention was to publish the translation on my return to Europe.

× × ×

The two manuscripts read to me by the Lama of the Himis Convent, were compiled from diverse copies written in the Thibetan tongue, translated from rolls (written in the Pali tongue) belonging to the Lassa library and brought from India, Nepal and Maghada two hundred years after Christ. These were placed in a Convent standing on Mount Marbour, near Lassa, where the Dalailama now resides.

After discussing various arguments for and against Jesus Christ's sojourn in India the author concludes: "It is to be supposed that Jesus Christ chose India, first, because Egypt made part of the Roman possessions at that period and then because an active trade with India had spread marvellous reports in regard to the majestic character and inconceivable riches of art and Science in that wonderful country, where the aspirations of civilized nations still tend in our own age".

Swami Abhedananda of Ram Krishna Mission went to Himis Gumpha and made a translation of the story of the unknown life of Christ through a Thebatan Lama interpreter. Both the versions of Notovitch and Swamiji have striking resemblance.

Some relevant extracts from the life of saint Issa by Nicholas Notovitch are given below to show that Jesus Christ lived in India during the unknown period of his life:

"And now the time had come which the Supreme Judge, in his boundless clemency, had chosen to incarnate himself in a human-being.

× × ×

Soon after a wonderful child was born in the land of Israel; God himself through the mouth of this child, spoke of the nothingness of the body and of the grandeur of the soul.

The parents of this new-born child were poor people, belonging by birth to a family of exalted piety, which regarded its former worldly greatness to magnify the name of the Creator and thank him for the misfortunes with which he was pleased to try them.

To reward them............God blessed the first-born of this family; he chose him as his elect, and sent him forth to raise those that had fallen into evil, and to heal them that suffered.

The Divine child, to whom was given the name of Issa, commenced even in his most tender years to speak of the one and indivisible God, exhorting the people that had strayed from the path of righteousness to repent and purify themselves of the sins they had committed.

People came from all parts to listen and marvel at the words of wisdom that fell from his infant lips; all the Israelites united in proclaiming that the Eternal Spirit dwelt within this Child.

When Issa had attained the age of thirteen, when an Israelite should take a wife, the house in which his parents dwelt and earned their livelihood in modest labour, became a meeting place for the rich and noble, who desired to gain for a son-in-law the young Issa, already celebrated for his edifying discourses in the name of the Almighty.

It was then that Issa clandenstinely left his father's house, went out of Jerusalem, and, in company with some merchants, travelled toward Sindh, that he might perfect himself in the divine word and study the laws of the great Buddhas.

In the course of his fourteenth year, young Issa, blessed by God, journyeed beyond the Sindh and settled among the Aryas in the beloved country of God.

The fame of his name spread along the Northern Sindh. When he passed through the country of the five rivers and the Radjipoutan, the worshippers of the God Dijaine begged him to remain in their midst.

But he left the misguided admirers of Dijaine and visited Juggernaut, in the province of Orsis, where the remains of Viassa-Krichna rest, and he received a joyous welcome from the white priests of Brahma.

They taught him to read and understand the Vedas, to heal by prayer, to teach and explain the Holy Scripture, to cast out evil spirits from the body of man and give him back human semblance.

He spent six years in Juggernaut, Rajegriha, Benares, and the other holy cities ; all loved him, for Issa lived in peace with the Vaisyas and the Sudras, to whom he taught the Holy Scripture.

× × ×

Having perfectly learnt the Pali tongue, the Just Issa applied himself to the study of the sacred rolls of Soutras.

Six years later, Issa, whom the Buddha, had chosen to spread his holy word, could perfectly explain the sacred rolls.

He then left Nepal and the Himalaya mountains, descended into the valley of Rajpoutan and went westward, preaching to diverse people of the supreme perfection of man."

Swami Abhedananda read the book of Notovich in America where he lived for many years and took the trouble to go to Himis Math in order to test its genuineness. When Swamiji wanted to see the book, a lama took it from a shelf and told him that it was a copy of the original which was kept in the Marbur Math near Lassa. It was a Tebatan version of the original written in Pali. It had fourteen chapters with 224 Slokas or stanzas.

With his help Swamiji got some portion translated. It was in the year 1922.

Swami Abhedananda gives some more details thus: "Then (after Jagannath) he (Jesus) spent six years in holy places like Rajgriha, Banaras, etc. and left for Kapilvastu, the birthplace of Buddha.

There he stayed for six years, learnt Pali well and began to study the Buddhist scriptures.

× × ×

From that place he turned westward after visiting Nepal and the Himalayas ....

In course of time he reached Persia, the land of the *Zorastrian*......... . Soon his fame spread in all directions.

In this way he returned to his own country at the age of 29 and began to preach the message of peace to his *oppressed* people."

There is a tank called Issa Talab by the roadside near Kabul. On his way Jesus washed his hands and mouth there and took rest for a while. Every year a fair is held there to commemorate this event. It is recorded in Tarikh-i-ajham, an Arabic book.

The Lama said further that after Ressurection Jesus came to Kashmir and lived in a monastary with many disciples. Many devotees came from various countries to have his darshan and became his disciples. The original was written in Pali 3 or 4 years after his passing away. It was based on the oral statement of the Tebatans who saw him and the merchants who were eye-witnesses to his crucifixion by the order of the ruler of that land.

Assini was a sect of Yogis in Palestine. Arthur Lili a learned antiquarian, writes in his book, 'India in Primitive Christianity' "Jesus was an Assini and he practised austerity to realize oneness with Brahman and to receive divine blessings like the Indian Yogis".

Besides the above account the Secretary of the Buddha Society, Bombay, has referred to the travels of Jesus Christ in India :

"A recent New York despatch says that Prof. Roerich, a well-known Archaeologist, who is conducting an American expedition to Central Asia, announces that he has found manuscripts in a Buddhist monastry in Tibet describing the visit of Jesus Christ to India to study Buddhism. Jesus Christ travelled through India preaching and returned to Jerusalem when he was 29 years of age.

There are not a few scholars who think that Christianity originated from Buddhism".

Some people are of opinion that

Jesus Christ did not die of crucifixion. He was restored to life by proper treatment and nursing and came to India. Swami Abhedananda saw his grave in a place called 'Khanayari, in Kashmir. This idea is strongly supported by Swami Ram Tirtha in his lecture: "The Spiritual Power that Wins":

"Now, Christ regained his union with the Spirit before his death. You know Christ did not die when he was crucified. This is a fact which may be proved. He was in a state called Samadhi, a state when all life-functions stop, where the pulse beats not, where the blood apparently leaves the veins, where all signs of life are no more. Where the body is, as it were, crucified. Christ threw himself into that state for three days and like a Yogi came to life again; made his escape and came back to live in Kashmir. Rama had been there and found many signs of Christ having lived there; upto that time there was no Christian sect in Kashmir. There were many places called by his name, places where Christians never came. Cities called by the same names as many of the cities of Jerusalem through which Christ passed. There is standing a grave there of nearly 2000 years. It is held very sacred and called 'The grave of Eash' (Isha), WHICH IS THE NAME OF CHRIST, in Hindustani language an Eash means 'prince'. So there are many reasons to prove that He (Jesus) came to India, the same India where he learned his teaching.

Again the people of India have a kind of magic ointment, which is called the 'Christ ointment; Malam-i-Isha, and the story which the people, who prepare this ointment, tell is, that this ointment Christ used to heal his wounds after he came to life and that ointment really heals all sorts of wounds miraculously.'

From what we have read in this article the following ideas emerge:

1. Jesus Christ is an incarnation of God.

2. Like other incarnations he received education from teachers.

3. He lived in India for about 16 years and learnt Hindu and Buddhist scriptures.

4. He preached religion in India as well.

5. He came to life after crucifixion and returned to India to live in Kashmir till the end of his earthly life.

6. India was a great centre of learning and culture 2000 years back.

Jesus belonged to the Assini sect of Palestine. According to Ernest Renan, the French Savant and an authority on the life of Jesus Christ, the Assinies who taught the Jewish youths, were those who renounced the world. They were like the preceptors of Brahmanical faith. It shows the spiritual influence of the Indian saints. (Bhartiya Sanskriti by Swami Abhedananda).

The word Assini appears to be a distorted form of Ishani, i. e., one belonging to the sect of Ishan or Shiva, the God of Yoga. The word 'Isha' means 'God' or 'Lord' and 'Natha' also means 'Lord'. Jesus addressed God as 'Lord' and his disciples too call him 'Lord'. So the use of the term 'Lord' is quite significant for its probable connection with the Natha Yogis with Ishan as the object of their worship. (Swami Abhedananda in Kashmir and Tibet.)

Natha Yogi is a religious sect of India. One of the founders of the sect is Ishai Nath. His life that is found in the records of the sect is, on the whole, the same as that in the Bible. Some people think that Jesus Christ came to India during the unknown period of his life and he is no other than Ishai Nath of theN athayogi sect, (Sattar Batsar-Seventy years by Bepin Chandra Pal).

From the Life of Sri Sri Ma Anandamayi

(5)

Bajitpur.

At this time Mataji was about 22 years old. She stayed at Bajitpur with Bholanath for nearly six years. This period of six years is now looked upon as the time when Mataji manifested Herself in the role of a Sadhaka. But, as already written above, there were no radical changes in the ways of Her behaviour. As before, She performed Her household work with scrupulous care. Bholanath was a sociable person. He liked to invite people to his house. Mataji was a good cook and took great pains to prepare delicious meals for his guests. Perhaps it will not be out of place to mention here an incident which proves Mataji's culinary powers. A gentleman happened to mention in Her hearing that he had a particular dislike for radishes and could not bear to eat them in any form. After sometime Bholanath invited him to dinner. After eating a hearty meal he expressed his admiration for Mataji's cooking. He was not a little staggered to discover that he had had nothing but radishes from the beginning to the end of the meal, including the sweet pudding!

Thus we see that Mataji not only performed Her work with meticulous care but also with outstanding intelligence and a sense of humour. Even during the period of the Lila of *sadhana*, She always tried to do Her work to the best of Her ability. Sometimes the states of *samadhi* came upon Her in the midst of household work. On his return from office Bholanath often found Her lying on the kitchen floor, the food half cooked or burnt. She Herself would be as often as not scorched by kitchen fires. At such times Bholanath could do nothing for Her until She of Her own accord came back to the consciousness of the mundane world. But when roused She would quietly set about righting things that had gone wrong. It was Her custom to anticipate Pitaji's needs and provide for them beforehand. But when She was fully launched into the world of *sadhana*, it was no longer possible for Her to do so. She would be oblivious of Her surroundings for days on end. Even acute physical pain did not affect Her. When engaged in complicated yogic postures Her long black tresses often got entangled with Her limbs and Her hair torn out by the roots. During such periods all that Pitaji could do was to watch over Her and see that She came to no harm. As already written above He somehow was able to reconcile himself to this phase of Mataji's life also.

At the beginning of this period of *sadhana* at Bajitpur no one except Bholanath was privileged to witness these *kriyas*. They started quite simply. Mataji used to do *Harinama-japa* in the manner Her father had taught Her during Her childhood.

After the day's work was done, She would specially clean and sweep Her room ; not only the room, but also the area surrounding the room, till not a speck of dust was visible anywhere. Then She would burn incence till the whole atmosphere was suffused with a pure fragrance. She would then seat Herself in a corner of the room and repeat the names of the Lord. After sometime She would seem lost to the world and Her body would assume beautiful yogic postures.

Bholanath resting on his bed after his meal, would sometimes lie awake and watch Her until late into the night and at other times overcome with fatigue after the day's work, would fall asleep while Mataji sat absorbed in a world of Her own. Some of these *Yogic kriyas* he recognized for what they were, but most of them in their variety were beyond his comprehension. It was apparent to him that these motions were gone through as if they were happening to Her naturally. Mataji Herself has always said that She did not perform any yogic sadhana, but that She was merely a witness to these occurences which manifested themselves spontaneously on Her body. This is amply borne out by the fact that She had no previous knowledge of *yogic kriyas*.

Mataji used to repeat the names of Hari, for no other reason than that Her father who was a *Vaishnava* had taught Her to do so. Bholanath, a devout Shakta was at first a little perturbed by this. Ultimately he asked Her one day, "Why do you repeat the names of Hari ? We are not Vaishnavas, we are Shaktas."

Mataji said, "What then should I do ? Should I repeat the names of Shiva ?"

Considerably relieved, Pitaji agreed that She might do this.

It was all the same to Her. Besides, the *yogic kriyas* which manifested themselves on Her body did not appear to be affected by the change of names.

Generally these *kriyas* took place after nightfall but there was no definite time for them and they would occur sometimes in the day as well ; the external stimulus of nama-japa also, was not always necessary to bring them about. Some of the neighbours happened to see some of the *kriyas* through the chinks in the canework fence. The simple villagers, at a loss to account for these strange happenings and not knowing any better, thought that She had become possessed by evil spirits. Besides Mataji's person appeared somewhat also changed during the hours when She was not actually engaged in *sadhana*. She seemed remote and far away. The earstwhile popular young girl began to be shunned by Her constant companions. Her friends, puzzled and apprehensive began to avoid Her. Mataji on the other hand, was much satisfied with this change in their behaviour. Now that She was left severely alone, She had more time to devote to *sadhana*.

People however were not always content to leave Her alone. They came and advised Bholanath to consult *ojhas** to cure Her of the evil spirits. The educated among his friends advised him to consult doctors, being convinced that She was suffering from an unusual form of hysteriya. Although loth to do this, Pitaji felt rather helpless in the face of strong adverse criticism as well as sincere friendly advice. Finally he called in one or two *ojhas*. But they could not cure the 'patient.' Lastly, a man was called who was well known for his powers to expel evil spirits. When he came, Mataji was sitting in Her usual corner, seemingly oblivious of Her surroundings. The man pronounced his exorcisms and then sat down to rest and watch the effect of his performance. All of a sudden, uttering loud groans he rolled over on the floor in a spasm as if a hysterical fit. Bholanath tried to bring him round but all his efforts were in vain. Then utterly alarmed by the man's groans and writhings, he suddenly bethought himself to appeal to Mataji. Accordingly he implored Her, saying: "What have you done to him? You must make him all right again." After this the man slowly regained his consciousness. When he had fully recovered, he prostrated himself before Mataji saying to Bholanath; "She is a Devi. I was very foolish to have had the audacity to try my powers on Her."

He was naturally the last of the *ojhas* to be summoned. As far as doctors were concerned, Bholanath luckily had a friend in Sri Mahendra Nandi who in addition to being a good doctor was also a wise and highly intelligent man. After observing Mataji for sometime, he told Bholanath that She was in an exalted spiritual state and should on no account be exposed to the gaze of the vulgar. Needless to say that Bholanath was glad to follow this advice. (Perhaps it should be mentioned here that later on in Dacca, various doctors examined Her during these states of *samadhi* and were amazed to discover that there was a complete suspension of all bodily functions for hours or even days, that is, as long as the *samadhi* lasted.)

---

*Exorcists of evil spirits.

Mataji's demeanour underwent a perceptible change from the month of May 1922. She became more fully occupied with Her *sadhana*. Three months later, on the full moon night of August, Mataji all by Herself, went through the actions of a spiritual initiation (Diksha).

There were no external accessories, and She Herself was the *Guru*, *Mantra*, and *Ishta* all in one. For the next five months Her *sadhana* assumed a more concrete form. Sometimes, after pronouncing the mystic syllable *Om* She would recite *mantras*, although She had had no previous knowledge of Samskrit and mystic *mantras*. Late in night Bholanath woke up to find Her doing *japa* with Her fingers. Mataji had seen Her grandmother do Japa in this manner and now She watched Her own fingers keeping count of japa in a similar fashion.

Sitting on Her bed one night Mataji felt that Her body had become greatly enlarged and heavy. While in this state Her hand accidentally fell on Pitaji who was asleep. Pitaji woke up and in the dark mistook it for a male hand and almost raised an alarm thinking it to be that of a thief. There are many instances of strange incidents that occurred during that time. On rare occasions, Mataji Herself has related a few of these happenings. When people have expressed astonishment at the variety and wealth of Her experience She has said that what She has so far disclosed is not even the one thousandth part of what actually took place.

Referring to this period of Her life, She has further said that the question of *sadhana* did not arise for her, since there was nothing that had to be attained. It was just that for a short period the ways of *Sadhana* manifested themselves on Her body.

There was however no element of pretence or make-believe in this. For the time being She was as truly and completely a *Sadhaka* as She had been a child in Her parents' house and a housewife in Her husband's.

Mataji has said that the ways of *sadhana* by which man endeavours to attain to Self-realization, are of infinite variety and each way has innumerable aspects. All these became a living experience to Her when She played the role of a sadhaka. During this period She went through countless forms of worship, not only the various Hindu forms, but all other non-Hindu rites and ceremonies as well. In Her character of a Sadhaka the minutest detail of each faith was revealed to Her in its true significance. Needless to say that in Her incomparable catholicity, She accepts every path that can lead to God.

True to the character of a *sadhaka* Mataji does not talk of these things easily and only very seldom before the general public. But there are men and women in India and also abroad, belonging to different creeds, who can testify to Her boundless understanding of their particular problems and who have derived solace and comfort at Her feet; when weary and disheartened they have received inspiration to continue in their search after Truth.

From a few instances in Mataji's life we may get an inkling of a Vision that really knows no horizons. Some years ago, in a general *satsang* Mataji was answering questions put to Her by various members of the congregation. People who were familiar with the general trend of Her answers to typical questions were a little surprised to notice that She was branching off into unusual channels and using unusual phrases and terminologies. The difference was not so much in the quality of Her answers, as in the way of expressing them. So much so that people at a loss to follow Her thoughts desisted, thinking that She must be in one of Her cryptic and unfathomable moods. Mataji, on Her part went on elaborating Her points, giving a wealth of detail. At the end of the *satsang* two men came forward and bowed to Her saying that they were Buddhist ***Bhikshus*** who had come for Her darshan from afar. They were specially gratified to find Her elaborating on the very problem which had been exercising their minds for long. They went away convinced that Mataji had a great knowledge of the Buddhistic Scriptures, because She seemed to know the minutest details of their faith.

Once a *hatha-yogi* came to see Mataji. On being questioned by Her, he related that he along with a few close friends had started practising yoga at an early age. By and by they had become so filled with enthusiasm that they had all renounced the world in order to devote themselves fully to this way of *sadhana* They were determined to attain the goal of Self-realization, but it did not seem to have worked out that way. Although to the best of their knowledge they had done nothing but what seemed right, they had met with disastrous results. One had died young, two had fallen victims to incurable illnesses. He himself was suffering from a severe stomach disease. After 22 years of *sadhana* they did not feel that they had attained anything, rather were they feeling disillusioned and frustrated. He was weary of the whole thing and thought that it was merely habit that was holding him to the path of renunciation.

Perhaps the sincerity with which he had started had guided him at last to Mataji, because, athough he had not asked for a private audience, She Herself called him and talked to him for more than an hour. At the end of the interview the air of desolation seemed lifted from his face and he said that he had received inspiration to continue his chosen path. On being asked Mother said that She had questioned him in detail about his practises, pointed out where he had gone wrong and told him how to proceed in the right manner.

Mataji had once recited the *Namaz* in one of Her transcendental *bhavas*. A Mohammedan gentleman who happened to be present declared that he had never witnessed a more correct rendering of the *Namaz*.

Thus we see that Mataji's *sadhana* was not meant for Herself but rather for the inspiration of the *sadhakas* of the world. She practised rigorous asceticism, suffered the excruciating agony of separation from the Divine and also experienced the bliss of ultimate Realization in order to bring solace and sustenance to those who would follow the razor's edge path. To the question that She could have done this in any case, it may be answered that it has never been the way of the Divine to remain aloof from the sufferings of the world.

(To be continued)

ANANDA VARTA

CONTENTS.

Vol. V MAY 1957—FEBRUARY 1958 **No. 1 to 4**

HINDI SECTION

Page No.

1. मातृवाणी 1, 81, 161, 241
2. श्री श्री माँ की अमरवाणी— महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी-लिट् कृत व्याख्या सहित 3, 84, 163, 243
3. हम कौन हूं—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी-लिट् 8
4. मातृ-सत्संग—रघुनाथ दास गोस्वामी (कान्ति भाई) ... 26, 113, 178, 267
5. माँ को खोकर माँ को पाया—गोपाल 33, 95, 189, 263
6. अनुकम्पा धारा—श्रीचरण कमलाश्रिता ... ... 40 (a), 107, 172, 255
7. वनारस के एक डाक्टर का अनुभव ... 40 (e), 120 (a),177, 259
8. शक्ति का जागरण— महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी-लिट् ... 101
9. भक्ति साधना की एक झलक— महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी लिट् 194
10. रहस्यानुभुति की उदात्त भावना— श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, एम० ए०, डि-लिट् 198
11. कृपा और उपाय का मिलन : एक दृष्टि—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, एम० ए० डी-लिट् 277
12. माँ— श्री प्रताप उपाध्याय 277

ĀNANDA VĀRTĀ

CONTENTS (Contd.)

ENGLISH SECTION

Page No.

1. Matri Vani 41, 121, 281
2. Mataji's Amara Vani 45, 124, 201, 285
3. From the life of Sri Sri Ma Anandamayee— Dr. Bithika Mukerjee, M.A., Ph.D. 50, 151, 218, 319
4. The Fundamental Principles of Buddhism— Sri Akshaya Kumar Dutta Gupta ... 54
5. Srijut Ramdas' Letter to Dr. Weintrob ... 60
6 Mother comes, ever comes—Sri Upendra Chandra Dutta 61
7. Christmas Poem for Dear Ma—Elwood Decker ... 66
8. Ananda Varta—Dr. Rama Choudhuri 67
9. Mother Anandamayee—Sri Madan Mohan Verma 71
10. Shri Mata—Miss Monika Schlatholter 77
11. The unforgettable 'Holi' day—Sri N. Chowdhury ... 127
12. The Universality of Consciousness—Lama Angarika Govinda 135
13. Sri Mata Anandamayi & the Spiritual problem of the Age— Prof. Madan Gopal, M.A. (Alld.), D.Litt. (Oxon.) 141
14. Sixty Second Birthday of Shri Ma Anandamayee ... 157
15. Some incidents during the Birthday celebration at Ahmedabad— Vijaiananda (Dr. A. Weintrob) .... 160 (k)
16. Relativity of Perfection—Lama Angarika Govinda 208
17. Rubric for Westerners—Vijayananda (Dr. A. Weintrob) 212
18. A Divine Call—Krishnanand Pant Shastri, M.A., M.O.L. 224
19. Mother's Physical Aspect—Vijayanand (Dr. A. Weintrob) 301
20. Mother : The Messenger of Certainty—Sri Madan Mohan Verma 308
21. The unknown life of Jesus Christ—Sri U. C. Dutt 313
22. Dairy Leaves 73, 223
23. Matri Lila .... 78, [illegible]
24. Notes & Comments ... ... 80 (d), 160 (p)

List of Publications from Shree Shree Anandamayee Sangha

B 2/94, BHADAINI, VARANASI.

No.	Name of Books	Language	Author	Price
1	Matri Darshan	Bengali	Bhaiji	2 0 0
2	Matri Darshan	Hindi	,,	2 0 0
3	Matri Darshan	Gujrati	,,	2 0 0
4	Matri Darshanam	Sanskrit	,,	1 8 0
5	Mother as revealed to Me (English Version of Matri Darshan)	English	,,	2 0 0
6	Sadvani	Bengali	,,	1 0 0
7	Sadvani	Hindi	,,	1 0 0
8	Sri Sri Ma Anandamayi	Bengali I	Gurupriya Devi	2 0 0
9	Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2 0 0
10	Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2 0 0
11	Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2 0 0
12	Sri Sri Ma Anandamayi	,, V	,,	2 0 0
13	Sri Sri Ma Anandamayi	,, VI	,,	2 0 0
14	Sri Sri Ma Anandamayi	,, VII	,,	2 0 0
15	Sri Sri Ma Anandamayi	,, VIII	,,	2 0 0
16	Sri Sri Ma Anandamayi	,, IX	,,	2 0 0
17	Sri Sri Ma Anandamayi	Hindi I	,,	2 0 0
18	Sri Sri Ma Anandamayi	,, II	,,	2 0 0
19	Sri Sri Ma Anandamayi	,, III	,,	2 0 0
20	Sri Sri Ma Anandamayi	,, IV	,,	2 0 0
21	Ma Anandamayi	Hindi	Dr. Pannalal	0 5 0
22	Matri Lila Sankirtan	Bengali	,,	0 5 0
23	Matri Lila Sankirtan	Hindi	,,	2 8 0
24	Akhanda Mahayajna	Bengali	Gurupriya Devi	2 8 0
25	Akhanda Mahayajna	Hindi	,,	1 8 0
26	Ma Anandamayi Upadeshamrita	Bengali	,,	1 8 0
27	Ma Anandamayi Upadeshamrita	Hindi	,,	3 0 0
28	Mother as seen by Her Devotees	English	Devotees	2 0 0
29	Kirtan Rasaswarup	Bengali		1 8 0
30	Sanobali Mayer Katha (for children)	,,		1 0 0
31	Nandini Ma			0 8 0
32	Do			
33	Anandavarta			

PHOTOS & BLOCK PRINTS OF SRI SRI MA

1	Album (photo print)	Rs. 50/-	7	Photo Print	Rs. 1/8/-
2	,, (,,)	Rs. 30/-	8	,, ,,	Re. 1/-
3	,, (Block Print)	Rs. 1/8/-	9	,, ,,	Re. -/8/-
4	Photo Prints	Rs. 15/-	10	Marble Blocks	Rs. 5/-
5	,, ,,	Rs. 10/-	11	Block Print (Seashore)	Re. 1/-
6	,, ,,	Rs. 5/-	12	,, ,, (Chuda)	Re. 1/-